श्री गुरुजी समग्र
खंड
४

खंड १ : आदरांजलि

श्री गुरुजी का जीवन पट और महापुरुषों को दी गई श्रद्धांजलि।

खंड २ : संघ मंथन

प्रतिबंध के बाद नागपुर व उत्तरप्रदेश में दिए भाषण। सिंदी, इंदौर व ठाणे की चिंतन बैठकों में दिये गए भाषण।

खंड ३ : प्रबोधन

कार्यकर्ताओं को दिशादर्शन, बैठकें, प्रेरक पाथेय और कार्यक्रमों में दिए उद्‌बोधन।

खंड ४ : प्रशिक्षण

संघ शिक्षा वर्गों में १९३८ से १९७२ तक के बौद्धिक।

खंड ५ : समाजोद्‌बोधन

विविध संस्थाओं में दिए भाषण, विजयादशमी के बौद्धिक, उत्सवों पर दिए बौद्धिक।

खंड ६ : लेखन-कार्य

लेख, संस्थाओं की अभ्यागत–पुस्तिकाओं में अंकित अभिप्राय, पुस्तकों के लिए लिखी प्रस्तावनाएँ, छात्रकालीन पत्र, अंतिम तीन पत्र, सारगाछी आश्रम की दैनंदिनी।

श्री गुरुजी समग्र
खंड
४
प्रशिक्षण

स्वत्वाधिकार :

डा. हेडगेवार स्मारक समिति
डा. हेडगेवार भवन,
महाल, नागपुर-४४००३२

प्रकाशक :

सुरुचि प्रकाशन
देशबंधु गुप्ता मार्ग,
नई दिल्ली-११००५५
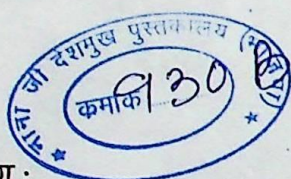
प्रथम संस्करण :

माघ कृष्ण एकादशी युगाब्द ५१०६

मुद्रक :

गोपसन्स पेपर्स लि.,
नोएडा-२०१३०१

मूल्य प्रति संच :

दो हजार रुपए
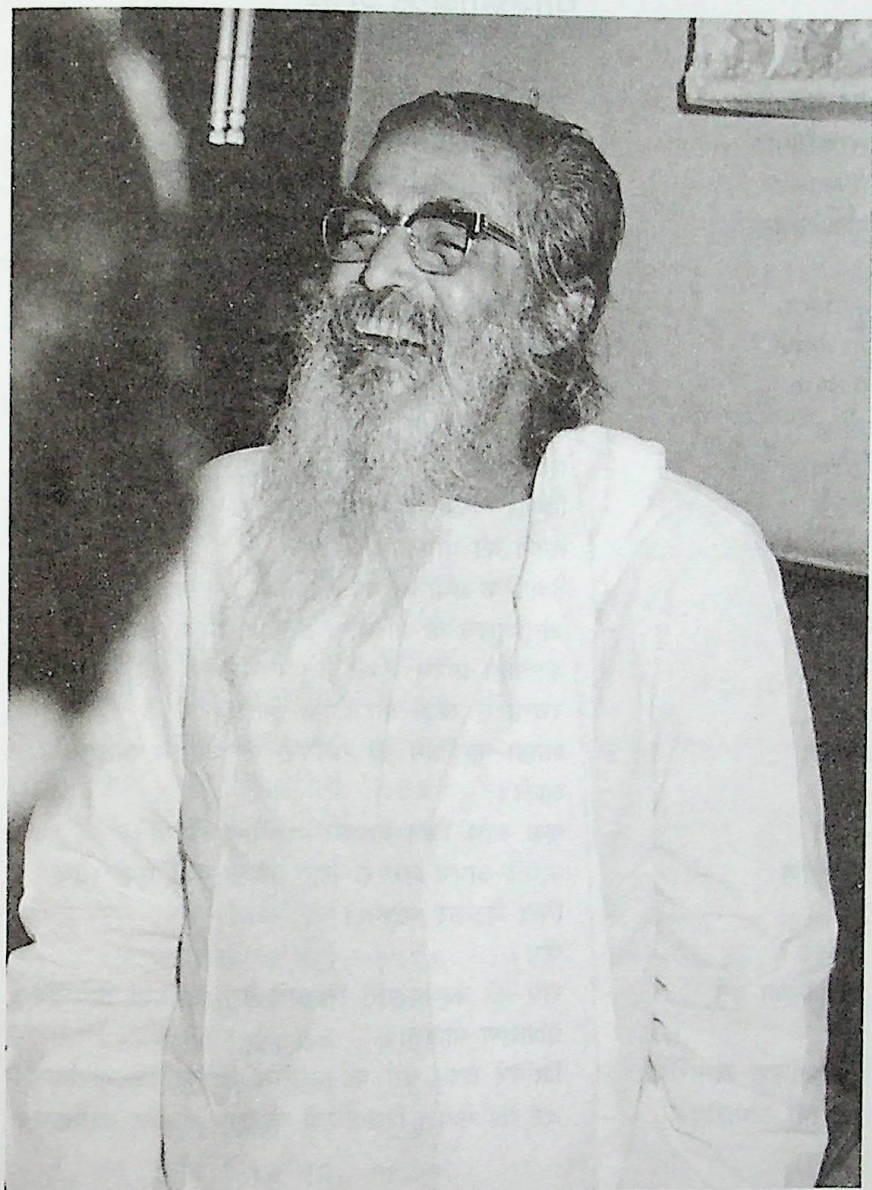
पारिभाषिक शब्द

सरसंघचालक	--	संघ के मार्गदर्शक।
सरकार्यवाह	–	संघ के निर्वाचित सर्वोच्च पदाधिकारी।
संघचालक	–	स्थानीय कार्य व कार्यकर्ताओं के पालक।
मुख्यशिक्षक	–	नित्य चलनेवाली शाखा के कार्यक्रमों को संचालित करनेवाला।
कार्यवाह	–	शाखा क्षेत्र का प्रमुख।
गटनायक	–	शाखा क्षेत्र के एक छोटे भौगोलिक भाग का प्रमुख।
प्रचारक	–	संघकार्य हेतु पूर्णतः समर्पित अवैतनिक कार्यकर्ता।
शाखा	–	संस्कार निर्माण हेतु नित्यप्रति का एकत्रीकरण।
उपशाखा	–	एक स्थान पर चलने वाली विभिन्न शाखाएँ।
बैठक	–	विचार-मंथन व सामूहिक निर्णय-प्रक्रिया हेतु एकत्र बैठने की प्रक्रिया।
बौद्धिक	–	वैचारिक प्रबोधन का कार्यक्रम, भाषण।
समता	–	अनुशासन के प्रशिक्षण हेतु शारीरिक कार्यक्रम।
संपत्	–	कार्यक्रम प्रारंभ करने हेतु स्वयंसेवकों को निश्चित रचना में खड़ा करने की आज्ञा।
विकिर	–	शाखा-कार्यक्रम की समाप्ति की अंतिम आज्ञा।
दंड	–	लाठी।
चंदन	–	एक साथ मिल-बैठकर जलपान करना।
सहभोज	–	अपने-अपने घर से लाए भोजन को एक साथ मिल-बैठकर करना।
शिविर	–	कैंप।
संघ शिक्षा वर्ग	–	संघ की कार्यपद्धति सिखाने हेतु क्रमबद्ध त्रिवर्षीय प्रशिक्षण योजना।
सार्वजनिक समारोप	–	शिविर तथा वर्ग का अंतिम सार्वजनिक कार्यक्रम।
खासगी समारोप	–	वर्ग का केवल शिक्षार्थियों के लिए दीक्षांत कार्यक्रम।

अनुक्रमणिका

खंड - ४

प्रशिक्षण

संघ कार्य व्यक्ति निर्माण का रचनात्मक कार्य है। इसलिए कार्यकर्ता निर्माण की प्रक्रिया सतत चलाने के लिए कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षित करने की नितांत आवश्यकता रहती है। संघ में प्रारंभ से ही इस प्रकार के प्रशिक्षण वर्गों का आयोजन होता रहा है। देशभर में प्रतिवर्ष होने वाले इस प्रकार के संघ शिक्षा वर्गों में श्री गुरुजी का प्रवास अनिवार्य रूप से होता ही था। उन वर्गों में प्रशिक्षार्थियों के सम्मुख श्री गुरुजी के बौद्धिक वर्गों के सारांश इस खंड में दिए गए हैं।

संघ शिक्षा वर्ग, १९३९

(शिक्षा वर्ग में दिया गया सर्वप्रथम भाषण)

एक संस्कृत सुभाषित है– 'कलौ चंडी विनायकौ।' इसका अर्थ है– कलियुग में चंडी और विनायक की उपासना करनी चाहिए। देवी की उपासना नई नहीं है। अष्टभुजा देवी और महिषासुरमर्दिनी देवियाँ सुप्रसिद्ध हैं। हिंदवी स्वराज्य के संस्थापक छत्रपति शिवाजी महाराज ने अष्टभुजा देवी की ही उपासना की थी।

एक अंग्रेजी कहावत है: The weak go to wall – इसका अर्थ है, दुर्बलों को एक ओर ढकेल कर सबल अच्छे रास्ते से चलते हैं। दुर्बल शक्तिहीन होते हैं, अतः दुनिया में सताए जाते हैं। इसलिए प्रत्येक को सुदृढ़ और शक्तिशाली बनना चाहिए। चंडी शक्ति की देवता है और लोगों की श्रद्धा है कि वह विश्व के संपूर्ण सामर्थ्य का अधिष्ठान है। ऐसी शक्तिदायिनी देवी की उपासना कर शक्ति-संपादन करना सबका कर्तव्य है।

व्यायामशाला में जाकर प्रत्येक व्यक्ति स्वयं शक्तिमान हो सकता है, परंतु इस व्यक्तिगत शक्ति का समाज को बहुत लाभ नहीं होता। व्यक्ति के स्वास्थ्य के साथ समाज का स्वास्थ्य भी सुदृढ़ होना चाहिए। समाज के स्वास्थ्य पर व्यक्ति का स्वास्थ्य निर्भर करता है। समाज विशृंखल हो तो व्यक्ति भी व्यवस्थित नहीं रह सकता। इसलिए केवल वैयक्तिक शक्ति का विचार करने से काम नहीं चलेगा। हमें समाज को बलसंपन्न बनाना है। एक सुभाषित है– 'संघ शक्तिः कलौ युगे।' अर्थात् समाज की शक्ति संगठन में है। जब एक विचार, एक लक्ष्य और एक संकल्प से काम करनेवाले लोग एकत्र आते हैं, तब समझा जाता है कि वे संगठित हैं। ऐसे एकीकरण में जो शक्ति रहती है, वह निश्चय ही अनेक मल्लों की शक्ति से अधिक होती है। प्रत्येक व्यक्ति अपना-अपना विचार करने लगे, तो

उससे समाज का भला होने वाला नहीं है। यदि वे व्यक्ति संगठित हुए और उन्होंने समाज-कल्याण का ध्येय अपने सामने रखा, तो उस संगठित शक्ति का मुकाबला करना बड़ों-बड़ों को भी संभव नहीं होता। सर्व विदित कथा है कि एक वृद्ध पिता ने अपने पुत्रों को मिलकर रहने की शिक्षा देते हुए कहा था कि सूखी लकड़ियाँ अलग-अलग रहने पर आसानी से टूटती है, परंतु वही एकत्र बँधी अवस्था में कदापि नहीं टूटतीं।

हमने अपने संघ का नाम 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ' रखा है। परंतु हमें जिस राष्ट्र की सेवा करनी है, उसका स्वरूप क्या है, यह हमें पहले समझ लेना चाहिए। इसके लिए दूसरे देवता याने विनायक की उपासना करना आवश्यक है। विनायक को 'गणेश' या 'गणपति' कहते हैं। गणपति बुद्धिदेवता और गणाधिपति हैं। अतः उनकी सेवा कर 'राष्ट्रीय' शब्द का अर्थ समझ लेना चाहिए।

पाश्चात्य विद्वानों ने किसी भी समाज को 'राष्ट्र' संज्ञा का पात्र बनने के लिए तीन बातों की अनिवार्यता मानी है– १. निश्चित भौगोलिक इकाई, २. एक परंपरा और ३. एक आकांक्षा। इन तीन बातों की कसौटी पर हमें देखना है कि क्या हिंदुस्थान एक राष्ट्र है? और यदि है तो वह किसका राष्ट्र है?

यदि ऐसे लोग, जिनका अपना देश नहीं है, परंतु जिनकी अपनी श्रेष्ठ संस्कृति है, एकत्र आते हैं तो भी उनका राष्ट्र नहीं बनता है। पारसी और यहूदी लोगों के उदाहरण से यह बात स्वयं स्पष्ट है। अत्यंत धनवान यहूदी लोगों का अपना देश न होने से उनका राष्ट्र है, यह नहीं कहा जा सकता। पारसियों को स्वयं के देश ईरान में स्थान न होने के कारण उनका राष्ट्र अस्तित्व में नहीं है। हिंदुओं का एक देश है, जो तीन ओर से समुद्र से घिरा हुआ आसेतु हिमाचल फैला हुआ है। दुनिया स्पष्ट रूप से जानती है कि यहाँ हिंदुओं के पूर्वज रहते थे। अब भी उन्हीं के वंशज रहते हैं।

महायुद्ध के पूर्व यह धारणा थी कि 'राष्ट्र' संज्ञा प्राप्त होने के लिए चार बातें आवश्यक हैं– एक वंश, एक उपासना पद्धति अथवा संप्रदाय, एक संस्कृति और एक भाषा। परंतु महायुद्ध के बाद अनेक राष्ट्रों की पुनर्रचना होने पर राष्ट्र-संकल्पना में 'एक परंपरा' को महत्त्व प्राप्त हुआ। 'एक परंपरा' शब्द प्रयोग अधिक व्यापक अर्थ प्रकट करता है। किसी समाज पर समान संस्कार होने से उसके मन की बनावट एक विशिष्ट

प्रकार की होती है। विस्तृत भू-भाग पर रहनेवाले व्यक्ति-व्यक्ति के आचार-विचार में थोड़ा-बहुत भिन्नत्व दिखाई दे, तब भी बहुत-सी बातों में समानता रहती है। उन्हीं बातों से उस समाज की संस्कृति प्रकट होती है। ऐसी घटनाएँ और व्यक्ति, जिनके प्रति सभी के मन में आदर भाव रहता है तथा जिनके कारण उस समाज का संपूर्ण इतिहास व परंपरा आँखों के सामने प्रकट होती है, उससे संस्कृति निर्माण होती है।

जब कोई समाज प्रगति करता है, तब व्यक्ति-व्यक्ति के मन पर समान संस्कार होते हैं। उनके मनों में अपनी वर्तमान दशा में उचित परिवर्तन लाने के लिए एक ही तरह के विचार उत्पन्न होते हैं। उनकी राष्ट्रोन्नति की कल्पना एक ही रहती है। विस्तीर्ण भू-भाग के कारण विभिन्न भागों में रहनेवाले लोगों की आकांक्षाएँ भिन्न-भिन्न रहने पर उस समाज का एक राष्ट्र कदापि नहीं बन सकेगा। इन सारी कसौटियों पर परखने से यह स्पष्ट होता है कि इस देश में अनादिकाल से रहता आया समाज, हिंदू समाज है। इसी कारण इस भूमि को 'हिंदुस्थान' कहा जाता है और वही यहाँ का राष्ट्रीय है। लेकिन आज हम अपना राष्ट्रीयत्व भूल गए है। हमारी विस्मृति का लाभ उठाकर दुनिया के अन्य राष्ट्र अपना स्वार्थ सिद्ध कर रहे हैं।

हिंदुस्थान का इतिहास अति प्राचीन है। यहाँ सदैव हिंदुओं का ही साम्राज्य रहा है। इस देश पर जो विपदाएँ आईं, उन्हें हिंदुओं ने ही सहा और उन्होंने ही सभी संकटों से अपनी प्राणप्रिय संस्कृति की रक्षा की। अन्य समाज इस देश में अभी-अभी आए हैं और वे भी आक्रामक के रूप में। हिंदुओं ने ही समय-समय पर उनके आक्रमणों का डटकर मुकबला कर अपनी रक्षा की। आज जो इतिहास पढ़ाया जाता है, उसका उद्देश्य हमें अपने सत्य स्वरूप का विस्मरण कराना है। सहस्रों वर्षों का प्राचीन वैभवशाली इतिहास छोड़कर आज हमें मुगल और ब्रिटिश इतिहास पढ़ाया जाता है। परंतु उसके पूर्व एशिया मायनर से हिंदुस्थान तक विस्तृत हिंदू साम्राज्य था और हिंदू प्रचारक सब दूर अपने धर्म का प्रचार करते हुए मुक्त संचार करते थे।

हम स्पष्टरूप से अनुभव करते हैं कि हिंदुओं की एक ही आकांक्षा है कि हिंदुस्थान स्वतंत्र हो। हम देखते हैं कि हिंदुस्थान के विभिन्न आक्रामक समाज किस उद्देश्य से राजनैतिक दाँव खेलते हैं। उनके नेता सोचते हैं कि अपने समाज का राजनैतिक स्वार्थ कैसे सिद्ध होगा? भारत

के टुकड़े करने के स्वप्न देखनेवाले अन्य समाजों की आकांक्षाएँ हिंदुओं के समान नहीं हो सकतीं। इसलिए 'एक परंपरा' और 'एक आकांक्षा' की महायुद्धोपरांत आधुनिक राष्ट्र की परिभाषा में हिंदू समाज ही आता है।

बुद्धि-देवता विनायक ने हमें बताया कि हिंदुस्थान हिंदू राष्ट्र है और चंडी देवता बताती है कि संगठन के बिना सामर्थ्य नहीं। इसलिए राष्ट्र की उन्नतावस्था के लिए संगठन कर बलवान होना आवश्यक है। इस प्रकार एक अति सामर्थ्यसंपन्न केंद्रित शक्ति निर्माण करना हो तो प्रत्येक को कतिपय गुण आत्मसात् करने होंगे।

निर्भयता, ध्येय पर अटूट श्रद्धा, कर्मशीलता, संकटों को पैरों तले कुचल कर आगे बढ़ने का साहस तथा त्यागवृत्ति के बिना कोई भी कार्य पूर्ण नहीं हो सकता। स्वयंसेवकों में त्यागवृत्ति निर्माण हो, इसीलिए संघ ने भगवाध्वज अपने सामने रखा है। आज भी अपने समाज में गेरुआ-वस्त्रधारी व्यक्ति के विषय में यह धारणा रहती है कि वैयक्तिक आशा-आकांक्षाओं को तिलांजलि देकर वह विश्व-कल्याण की कामना में मग्न है। प्रत्येक स्वयंसेवक को त्यागी जीवन स्वीकार कर अपने ध्येय से समरस होना चाहिए।

संघ शिक्षा वर्ग, १९३८

(सन् १९३८ में नागपुर में हुए संघ शिक्षा वर्ग में श्री गुरुजी सर्वाधिकारी थे। उन दिनों दोपहर के बौद्धिक वर्ग में प्रकट किए गए विचारों को अधिक स्पष्ट करने के लिए रात्रि के समय स्वयंसेवकों के साथ अनौपचारिक वार्तालाप हुआ करता था। ऐसे ही एक वार्तालाप का सारांश)

आज मान्यवर प्रांत संघचालक जी ने नागपुर की गर्मी और वर्ग में होनेवाली तकलीफों के विषय में विवेचन करते हुए कहा था कि यह वर्ग हमें यह सिखाता है कि संघजीवन की कठिनाइयों में भी अपने ध्येय से च्युत न होते हुए, आपत्तियों से सामना करते हुए हम अपना जीवन समाज कार्य के लिए समर्पित करें।

मैं उनके विचारों के विषय में यह बता देना चाहता हूँ कि हमारे ध्येय के अनुरूप उदात्त जीवन बिताना कठिन है। शादी-विवाह होते ही कुछ स्वयंसेवक गृहस्थी के झंझटों में फँस जाते हैं। कई लोग नश्वर संसार के

क्षणिक वैभव के लिए अपने को विलास और शारीरिक भोगों में लिप्त कर लेते हैं। बहुतेरे शिक्षित युवकों में इस प्रकार की प्रवृत्ति पाई जाती है। इस दुष्प्रवृत्ति को जितनी जल्दी हो सके, छोड़ देना चाहिए।

मनुष्य अकेला नहीं रह सकता। ऐसा कहते हैं कि वह सामाजिक प्राणी है। परंतु वह जिस समाज में रहता है, उस समाज के बाकी लोग दुःख से तड़प रहे हों, तब एक व्यक्ति के सुख का कोई महत्त्व नहीं। अपने जीवन का आदर्श ऐसा हो कि हम पूरे समाज को उन्नत बनाएँ, अन्यथा सुख और भोग की लोलुपता व्यर्थ है।

इसलिए हमें ऐसे गुणों की वृद्धि करने का प्रयत्न करना चाहिए, जिनसे व्यक्ति का ही नहीं, संपूर्ण समाज का भला हो, चाहे उससे व्यक्ति का सुख भले ही नष्ट हो जाए। हमारा प्राचीन इतिहास ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है। श्री रामचंद्र जी ने पिता की आज्ञा के उल्लंघन का सामर्थ्य होते हुए भी दुष्टों के दलन और सुजनों के पालन के लिए सुखों को ठुकराकर चौदह वर्षों का वनवास स्वीकार किया। जीवनभर उन्होंने स्वयं कष्ट उठाए, पर लोगों को सुखी किया; सज्जनों की रक्षा कर लोगों के सामने अपने जीवन का आदर्श रखा।

माता-पिता का बंदिवास, ग्वाल जीवन में निरंतर आई आपत्तियों के कारण श्रीकृष्ण का बाल्यजीवन भी कितना कष्टमय रहा। परंतु उन्होंने सब प्रकार के विघ्नों का सामना करते हुए बाल्यकाल बिताया। जरासंध के बार-बार आक्रमण के कारण उन्हें मथुरा को छोड़ना पड़ा। द्वारका जाने पर भी संकटों ने पीछा नहीं छोड़ा। ईश्वरावतार होते हुए भी उन्होंने समाज के सुखों के लिए सारे कष्ट सहे।

हाल के इतिहास में छत्रपति शिवाजी महाराज का उदाहरण है। वे शाहजी के समान 'किंग-मेकर' या जागीरदार नहीं बने। उन्होंने कष्टों को स्वीकार कर मुगल साम्राज्य को नष्ट करने का बीड़ा उठाया। ऐसा ही दूसरा उदाहरण महाराणा प्रताप का है। उन्होंने अपनी अल्प शक्ति के बावजूद विशाल मुगल साम्राज्य के सम्राट अकबर से लोहा लिया।

इन उदाहरणों से हमें स्पष्ट होता है कि इन महानुभावों ने जन्मभर कष्टों को साथी बनाकर संस्कृति और राष्ट्र की रक्षा की। ध्येय के प्रति हमारा प्रेम जीवन भर टिकनेवाला होना चाहिए। हमारी वृत्ति ऐसी होनी चाहिए कि ध्येय के लिए जीवन को मिटा देने में भी कोई संकोच न रहे।

संघ शिक्षा वर्ग, १९३८

(संघ शिक्षा वर्ग के सार्वजनिक समारोप में १० जून १९३८ को श्री गुरुजी के बौद्धिक के समय प.पू. डाक्टरजी मंच पर विराजमान थे)

यदि रेल के एक डिब्बे में बैठे हुए यात्री घंटे दो घंटे प्रवास करने पर अच्छे मित्र बन जाते हैं, तब हम जो एक ही भाव और विचार लेकर इस वर्ग में रहे हैं, उन्हें बिछुड़ते समय दुःख होना स्वाभाविक ही है। जीवन-तत्त्व की प्राप्ति और स्वार्थ-त्याग का पाठ सीखने के लिए आप सब लोग यहाँ आए हैं। राष्ट्र की उन्नति के लिए जो अपने व्यक्तिगत सुखों को छोड़ता है, उसी का जीवन सार्थक होता है।

हम सब एक तत्त्व के पूजक हैं। लोगों को मूर्तिपूजा का अभ्यास होने के कारण तत्त्व-पूजा की बात विचित्र लगती है। वास्तव में मूर्तिपूजा का अर्थ भी प्रकारांतर से उस देवता में निहित तत्त्वों की पूजा ही है। केवल पार्थिव पूजन का कोई अर्थ भी नहीं होता। संघ की कार्यप्रणाली हमारे सरसंघचालक जी के रूप में हमारे सामने विद्यमान है। हमारे तत्त्वों की मूर्ति चलने-फिरनेवाली है, साकार है। यह हमारा सौभाग्य है।

दिल से दिल मिलाना, दिल जीतना, अपने व्यक्तित्व को पूर्णतः भूल जाना ही संगठन है। यहाँ साथ रहते हुए सब एक दूसरे के व्यक्तित्व में इतना घुल-मिल गए हैं कि यह भूल ही गए कि नागपुर से बाहर के रहनेवाले हैं, अलग-अलग प्रांतों से आए हुए हैं। इसी प्रकार राष्ट्र में व्यक्तित्व के विलय में ही उसका सच्चा कल्याण है। क्षुद्र व्यक्तित्व ही हमारे कष्टों और कठिनाइयों की जड़ है। इस मोह को तोड़ना ही उचित है।

लोग कहेंगे कि व्यक्तित्व ही नष्ट हो गया तब जीने का क्या मतलब है? यह तो मर जाने के समान हुआ। लेकिन व्यक्तित्व नष्ट होने का अर्थ मरना नहीं अपितु विकास पाना है। जब आप अपना व्यक्तित्व राष्ट्र में विलीन कर देते हैं, तब आप व्यक्ति नहीं, राष्ट्र बन जाते हैं। अपने आनंद में जब मित्र को सम्मिलित करते हैं, तब आनंद दुगुना हो जाता है। सोचिये, यदि संपूर्ण राष्ट्र के सुख में सुखी और दुःख में दुःखी होंगे, तो उसमें आपके व्यक्तित्व का कितना विकास होगा। असीम के लिए अपने को कैसे छोड़ा जा सकता है, इसे समझने के लिए मेरे पास बैठी हुई इस विभूति

को देखिए। इस मूर्ति को समझने का प्रयास करें। अपने कार्य को समझने और अच्छा स्वयंसेवक बनने का यही एक मार्ग है।

उन्हीं की तरह बनने का प्रयत्न करें। लोगों को संघ समझाने का यही सबसे अच्छा तरीका है। मुझसे एक सज्जन ने कहा, 'संघ की विचारधारा, कार्यपद्धति आदि स्पष्ट करनेवाली कोई पुस्तक बताइए।' मैंने उत्तर दिया– 'किसी अच्छे स्वयंसेवक का हृदय ही वह पुस्तक है। आप उसका अभ्यास करें।'

संघ शिक्षा वर्ग, १९३९

(अगस्त १९३९ में लाहौर में आयोजित संघ शिक्षा वर्ग में हुए तीन बौद्धिक)

(१)

जिस उद्देश्य को लेकर संघ चला है, उसके लिए जरूरी है कि हम अपने आपको नए रूप में ढालें। अपने-अपने क्षेत्र में लौटने के पश्चात् विभिन्न प्रकार के दायित्व आपको सँभालने पड़ेंगे। काम करते समय यह बात ध्यान रखनी है कि हम संगठन के अभिन्न अंग हैं। इसलिए सबके साथ मिलकर ही काम करना चाहिए। एक आदमी संगठन का सारा काम कर भी नहीं सकता। यदि अपने सहयोगी के मन में हमारे प्रति जरा भी बुरा भाव आया, तो वह संगठन और राष्ट्र दोनों के लिए हानिकर सिद्ध होगा। यदि परस्पर पूर्ण सहकार्य न रहा तब ऐसा ही कहना होगा कि हमने संगठन का प्राथमिक पाठ भी नहीं सीखा। हम संपूर्ण राष्ट्र को एक करना चाहते हैं, परंतु उसके पहले अपने आपको एक करना होगा।

यदि कोई स्वयंसेवक ऐसा हो, जिसके स्वभाव में दोष या कोई वैगुण्य है, तब उसे साथ लेकर तथा सँभालकर काम करना होगा। दूसरे में दोष दिखाई दे, तब यह सोचना चाहिए की दुनिया में निर्दोष कौन है? हममें भी दोष होंगे। एक दूसरे के दोषों को समझकर काम करें, यह आवश्यक है। अपना यह कर्तव्य हो जाता है कि अपने सहयोगियों के गुण संसार के सामने रखें। उससे गुण बढ़ते हैं। केवल दोष देखना पितृहत्या के समान पाप है और अपने को निर्दोष समझना अहंकार। उपदेशक वह ही हो सकता है, जो पूर्णतया निर्दोष हो। जो अपने दोषों को छिपाकर उपदेश

करता है, उसके समान ढोंगी व मूर्ख कोई नहीं।

बंगाल का एक महापुरुष एक शराबी व पतित मनुष्य के साथ रहता था। फिर भी उस महापुरुष ने संसार को उसके दोष नहीं बताए। महापुरुष के साथ रहते-रहते और उसके प्रेमपूर्ण व्यवहार के कारण कुछ वर्षों के पश्चात् उसका शराबीपन पूर्णतः नष्ट हो गया। यदि वह महापुरुष उस पतित व्यक्ति से कहते कि 'तू शराबी है, मुझसे दूर रह,' तब उसकी शराब नहीं छूटती। परंतु शुद्ध प्रेम से उसके दोषों को दूर किया जा सका।

संगठन की कार्यवृद्धि करना, उसे अधिक मजबूती प्रदान करना तथा सहयोगियों में स्नेहपूर्ण सहकार्य(Lubricant Co-operation) हमारा उद्देश्य रहना चाहिए। एक-दूसरे के साथ पूर्ण सहयोग से काम करते जाने से यश अवश्य मिलेगा।

संघ शिक्षा वर्ग, १९३९

(२)

संस्कारों के पश्चात् व्यक्ति द्विज अर्थात् उसका दूसरा जन्म हुआ है- ऐसा माना जाता है। इसी प्रकार संघ में जिनकी प्रतिज्ञा हो चुकी है, उनका दूसरा जन्म हुआ है- ऐसा समझना चाहिए। पहले हमारे हृदय में संसार के प्रति दूसरे प्रकार के भाव थे, परंतु आज आपने जो सबसे पवित्र चीजें हैं, उनको साक्षी रखकर, शान-शौकत का पाशविक जीवन छोड़कर, मानवी जीवन में प्रवेश कर कर्तव्य की शिक्षा ग्रहण करने का निश्चय किया है।

संसार में हमारा जीवनदर्शन सर्वश्रेष्ठ था, परंतु आज पाश्चात्य विचारों ने हमारे जीवन को पूरी तरह ग्रस लिया है। इस अवस्था से समाज को निकालने के लिए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ प्रतिज्ञा करता है कि धर्ममार्ग से चलकर अपने समाज का जीवन ठीक करेंगे। संघकार्य करने से हम शक्ति से पूर्ण होंगे और आगे बढ़ते हुए अपने राष्ट्र को स्वतंत्र करेंगे। अपनी प्रतिज्ञा सिखाती है कि हम व्यक्तिगत जीवन तक सीमित रखनेवाली कूपमंडूक वृत्ति छोड़ें, विशाल बनें। अपने राष्ट्र व देश से इतना प्रेम करें, जितना अपने भाई से करते हैं। एक दूसरे के साथ चलने में, सुख-दुःख सहने में जो सुख प्राप्त होता है, उसके सामने ब्रह्मांड का सुख तुच्छ है।

अपना यह संगठन केवल चंदा एकत्र करने और फॉर्म भरनेवाला

संगठन नहीं है। यहाँ दो पैरवाले प्राणी को सही अर्थ में मनुष्य बनाया जाता है। यहाँ ऐसे मनुष्य की निर्मिति होती है, जिसका हृदय असीम स्नेह से भरा हुआ है। जब अपने शरीर, मन और बुद्धि के सब गुण एक ही विषय पर केंद्रित हो जाते हैं, तब मनुष्य को उसके कर्तव्य का ज्ञान होता है और तभी यह दो पैर वाला प्राणी आदमी बनता है।

संघ मनुष्य को उसके सही कर्तव्य की ओर खींचता है, उसे नया जीवन देता है। आपने यहाँ उस नए जीवन को सीखने का प्रयास किया है। एक नया अध्याय आपके जीवन में आरंभ हुआ है। उस अध्याय में क्या लिखना है, यह आप पर निर्भर है।

अपना हृदय विशाल करो। उसे शुद्ध प्रेम से भरो। तब संगठनशास्त्र सीख सकेंगे। संगठन-शास्त्र मूर्तिमंत हो डाक्टर जी के रूप में हमारे सामने प्रत्यक्ष खड़ा है। उनसे मिलने का प्रयत्न करें। उनका पूर्ण अध्ययन करें। आपको उस एक व्यक्ति में सारा संगठन-शास्त्र साकार हुआ दिखाई देगा। जीवन में सद्‌गुणसंपन्न बनकर कैसे रहें, यह जैसे मर्यादा पुरुषोत्तम रामचंद्र जी के जीवन का अध्ययन करके समझ सकते हैं, वैसे ही संगठन कैसे किया जाता है, संगठनशास्त्र क्या है, यह संघ-निर्माता के जीवन का अध्ययन करने से समझ सकते हैं।

जैसे मनुष्य जीवन का इतिहास बदलता है, वैसे ही राष्ट्र-जीवन का इतिहास भी बदलता है। हिंदू जाति न कभी मरी है, न मरेगी। हम इस संसार को दिखा देंगे कि हम अमर हैं। अगणित भीषण आघातों को सहकर अब तक जीवित रहे हैं। आगे भी जीवित रहेंगे और ससम्मान रहेंगे।

जीवित राष्ट्र वह है, जिसमें उस राष्ट्र के लोग एक ही शरीर के अंगोपांग की भाँति रहते हैं। हम संसार को फिर से चेतावनी दे रहे हैं कि यह राष्ट्र एक सिंह है। अब तक सिंह के समान ही रहते आया है। यदि दुष्ट वृत्ति से अकारण छेड़ोगे, तो मारे जाओगे। राष्ट्र-रक्षा की शक्ति इसमें अंतर्निहित है। यह सिंह अब तक सोया पड़ा था। अब जाग रहा है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का सक्रिय अस्तित्व है।

कई लोग यह स्वीकार करने में लज्जा का अनुभव करते हैं कि वे हिंदू हैं और इसी कारण राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को अपना शत्रु समझते हैं, परंतु वे डा. हेडगेवार जी के प्रति श्रद्धा रखते हैं। वे जानते हैं कि यह

व्यक्ति कुछ ओर ही है। इसका हृदय अंतर्बाह्य एक है। कट्टर से कट्टर विरोधी भी उनसे प्रेम करता है।

तत्त्व के लिए संघर्ष अवश्य करें, परंतु वह करते हुए भी प्रेम से करें। यह बात कहने में बड़ी आसान है, परंतु इसको अपनाने के लिए बड़ा साहस चाहिए। संघ-निर्माता का हृदय विशाल है। उन्होंने यह प्रत्यक्ष कर दिखाया। हम उन्हें समझने की कोशिश करेंगे, तो हम भी वैसे बन सकते हैं। वे अपने व्यक्तित्व को भूलकर केवल स्वयंसेवक के नाते खड़े रहे। डाक्टर हेडगेवार व्यक्ति नहीं, एक भाव हैं। कितने ही स्वयंसेवकों के जीवन में वे विलीन हो गए हैं। अपने हृदय को उनसे जितना अधिक व्याप्त करेंगे, उतनी ही शांति का अनुभव करेंगे। इससे अपने जीवन में संघकार्य करने की लगन सतत जागृत रहेगी। उनके जीवन से शक्ति प्राप्त करें।

मैं व्यक्तिपूजक नहीं हूँ, गुणपूजक हूँ। परंतु संघ-निर्माता के साथ रहने के अनुभव का स्मरण करता हूँ, तो बहुत आनंद आता है। यदि आप भी वह अनुभव लें, तो फिर संघ के बारे में अधिक कुछ बताने की आवश्यकता नहीं रहेगी।

शब्द जैसी अपूर्ण चीज दुनिया में है ही नहीं। मैं संघ को अनुभव कर सकता हूँ, परंतु बता नहीं सकता। इस बात को आप तब समझेंगे जब संघ के साथ एकात्मता पा लेंगे। सच्ची एकता हृदय की एकता है। हमने गंभीरता से बड़ा उत्तरदायित्व स्वीकार किया है, क्योंकि हम उसे कर्तव्य समझते हैं। इस अवसर पर मैं यही कहता हूँ कि अपना हृदय भी संघ-संस्थापक जैसा विशाल बनाइए। उनके समान बनने का प्रयास करेंगे तो अवश्य सफल होंगे।

संघ शिक्षा वर्ग, १९३९

(३)

भारतवर्ष में हिंदू समाज हजारों वर्षों से रह रहा है। यहाँ कुछ अन्य परधर्मी समाज भी आ बसे हैं। लेकिन यहाँ के मूल समाज के साथ आत्मसात न होते हुए अपना अलग अस्तित्व बनाये हुए हैं। इसके पीछे उनका उद्देश्य अधिकतम लाभ प्राप्त करना है। जबकि यहाँ के मूल रहवासी हिंदू अपना लाभ तो दूर, देश में उनकी आज जो स्थिति है, उसको भूलकर

दूसरों के फायदे के विषय में अधिक सोचते हैं। इन अन्य विधर्मी समाजों ने हिंदू-समाज को नष्ट करने के कई प्रयत्न किए, परंतु उसकी जड़ें गहराई तक होने के कारण वह अब तक बचा हुआ है।

मुस्लिम आक्रामकों ने अपनी शक्ति के बल पर वैभव तो प्राप्त किया, परंतु वे कभी भी शांति के साथ राज्य न कर सके। क्योंकि हिंदुओं द्वारा उनका प्रखर विरोध निरंतर होता रहा। अंत में मुस्लिम राजसत्ता नाममात्र की ही रह गई थी। इसी बीच यूरोपीय लोगों का व्यापार के निमित्त हिंदुस्थान आना हुआ। उनमें से अंग्रेज अपना प्रभुत्व-स्थापन करने में यशस्वी हुए। स्वयं अंग्रेज इतिहासकारों ने यह लिखा है कि यहाँ का राज्य उन्होंने हिंदुओं से लिया।

राष्ट्र सांस्कृतिक ईकाई होती है। जब किसी जनसमूह की ऐतिहासिक, धार्मिक, सांस्कृतिक परंपराएँ एक हों, तब वह 'राष्ट्र' कहलाता है। राष्ट्र के लोगों में जो समान भाव-भावनाएँ, इच्छा-आकांक्षाएँ होती हैं, वे बाहर से आए लोगों में नहीं हो सकतीं, क्योंकि उनके संस्कार भिन्न होते हैं। एक देश में रहने वाले ऐसे लोग ही उसकी विचारधारा को समझ सकते हैं और उसके अनुसार व्यवहार कर सकते हैं। इसलिए हिंदुस्थान में हजारों वर्षों से रहते आए लोग, जिन्होंने इस देश का इतिहास बनाया है, इस राष्ट्र के पुत्र या स्वामी हो सकते हैं, परंतु आक्रामक के रूप में बाहर से आए अन्य लोग नहीं।

अंग्रेजों के द्वारा शासित राज्य में रहने वाले लोग एक राजनैतिक इकाई के अंतर्गत माने जा सकते हैं, लेकिन उनको लेकर एक राष्ट्रजीवन बन सकेगा क्या? अंग्रेजों के साम्राज्य के अंतर्गत आज अनेक देश हैं। उन सबका मिलकर एक राष्ट्रजीवन नहीं बनता, उसी प्रकार ब्रिटिश राज में अनेक समाज रहते होंगे परंतु उन सबका मिलकर राष्ट्र नहीं हो सकता। बाह्य आक्रामकों और हिंदुओं में समानता कैसे हो सकती है?

भारत के इतिहास की गौरवशाली बातें सुनकर अहिंदू समाजों के मन में हिंदुओं के समान श्रद्धा के भाव जागते हैं क्या? अफजलखान और शिवाजी को समान दृष्टि से देखा जा सकता है क्या? यह कदापि संभव नहीं। सही राष्ट्रीय दृष्टिकोण के आधार पर अपने देश के समाज जीवन का विचार करना चाहिए।

संघ अपने हिंदू समाज को संगठित करके एक बलशाली राष्ट्र के रूप में खड़ा करना चाहता है। कुछ लोग पूछते हैं कि क्या कुछ युवक

एकत्रित करना पर्याप्त है? एक बड़े प्रोफेसर कहते थे कि यदि आपके पास २०० युवक हैं और आप उनसे कुछ काम नहीं लेते, तो आप उन्हें अकर्मण्य बनाते हैं, उनकी अवनति करते हैं, अंततः राष्ट्र का नुकसान करते हैं। अपने काम में युवक अधिक परिश्रमी और कार्यक्षम बनता है, सद्‌गुणसंपन्न बनता है और अपने समाज को संगठित करने के लिए लगन से काम करता है।

हमारे पूज्य संघनिर्माता ने कहा है कि संगठन ही हमारा ध्येय है। कार्यक्रम भी संगठन के लिए ही हैं। संपूर्ण हिंदू समाज को संगठित करने के अपने उद्देश्य तक पहुँचते समय मार्ग में कई स्टेशन मिलेंगे। जैसे मुंबई जाते समय मार्ग में कई स्टेशन आते हैं, पर मुंबई अंतिम स्टेशन है। वैसे ही स्वाधीनता-प्राप्ति भी बीच का एक स्टेशन है।

आसेतु हिमाचल संपूर्ण हिंदू समाज की सुसंगठित स्थिति, यह अंतिम स्थिति है। इस स्थिति पर पहुंचने के पूर्व अपनी कई समस्याएँ सुलझ जाएँगी।

अध्यापक विद्यार्थियों को पूर्ण अभ्यासक्रम पढ़ाते हैं। पढ़ने या पढ़ानेवाले विश्वविद्यालयीन परीक्षा में आनेवाले प्रश्नपत्र को नहीं जानते, मगर पूर्ण अभ्यासक्रम जानने के कारण किसी भी प्रश्न का ठीक उत्तर दे सकते हैं। यही स्थिति सुसंगठित, अनुशासित समाज की होती है। सुसंगठित समाज अपने सामने उपस्थित किसी भी समस्या का सुविधापूर्वक हल निकाल सकता है।

अपने समाज-जीवन पर कई बार आपत्तियाँ आईं। कुछ समय के लिए पारतंत्र्य भी आया। उस अवस्था में भी हमने अपने समाज-जीवन को सुरक्षित रखकर राष्ट्र का उत्थान कैसे किया? उस इतिहास का विस्मरण नहीं होना चाहिए। समाज को संगठित करके ही हमने आपत्तियों से मुकाबला किया। हम अपने राष्ट्र को उसी प्रकार संगठित कर इतना मजबूत बनाना चाहते हैं कि हमारी ओर आँख उठाकर देखने का किसी का साहस न हो।

हमें ऐसी शक्ति की उपासना करनी है, जिससे दुष्टों को परास्त कर सकें तथा जगत् की रक्षा कर सकें। परंतु उससे सद्‌प्रवृत्त लोग डरें नहीं। हम दूसरों को अकारण डराने के लिए शक्ति नहीं चाहते। संघ हिंदू समाज का संगठन कर ऐसी शक्ति निर्माण करना चाहता है, जिससे किसी

भी प्रकार की आपत्ति का मुकाबला किया जा सके। समाज की किसी एक समस्या को सुलझाने के लिए अपने संगठन का जन्म नहीं हुआ है। इसी कारण हम कहते हैं कि संगठन संगठन के लिए है। सब समस्याओं का सही हल हो सके, इसलिए है। दुनिया में सम्मानपूर्वक रह सकें, इसके लिए है।

इसी आधार पर हम अपनी स्वाधीनता भी प्राप्त कर सकते हैं। जब प्रतिपक्षी यह समझ लेगा कि भारत में इनका विरोध करना असंभव है, तो उन्हें बाध्य होकर भारत को स्वतंत्र करना ही होगा। परंतु यदि हम दुर्बल रहे और किसी तरह स्वाधीनता मिल भी गई तो उसे संभाल कैसे पाएँगे?

परकीय लोग यहाँ आकर अपना राज्य जमा बैठे, क्योंकि हमारा राष्ट्र शक्तिशाली नहीं था। अब रोने अथवा उन्हें गाली देने से काम नहीं चलेगा। उसका कोई लाभ भी नहीं है। इस सबका केवल एक ही उत्तर है कि समाज को संगठित कर राष्ट्र को शक्तिशाली बनाएँ। लेकिन यह ध्यान रखें कि अपना कार्य किसी की प्रतिक्रिया में नहीं है। अपना राष्ट्र सुदृढ़ रहे, वैभवसंपन्न बने– इसके लिए है, क्योंकि प्रतिक्रिया में खड़ा किया गया कोई भी आंदोलन चिरस्थायी नहीं हो सकता। प्रतिक्रिया का कारण समाप्त होते ही आंदोलन भी समाप्त हो जाता है। जैसे अपना शरीर सुदृढ़, शक्तिशाली रहना सुखी जीवन के लिए अनिवार्य है, उसी तरह समाज को सुसंगठित व शक्तिशाली रहना चाहिए। संसार में मान-सम्मान के साथ रहने की स्वाभाविक इच्छा पूर्ण करने के लिए ही अपना संघकार्य है।

हिंदुस्थान के लोग सामान्यतः बड़े ही साधु स्वभाव के हैं। सभी से प्रेम करना उनका सहज स्वभाव है। इस सद्‌गुणविकृति के कारण ही वह बिना सोचे समझे शत्रु के प्रति प्रेम रखकर स्वयं नष्ट होने का कृत्य भी करता है। यह साधुता तभी सफल व संसार के लिए सुखदायी होगी, जब हम शक्तिसंपन्न अर्थात् संगठित होंगे। दुनिया को मानवता की शिक्षा भी तभी दे सकेंगे।

इस स्वाभाविक स्वकर्तव्य के अनुसार ही राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ शक्तिसंचय में विश्वास रखकर काम करता है। हमें विश्वास है कि अखिल विश्व भी संघ में आए हुए हिंदू समाज की प्रशंसा करेगा। क्योंकि इसके कारण ही हिंदू धर्म एवं हिंदू समाज की रक्षा हुई है।

अपने संगठन का माध्यम है अपनी दैनंदिन चलनेवाली शाखा।

हमारा काम है कि अधिक से अधिक संख्या में हिंदुओं को प्रतिदिन उसमें उपस्थित करें, उनमें संगठन का भाव भरें। यही अपने संगठन का कार्यक्रम है, जिससे बल की उपासना होती है।

आप यहाँ से संघ की शिक्षा लेकर जा रहे हैं। कार्यकर्ता बनकर जा रहे हैं अर्थात् अपना कर्तव्यक्षेत्र बढ़ा रहे हैं। अपना उद्देश्य पूर्ण होने का अवसर निकट से निकट लाने के लिए लगन से परिश्रमपूर्वक काम करें।

संघ शिक्षा वर्ग, १९४०

(सन् १९४० के संघ शिक्षा वर्ग का सार्वजनिक समारोप समारोह केंद्र संघस्थान, रेशमबाग पर चेन्नै के सुप्रसिद्ध वकील श्री संजीव कामत की अध्यक्षता में संपन्न हुआ। उस समय सर्वाधिकारी के नाते श्री गुरुजी का प्रास्ताविक भाषण)

आज अपने राष्ट्र को सांघिक जीवन की नितांत आवश्यकता है। राष्ट्र के प्रत्येक घटक को समष्टि जीवन में अपना व्यक्तित्व विलीन करना चाहिए। संपूर्ण हिंदू समाज एकरस सूत्रबद्ध समाज-जीवन निरंतर व्यतीत करता आया है। यह भाव सभी हिंदुओं के हृदय में उदित होना चाहिए। इसी कार्य को करने के लिए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का आविर्भाव हुआ है। अपना समाज संख्यात्मक दृष्टि से विशाल होते हुए भी आपसी फूट के कारण जर्जर अवस्था को प्राप्त है। संघ समाज में एकता की भावना निर्माण कर उसे अपने पैरों पर खड़ा रहने की शिक्षा देता है।

हिंदू समाज पर अत्याचार होने की खबरें हमेशा मिलती रहती हैं, परंतु उसके लिए कोई अन्य जिम्मेदार नहीं है, हम स्वयं ही दोषी हैं। हम दुर्बल हैं, इसी कारण आततायियों को अत्याचार करने की दुर्बुद्धि होती है। जो स्वयं की सहायता नहीं कर सकता है, उसकी कोई भी सहायता नहीं करता। इतना ही नहीं स्वयं भगवान भी उससे मुँह मोड़ लेते हैं। 'अजा पुत्रं बलिं दद्यात् देवो दुर्बल घातकः' यह एक त्रिकालाबाधित सत्य है। इसलिए इन अत्याचारों को नष्ट करने का एकमात्र उपाय है एकता की भावना निर्माण कर हिंदू-समाज को संगठित कर इतना प्रभावशाली बनाया जाए कि

उसका वह रूप देखकर विदेशियों और आततायियों के हृदय कंपित हों। संघ किसी पर भी अत्याचार करने के उद्देश्य से प्रारंभ नहीं हुआ है, परंतु वह हिंदू समाज पर दूसरों द्वारा किए जानेवाले अत्याचार कदापि नहीं सहेगा।

संघ शिक्षा वर्ग, १९४२

किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए एक निर्धारित मार्ग पर चलना पड़ता है। तदनुसार ध्येय-प्राप्ति के लिए हमने एक मार्ग निश्चित किया है। पहले भी हिंदुओं को संगठित करने के प्रयत्न हुए हैं, परंतु वे बहुत सफल नहीं हुए। क्योंकि जो प्रयत्न किए गए थे, उनमें एकसूत्रता नहीं थी। अपने संघ की विशेषता यह है कि संगठन कार्य और उसे करने की पद्धति का मानसशास्त्रीय दृष्टि से सूक्ष्म विचार करके कार्य करने का निश्चय किया गया। कार्यकर्ताओं के लिए आचार-विचार के नियम बनाये गए। सुदृढ़ और स्वस्थ संघजीवन की वृद्धि के लिए ये नियम अत्यंत उपयुक्त हैं। अपना अनुभव है कि उनके अनुसार आचरण करने पर सफलता निश्चित ही मिलती है।

कार्य करते समय ध्येयसिद्धि पर अटूट श्रद्धा चाहिए। कोई भी व्यक्ति एक ही समय में सहस्रों उद्देश्यों की प्राप्ति नहीं कर सकता। एक ही लक्ष्य सामने रखकर उसकी प्राप्ति के लिए अपना सब कुछ न्यौछावर करना पड़ता है। श्रद्धा और विश्वास से अपने सामने रखे हुए लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए निरंतर प्रयत्नशील रहना ही सफलता की कुंजी है। अपने लक्ष्य पर श्रद्धा और हृदय में लक्ष्य के प्रति अव्यभिचारी निष्ठा के बिना हम अपने लक्ष्य की प्राप्ति कदापि नहीं कर सकेंगे। यह श्रद्धा अंध न हो। शुद्ध हृदय से अपने ध्येय के विषय में निरपेक्ष विचार करने के पश्चात् स्वाभाविक रूप से निर्माण हुई श्रद्धा होनी चाहिए।

अपना कार्य नीतियुक्त और न्यायसंगत है यह विश्वास दृढ़ होने पर उसे पूर्ण करने के लिए हमें कर्म-कठोर बनना होगा। जब तक अपने जीवन के अंगोपांगों को अपना ध्येय व्याप्त नहीं करता, तब तक केवल बुद्धि से स्वीकार कर लेने से कार्यपूर्ति नहीं होती। हमें हृदय से अनुभव करना चाहिए कि संघ अपने जीवन का एकमेव कार्य है। इसके साथ ही व्यावहारिक सूझ-बूझ की भी आवश्यकता रहती है। हृदय में संघकार्य के

प्रति निष्ठा रही, पर व्यावहारिक सूझ-बूझ का अभाव रहा तो अत्यंत प्रिय लगनेवाले कार्य की हानि ही होगी। सर्वसाधारण मनुष्य में जो बुद्धि और सूझ-बूझ होती है, उसका योग्य उपयोग किया गया तो ही कार्य बढ़ सकता है।

इस शिक्षा-वर्ग में शारीरिक शिक्षा के साथ-साथ संघ के ध्येय के विषय में भी आप लोगों ने ज्ञान प्राप्त किया है। अब अधिकाधिक लोगों को अपने साथ कंधे से कंधा मिलाकर कार्य करने के लिए प्रेरित करना है। मुँहफट हो खरी-खोटी सुनाकर अथवा अभद्र व्यवहार करने से तो यह नहीं हो सकेगा। हमें समझदारी और बुद्धिमानी से प्रेमपूर्ण व्यवहार करना होगा। अपने ध्येय के विषय में प्रदीर्घ भाषण देने की अपेक्षा अपने स्नेहपूर्ण मधुर व्यवहार से लोग अपनी ओर आकर्षित होंगे। इसलिए प्रयत्नपूर्वक विनम्र व्यवहार और मधुर वाणी आत्मसात् करनी होगी।

ध्येयनिष्ठ स्वयंसेवक का व्यक्तिगत चरित्र अपने ध्येय के अनुरूप हो और निरपवाद रूप से विशुद्ध रहे। ध्यान रहे कि अपनी उक्ति और कृति में सामंजस्य हो, क्योंकि विशुद्ध चारित्र्य ही सामाजिक कार्यकर्ता का शक्ति-स्रोत है। अपना कथन योग्य है या अयोग्य, लोग इसकी चिंता नहीं करते। वे तो अपने शुद्ध चारित्र्य की परख करते हैं। एक बार उनका अपने चारित्र्य पर विश्वास जम गया तो तत्परता से वे अपने पीछे किसी भी सीमा तक आने को तैयार होते हैं।

अपने समाज में कुछ ऐसे लोग हैं जो समझते है कि संतोषजनक रीति से काम करने वाले सामाजिक कार्यकर्ताओं का व्यक्तिगत चारित्र्य कैसा भी हो, कितना भी घृणास्पद रहे, उसकी ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता नहीं। परंतु संघ का मत इसके बिल्कुल विपरीत है। संघ के कार्यकर्ता के पास उसका व्यक्तिगत कुछ नहीं है। दिन के चौबीसों घंटे हम समाज के एक घटक के नाते समाज में रहते हैं। घर, व्यवसाय, मित्र, परिवार – किसी भी क्षेत्र में हमें संगठन के एक जिम्मेवार घटक के नाते सावधानी से व्यवहार करना चाहिए। अपने चारों ओर रहनेवाले लोग हमारे सामाजिक और व्यक्तिगत आचरण से जिस संगठन का हम प्रतिनिधित्व करते हैं, उस संघ की परीक्षा करेंगे और संगठन के प्रति अपना दृष्टिकोण बनाएँगे। कार्य के विश्वस्त के रूप में हम समाज में रहते हैं। अतः अपने चारित्र्य और सौजन्यपूर्ण व्यवहार से लोगों पर प्रभाव डाल सके, तो ही लोग हमारी बात ध्यानपूर्वक सुनेंगे।

हम अपने समाज के विनम्र सेवक हैं। संकट तथा अभावग्रस्त लोगों की यथाशक्ति सहायता करके हमें समाज की दृष्टि से अधिकाधिक उपयोगी सिद्ध होना चाहिए, अन्यथा वे हमारे प्रति उदासीन रह कर हमारी उपेक्षा करेंगे।

कार्य करते समय अपने स्वभाव-वैचित्र्य और स्वभाव-वैशिष्ट्य का ढिंढोरा न पीटें। मुझे ऐसे अनेक कार्यकर्ता ज्ञात हैं, संघ में आने के बाद जिनका मूल स्वभाव पूर्णतः परिवर्तित हो गया। यह स्वभाव- परिवर्तन तभी संभव है जब हम इस बात का ध्यान रखेंगे कि अपनी एकाध क्षुद्र भूल से समाज के लोग संघ के बारे में विपरीत मत बनाएँगे, जिससे अपने कार्य की हानि हो सकती है। जैसे अपने विद्यार्थी स्वयंसेवक वार्षिक परीक्षा में अनुत्तीर्ण हुए तो लोग संघ को ही दोषी समझेंगे। वाद-विवाद या तर्क से लोगों का केवल मुँह बंद किया जा सकता है, समाधान नहीं।

इस बात को स्वीकार कर लेने का भी कोई मतलब नहीं होता कि हममें दोष है। अपने दोषों और त्रुटियों को खोज कर उनके निर्मूलन का प्रामाणिकता से प्रयत्न करना ही उचित होगा। संगठन की पावन गंगा में वे दोष और त्रुटियाँ बाधक होती हैं। उन्हें दूर कर अंतर्बाह्य रूप से शुद्ध होने की आवश्यकता है। हमें समाज में रहकर विविध क्षेत्रों में काम करना है। इसलिए अपने विषय में उत्कृष्ट अभिमत निर्माण करें। कुशलता से अपने निजी कार्य को समाज कार्य के अनुकूल बनाना संभव है।

व्यक्तिगत जीवन में हमें अपनी माँ की विशेष चिंता करनी चाहिए। इहलोक में माँ ही अपना जीवन-सर्वस्व है। अपने हृदय में उसके प्रति अपरंपार प्रीति होनी चाहिए। हम मातृभक्त बनें। हम उस पर पूर्णतः निर्भर रह सकते हैं। वही अपने अंतर्यामी का शक्तिस्रोत है। इसीलिए अपनी माँ के मन में अपने बारे में विश्वास उत्पन्न करना अपना आद्य कर्तव्य है। अपनी माँ की अनुमति प्राप्त होने तक श्री आद्य शंकराचार्य ने संन्यास नहीं लिया था, परंतु दिव्य प्रेम और भक्ति के कारण अपनी माँ को अपने अनुकूल करने में वे अंत में सफल हुए। उसके बाद उन्होंने संन्यास ग्रहण कर संपूर्ण भारत का भ्रमण करके हिन्दू धर्म के तत्त्वज्ञान में संभ्रम पैदा करनेवाली दुष्ट प्रवृत्तियों का विनाश किया। हमें भी अपनी पद्धति से श्री शंकराचार्य का अनुसरण करना चाहिए। उसका प्रथम पाठ अपने घर पर ही सीखकर हम अपने भाई-बहनों का व्यवहार सुधारने का प्रयास करें।

उससे ही समाज के अन्य लोगों के जीवन को भी योग्य दिशा देने की दृष्टि से जो अनुभव आवश्यक है, वह हमें प्राप्त हो सकेगा। विशुद्ध प्रेम और भक्तियुक्त अंतःकरण से अपने माता-पिता की चिंता करेंगे, तो उनके मन में अपने और अपने कार्य के विषय में कभी असंतोष नहीं रहेगा और अपने कर्तव्य-पथ में बाधक रोड़े कम हो जाएंगे।

अपने बारे में परिवार के लोगों कि यह धारणा नहीं बननी चाहिए कि यह व्यक्ति घर के लिए सिरदर्द है। अपने उत्तम व्यवहार के कारण उन्हें अनुभव हो कि यह घर तथा समाज का अचल और दृढ़ आधारस्तंभ हैं। एक मूल्यवान और शक्तिमान चिरंतन स्त्रोत के नाते, घर और समाज में हमारी गिनती होनी चाहिए। निरुपयोगी है, इसलिए तिरस्कृत कर घर वालों ने जिनका त्याग कर दिया है, ऐसे कुपुत्रों की राष्ट्र को आवश्यकता नहीं है। सद्गुणी, श्रेष्ठ और कर्तृत्वसंपन्न सत्पुत्रों का अपना राष्ट्र आह्वान कर रहा है। निकटवर्ती रिश्तेदारों पर ही अपने व्यवहार का प्रभाव न पड़ता हो, तो जिनके साथ अपना परिचय या रिश्ता नहीं, उन पर क्या प्रभाव होगा?

पाठशालाओं और महाविद्यालयों में शिक्षा ग्रहण करने वाले विद्यार्थी स्वयंसेवकों को संबंधित शिक्षा संस्थाओं का अनुशासन पूरी ईमानदारी से पालन करना चाहिए। आदर्श स्वयंसेवक, आदर्श विद्यार्थी भी है, ऐसी अपने शिक्षकों और विद्यार्थी मित्रों की धारणा बननी चाहिए।

मैं नहीं चाहता कि हम डरपोक रहें। हम धैर्यवान और क्रियाशील बनें। कट्टर विरोधकों या जिनके स्वभाव में परिवर्तन होना असंभव है, ऐसे व्यक्तियों से सामना होने पर उनसे ऐसा व्यवहार करना चाहिए, जिससे उन्हें मुँह की खानी पड़े। अपने संगठन और अपने स्वाभिमान को ठेस पहुँचाने की सीमा तक विनम्रता का व्यवहार करना संघ को अपेक्षित नहीं है। मूलभूत महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर समझौता करना स्वयंसेवकों को शोभा नहीं देता।

दूसरों को अपने विचारों के अनुकूल करते समय कभी-कभी अपना पतन होने की संभावना रहती है। उच्च ध्येय से नीचे फिसलना सरल है। ऐसे अवसर आते हैं, जब मन भ्रमित और मोहित हो सकता है। लोगों द्वारा की जानेवाली टीका-टिप्पणी से व्यथित हो मन अपने मार्ग से हट जाना चाहता है। कभी-कभी अपने मित्र और रिश्तेदार विविधि उपायों से हम पर दबाव डालते हैं। हम उसके शिकार हो सकते हैं। किसी भी परिस्थिति में अपनी मूल भूमिका और दृष्टिकोण, भले ही दूसरे हमें कर्मठ और अति उत्साही कहें, कदापि नहीं छोड़ना चाहिए।

शाम को शाखा के समय रास्ते पर निरुद्देश्य भटकने या सिनेमा आदि देखने में समय नष्ट करने का विचार मन में आना ही नहीं चाहिए। अपने सायंकाल के समय पर केवल संघ का अधिकार है, अन्य किसी का नहीं।

कल बननेवाले स्वयंसेवक के स्वाभिमान को हमने ठेस पहुँचाई, तो अपना कहना तर्कसंगत होने पर भी वह अपनी बात नहीं सुनेगा। हमारी भूमिका उपदेशक की नहीं, आत्मीयता से सहायता करने वाले मित्र की हो। भगवान श्रीकृष्ण और अर्जुन की मित्रता इसका उत्तम उदाहरण है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन के लिए सब प्रकार के परिश्रम किए। उसके रथ के सारथी भी बने। परंतु कुरुक्षेत्र की समर-भूमि पर अर्जुन द्वारा स्वयं होकर मार्गदर्शन की अपेक्षा करने पर ही उन्होंने उपदेशक या मार्गदर्शक की भूमिका ग्रहण की।

अपने मन में कार्य बढ़ाने की तीव्र इच्छा अहर्निश उमड़ती रहे। हम केवल एक घंटे के लिए संघ में जाते हैं, शेष तेईस घंटे होनेवाले विपरीत संस्कार, इस एक घंटे में नष्ट कर उसके स्थान पर सुदृढ़ संस्कार ग्रहण करते हैं। २४ घंटे संघ का काम करने की बात कही जाती है। मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं कि स्कूल या घर का काम नहीं किया जाए। अपने सब काम करते समय अपने संपर्क में आनेवाले हर व्यक्ति को संघकार्य के लिए प्रेरित करने का विचार अपने हृदय में सदा जागृत रहना चाहिए। संघकार्य मुग्ध करनेवाली अमृतमिश्रित औषधि है। जितना बन सके, उतना आकंठ सेवन करो और उसमें अपने को भूल जाओ। जिस प्रकार सिंह नित्य ताजा भक्ष्य खोजता रहता है, उसी प्रकार हम भी संघ में लाए जा सकनेवाले नए मित्रों की खोज करते रहें। अपने थोड़े से मित्र बन गए और वे स्वयंसेवक बन कर संघ में आने लगे, इससे हमें संतुष्ट नहीं होना चाहिए। अपने डाक्टरजी का कहना था कि दस-बीस क्यों, हमारी आकांक्षा तो तीस करोड़ हिंदुओं से दृढ़ मित्रता करने की होनी चाहिए। जिस प्रकार जीवमान शरीर नित्य बढ़ता रहता है, उसी प्रकार अपना यह संगठन नित्य वर्धिष्णु होता हुआ इतना बलवान हो कि वह अपने को दासता में बाँधकर रखनेवाले सारे आक्रमणों को तोड़ने में समर्थ हो। संघ-कार्य दिनोदिन बड़े पैमाने पर बढ़ाने के लिए पराकाष्ठा के प्रयत्न करने होंगे तथा क्षितिज-पार देख सकने की व्यापकता दृष्टि में लानी होगी।

श्रद्धा, ज्ञान और कौशल्य से यदि संघकार्य करेंगे तो कार्यपूर्ति होने का आनंद अवश्य अनुभव कर सकेंगे।

संघ शिक्षा वर्ग, १९४२

(सार्वजनिक समारोप)

संघ का कार्य नैसर्गिक है। संघकार्य ही ऐसा एकमेव कार्य है, जिससे भारत का उत्थान हो सकता है। संगठित होने के अतिरिक्त हिंदू समाज के सामने अन्य कोई उपाय नहीं है। देश, धर्म और संस्कृति की सेवा करनेवाला कार्य अवश्यमेव ईश्वरीय कार्य होता है। अतएव इस कार्य की सिद्धि का उत्तरदायित्व प्रत्यक्ष परमेश्वर पर है। इसलिए हमें चिंता करने का कारण नहीं है। अपने को भूलकर काम करते रहना– इतनी ही अपनी जिम्मेदारी है। संघकार्य की अंतिम यशस्विता के बारे में हमारे मन में तनिक भी संदेह नहीं है।

संघ के बारे में लोगों के मन में पूर्वाग्रहयुक्त धारणाएँ होने के कारण वे विरोध करते हैं। किंतु अब इसकी बढ़ती हुई गति को कोई रोक नहीं सकेगा। ईश्वरीय कार्य में बाधा डालने का सामर्थ्य किसमें है? तरह-तरह का विरोध होने के बावजूद संघ किसी के प्रति द्वेष नहीं रखता। 'सर्वेषां अविरोधेन' संघ की कार्यपद्धति की विशेषता है। संघ पर यह आरोप करना कि वह दूसरों का विरोध करता है, सरासर अन्याय है। अपने स्वतः के राष्ट्र की चिंता संघ को करना है और वह कर रहा है। इससे दूसरों को पीड़ा क्यों होनी चाहिए? संघकार्य विधायक कार्य है। यदि किसी को अच्छा न लगता हो, तो उसके लिए संघ जिम्मेदार नहीं है। संघकार्य से जिसे पीड़ा होती है, वही इसके लिए जिम्मेदार है। संघ का मार्ग सीधा और सरल है। दूसरों का उससे कोई संबंध नहीं है। कुछ भी हो, संघ अपने मार्ग से च्युत होनेवाला नहीं है।

समाज की पतितावस्था के लिए संघ दूसरों को दोष देना नहीं चाहता। लोग दूसरों के सिर पर दोष मढ़ते हैं, उसके मूल में उनकी अपनी दुर्बलता होती है। बलवानों को दोष देते बैठने की अपेक्षा अपने समय को स्वयं की शक्ति बढ़ाने में लगाना ही हितकर है। दृष्टि अंतर्मुख करके अपने दोष दूर करने की आवश्यकता है। यदि हम यह जानते हैं कि बड़ी मछली छोटी मछली को निगलती है, तो उस बड़ी मछली को दोष देना सरासर पागलपन है। निसर्ग-नियम भला हो अथवा बुरा, वह तो घटित होगा ही। यह कहने से कि नियम अन्यायपूर्ण है, बदलता नहीं।

हिंदू समाज ने आज तक उस पर होनेवाले अत्याचारों व अन्यायों का ही विचार किया। स्वयं की दुर्बल स्थिति का विचार कर, उसे नष्ट करने का प्रयास कभी नहीं किया। इसलिए हिंदुस्थान विश्व के अनेक संघर्षों का मूल कारण है। हम जानते हैं कि अनेक विदेशी समाज यहाँ आए और इस देश पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए शताब्दियों तक संघर्ष करते रहे? हिंदुस्थान पर किसकी प्रभुसत्ता हो, इसका फैसला करने के लिए अंग्रेजों, फ्रांसीसियों और डचों ने आपस में लड़ाइयाँ की।

भारतवर्ष की दुर्बलता ही विश्व-अशांति का मूल कारण है और यह दुर्बलता हमें शीघ्रातिशीघ्र नष्ट करनी चाहिए। जिसमें सच्चा पौरुष होगा, वह दुनिया के सारे संकटों को ठुकराकर आगे कदम बढ़ाता है और साहस से अपनी मंजिल तक पहुँचता है। संघ हिंदुओं को आत्मनिर्भरता का पाठ पढ़ाना चाहता है। यह हिंदू समाज में पुनः चैतन्य निर्माण कर राष्ट्रीय पुनरुज्जीवन करनेवाला महान कार्य है।

यह कहना पड़ेगा कि जिनकी इच्छा है कि संघ नष्ट हो, वे हिंदू समाज के नष्ट होने की बाट जोह रहे हैं। संघ का विनाश हिंदू समाज के लिए आत्मघातक सिद्ध होगा। यह कहना पड़ेगा कि जो हिंदू बंधु संघ को नष्ट करने के उद्योग में लगे हैं, वे वृक्ष की उसी शाखा को काटना चाहते हैं, जिसपर वे बैठे हैं।

इस वर्ग में भारत के सभी प्रांतों से विविध भाषा-भाषी हिंदू बंधु आए हैं। हिंदूराष्ट्र का यह छोट-सा रूप है। संघकार्य केवल काल्पनिक अथवा तात्त्विक नहीं है। हम अपनी आँखों से उसे प्रत्यक्ष देख सकते हैं। प्रांतभेद व भाषा भेद मिटाकर दुर्बलता नष्ट करके हिंदू-समाज का संगठन करना चाहिए– ऐसा लोग अब तक केवल बोलते रहे हैं। परंतु अल्प प्रमाण में ही क्यों न हो, संघ ने वह बात साकार कर दिखाई है। बाहरी भेद मिटाकर हिंदुओं को उसकी आंतरिक एकता का ज्ञान कराने के अपने कार्य में संघ सफल हो रहा है। इससे समाज की प्रचंड शक्ति निर्माण होगी। इस वर्ग में भिन्न-भिन्न प्रांतों से आए बंधु अत्यंत प्रेम भाव से रहे हैं। इस बात से यही सत्य प्रकट होता है कि बाह्य भेदों के कारण उनकी आतंरिक एकता की भावना में किसी भी प्रकार की विकृति पैदा नहीं हो सकती। इस प्रकार की सच्ची एकता का अनुभव करना संगठित शक्ति का साक्षात्कार है। यह अनुभूति हमें हुई है। इसीलिए हम विश्वासपूर्वक कह सकते हैं कि

किसी भी भीषण परिस्थिति से समाज की रक्षा करने की संगठित शक्ति संघ द्वारा निर्माण हो रही है।

इस अवसर पर मुझे भगवान मनु की मछली की कथा स्मरण आती है। एक बार मनु ने जल से बाहर तड़पनेवाली एक छोटी सी मछली देखी। उस मछली पर उन्हें दया आई और उन्होंने उसे अपने कमंडलु में डाल लिया। थोड़ी देर में ही वह मछली बड़ी हो गई। उसे स्थान की कमी हुई, तब मनु ने उसे एक जलाशय में छोड़ दिया। उसे वह स्थान भी छोटा पड़ने लगा। इसलिए मनु ने उस मछली को उससे बड़े जलाशय में छोड़ा। आकार बढ़ते जाने के कारण उस मछली को क्रमशः नदी, महानदी और अंततः सागर में छोड़ा। प्रलयकाल में उस विशाल मछली ने ही अपनी पीठ पर आश्रय देकर भगवान मनु को बचाया। प्रलय शांत होने के पश्चात् मनु ने पुनः सृष्टि उत्पन्न की। संघ उसी मछली के समान निरंतर बढ़ रहा है। सारा संसार आज प्रलयावस्था में दिखाई देता है। वर्तमान भीषण अवस्था देखकर लोग भयभीत हो गए हैं और अपने जान-माल की रक्षा के लिए इधर-उधर भाग रहे हैं। चारों ओर अव्यवस्था फैली हुई है। घबराहट से लोग इतने मूढ़मति हो गए हैं कि शेर को आलिंगन देने को भी सिद्ध हैं। परंतु संघ निर्भयता से यही बता रहा है कि यदि हिंदू-समाज संगठित हुआ, तो वह अपनी और अपने धर्म की इस भीषण तूफान से रक्षा कर सकेगा। कैसा भी भीषणतम तूफान हो, संगठित समाज अपनी प्रचंड शक्ति से टूट कर गिरनेवाले आसमान को भी थाम सकेगा।

संघ शिक्षा वर्ग, १९४६

(समारोप बौद्धिक)

आज हम जो कार्यक्रम कर रहे हैं, वह गत एक मास से चलनेवाले शिक्षण वर्ग का समारोप समारोह है। विभिन्न स्थानों से आए हुए स्वयंसेवकों ने इस वर्ग में भाग लेकर जो शिक्षा प्राप्त की है, उसका एक छोटा-सा स्वरूप आपके समक्ष अभी प्रदर्शित किया गया। किंतु इससे यह निष्कर्ष निकालना कि इस शिक्षण वर्ग में अखाड़े की तरह केवल शारीरिक शिक्षा दी जाती है, सर्वथा भ्राँतियुक्त होगा। जो कुछ यहाँ प्रदर्शित किया गया, वह तो वर्ग में होने वाले दैनिक कार्यक्रमों का एक अंग मात्र है, जिसकी आवश्यकता स्वयंसेवकों को निरोगी और उत्साही रखने के लिए है।

जो प्रदर्शन किया गया, वह तो केवल उन लोगों के संशय निवारणार्थ है, जिनके लड़के-बच्चों ने इस वर्ग में भाग लिया है और जो प्रश्न करते हैं कि आखिर ये यहाँ आकर क्या सीखते हैं, क्या पाते हैं? परंतु संघ का उद्देश्य इससे बहुत ऊँचा है। संघ स्वयंसेवक के जीवन में एक विशेष परिवर्तन लाना चाहता है, जिसका दिग्दर्शन कराने का मैं प्रयत्न करूँगा।

संघ की स्थापना २० वर्ष पूर्व नागपुर में हुई थी। तब से शाखाओं की निरंतर वृद्धि होती गई। आज शाखाओं का जाल देश के प्रत्येक प्रांत में फैला हुआ हमें दृष्टिगत होता है। उस कार्य विस्तार की कल्पना इस वर्ग के द्वारा की जा सकती है। संघ की विशेषता क्या है? इसके संबंध में धारणा स्पष्ट होने की आवश्यकता है।

संघ की उत्पत्ति के समय देश की जो परिस्थिति थी उसका अवलोकन करेंगे तो हमें सारे प्रश्नों के उत्तर मिल जाएँगे। उस समय कोई व्यक्ति हिंदू समाज के हित के लिए आगे बढ़ता हुआ दिखाई नहीं देता था। नेता लोग बड़ी-बड़ी समस्याओं की बात करते थे। लोग उन्हीं विचार-तरंगों में बहे चले जा रहे थे। अखिल भारतीय प्रश्नों को हल करने का प्रयत्न तो था, किंतु यहाँ के मूलनिवासी, जिनका इस भूमि के साथ माता-पुत्र का आत्मीय संबंध है, उनकी दशा को सुधारने के लिए किसी को अवकाश न था। भारत को उठाने का प्रयत्न करो, हिंदू और अहिंदू के क्षुद्र सांप्रदायिक झगड़ो में मत पड़ो, चारों ओर यही विचार प्रकट किए जा रहे थे।

एक बार मैं अपने एक मित्र से मिलने गया। वे स्वास्थ्य विषयक बड़े-बड़े ग्रंथों का अध्ययन किया करते थे। पुस्तक की सहायता से योगाभ्यास भी करते थे। परंतु जिस कमरे में वे योगाभ्यास किया करते थे, वह बहुत ही गंदा और अव्यवस्थित था। मैंने उनका ध्यान इस ओर आकर्षित किया। उन्होंने मुझे उत्तर दिया, 'भाई, मनुष्य तन पाकर अंतर्मुखी हो प्रत्येक क्षण ब्रह्म का ही विचार करना चाहिए। इस अल्प जीवन में इन छोटी-छोटी बातों की ओर ध्यान देने का समय कहाँ है?' हमारी भी ठीक वैसी ही अवस्था है। बड़ी-बड़ी बातें सोचते हुए छोटी-छोटी सामाजिक बातों की ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। यदि उस ओर हमारे ध्यान को कोई आकर्षित करने का प्रयत्न भी करे, तो हमारे पास समय नहीं है– यह कहकर छुटकारा पाने की मनोवृत्ति दिखाई देती है। परंतु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि छोटे-छोटे पुर्जों को मिलाकर ही बड़े-बड़े यंत्र तैयार होते हैं। यदि एक छोटे से पुर्जे की खराबी की ओर ध्यान न दिया

गया तो सारी मशीन खराब हो सकती है। संपूर्ण मानव जगत् की भलाई करते हुए हम इस हिंदू समाज की ओर दुर्लक्ष नहीं कर सकते। प्रत्येक अंग को शुद्ध व पूर्ण करना होगा। इस अतिश्रेष्ठ समाज को यदि पतन के मार्ग से बचाने का प्रयत्न न किया गया, तो पता नहीं संसार का क्या होगा?

हिंदू समाज जनसंख्या, बुद्धिमत्ता व धन-संपत्ति से परिपूर्ण है। प्राचीन काल से ही बल, पराक्रम में अन्य समाजों से आगे रहा है। जगत्व्यापी व्यापार करनेवाले, शास्त्र-निर्माता, तत्त्वज्ञ और संस्कृति के अग्रणी पुरस्कर्ता यहाँ होते रहे हैं। महापराक्रमी राजनीतिकुशल पूर्वज और प्रखर राष्ट्रीयता से परिपूर्ण चंद्रगुप्त एवं चाणक्य जैसे अनेकों महापुरुषों ने यहाँ जन्म लिया है। चारित्र्य का सर्वांगीण विकास प्रदर्शित करनेवाले शिवाजी महाराज जैसे महापुरुष, जिनके सामने नेपोलियन एक बालक के समान है, इसी धरती और इसी समाज में हुए हैं। शंकराचार्य की बराबरी कौन कर सकता है? विवेकानंद जिन्होंने संसार भर में हिंदू संस्कृति का डंका बजाया अन्यत्र कहाँ मिलेंगे? परंतु ऐसे अनुपम महापुरुषों का जन्मदाता यह हिन्दू समाज आज कितनी दीन-हीन अवस्था में है। वैयक्तिक स्पर्धा व वैमनस्य के कारण सब कुछ होते हुए अधोगति को प्राप्त है।

हिंदू इतना स्वाभिमानशून्य हो गया है कि 'मैं हिंदू नहीं हूँ, मेरा इस समाज से कोई नाता नहीं'– यह कहने में भी उसे संकोच या लज्जा का अनुभव नहीं होता। ठीक भी है दुर्बल घटक के साथ अपना नाता कोई क्यों मानेगा? समाज में साहस नहीं, विश्वास नहीं, ऐसी विचित्र परिस्थिति उत्पन्न होती है, तब ऐसे टूटे-फूटे समाज को अपनाने के लिए बड़े-बड़े नेता भी तैयार नहीं होते। क्योंकि अपना मानने पर उसके पुनरुत्थान का उत्तरदायित्व उनपर आता है।

संसार की अन्य जातियों के वैभव व सामर्थ्य को देखकर हमारी आँखे चौंधिया गई हैं। स्वाभिमानशून्यता के कारण अपने समाज में परकीय अनुकरण की वृत्ति आ गई है। इस कारण भीख का कटोरा लेकर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मार्गदर्शन की भिक्षा माँगते घूम रहे हैं। यहाँ तक कि हमारा इतिहास भी हमें मालूम नहीं है। कुटिल बुद्धि से योजनापूर्वक लिखे गए विकृत इतिहास को पढ़ते हैं। तब धारणाएँ भी वैसी ही भ्रमपूर्ण बन जाती हैं और यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं होता कि 'हिंदू समाज पहले से ही ऐसा रहा है। एकता और प्रेम यहाँ कभी थे ही नहीं। परकीयों ने आकर इस उजड़े हुए देश को बसाया है।' लोग यह विचार नहीं करते

कि एक-एक देवता के लिए बनाए हुए अनेक महात्माओं के द्वारा स्थापित तीर्थ, मंदिर, मठ इस देश के कोने-कोने में फैले हुए हैं। इसके माध्यम से देश भर में एकता स्थापित की, क्या उन्होंने समाज की आत्मीयता और सांस्कृतिक एकता के दर्शन नहीं किए थे?

शंकराचार्य के समान अनेक विभूतियों ने इस समाज के सांस्कृतिक अधिष्ठान का साक्षात्कार किया था। हम किसी भी संप्रदाय अथवा पंथ का प्रसार देखें। संपूर्ण भारत में उसके अनुयायी मिलेंगे। क्या संपूर्ण समाज में एकता हुए बिना ऐसा संभव हो सकता था? हिंदू समाज में एकता न होने के प्रमाण में एक बात यह भी कही जाती है कि यहाँ अनेकानेक पंथ, संप्रदाय और मत-मतांतर हैं। किंतु आरोप लगानेवाले इस बात को समझने की चेष्टा नहीं करते कि यह पंथ और संप्रदाय क्यों चलाए गए। प्रत्येक पंथ का निर्माण समाज के किसी न किसी दोष को दूर करने की इच्छा लेकर समन्वय स्थापित करने की दृष्टि से हुआ है, न कि जातीय भेद उत्पन्न करने के लिए। वास्तव में भिन्नता तो अनुयायियों के अंधानुकरण के कारण निर्माण होती है, पंथ-निर्माताओं के द्वारा नहीं।

स्वामी दयानंद सरस्वती ने जब देखा कि हिंदू समाज की श्रद्धा परकीय विचारधारा में बढ़ रही है और वह अपनी प्राचीन परंपरा और संस्कृति से विमुख हो रहा है। इसलिए वैदिक ज्ञान में समाज की अवस्था बनाए रखने के लिए उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना की थी। परंतु आज उन्हीं के अनुयायी अपने को हिंदू समाज से भिन्न मान रहे हैं। महर्षि दयानंद का तो यह उद्देश्य नहीं था। उनकी दृष्टि तो संपूर्ण समाज के कल्याण की थी।

इसी प्रकार प्रत्येक महापुरुष ने इस समाज को पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया है। परंतु हमने अपने प्राचीन गौरवपूर्ण इतिहास को जाना नहीं, सांस्कृतिक जीवन के अधिष्ठान को पहचाना नहीं। स्वर्ण-गैरिक ध्वजा जो ज्ञान, प्रकाश, त्याग और यज्ञमय जीवन की साक्षात् मूर्ति है उसकी ओर हमारी दृष्टि जाती नहीं। इस पतन का कारण परकीय शिक्षा का प्रभाव और उससे उत्पन्न अपने समाज में विभिन्नताएँ देखने की दृष्टि ही है।

इतिहास की ओर दृष्टिपात करेंगे तो यही ज्ञात होगा कि ईरान, मिस्र, यूनान जैसे बड़े-बड़े साम्राज्य बने, वैभवसंपन्न हुए और कुछ समय के बाद अपनी आयु को पूर्ण कर धूल में मिल गए। परंतु हमारा समाज

अनादि काल से चिरंजीव है, मानो अमृत पीकर बैठा हो। शक, हूण जैसे अनेक आक्रमणकारी हमारी संस्कृति को नष्ट-भ्रष्ट करने के लिए आए, परंतु वे समुद्र की लहरों के समान हिमालय सदृश इस उत्तुंग समाज से टकराकर नष्ट-भ्रष्ट हो गए। जो बाकी बचे, वे इसी समाज में विलीन हो गए। उत्तर से आक्रमणकारी आते तो दक्षिण से विक्रमादित्य और मगध से सम्राट चंद्रगुप्त उनसे लोहा लेने के लिए चलते। आसेतु हिमाचल फैला हुआ महाराज अशोक और सम्राट पुलकेशी का एकात्मता और वैभव से परिपूर्ण साम्राज्य व सामाजिक जीवन परंपरागत एकता के प्रमाण हैं।

धार्मिक क्षेत्र की हमारी एकता के उदाहरण भी दुर्लभ नहीं हैं। जिस समय बौद्ध धर्म ने विकृत रूप धारण किया और उसे मिटाने के लिए शंकराचार्य निकले, तब सारे देशवासियों ने एक स्वर से यही कहा कि यदि उनके सर्वश्रेष्ठ आचार्य को वे जीत लेंगे, तो सारा समाज उनके आगे नतमस्तक हो जाएगा। और हुआ भी वैसा ही। यह है हमारी एकता और एकात्मता का प्रमाण। बाहर की शक्तियों के लिए इस मूलभूत सांस्कृतिक एकता के अधिष्ठान को मिटाना असंभव है।

हम फिर से उसी एकता का अनुभव कर सकते हैं। परंतु उसके लिए समाजसेवा का व्रत लेनेवाले व्यक्ति चाहिए। एक-एक व्यक्ति इस संकल्प को धारण करनेवाला हो कि इस पवित्र श्रेष्ठ हिंदू समाज की सुदृढ़ व्यवस्था कर इसे शक्तिशाली बनाऊँगा।

दिल में इस आकांक्षा की तड़प लिए एक नरवीर इस समाज में हुए। समाज पर होनेवाले प्रत्येक आक्रमण की चोट उनके हृदय पर होती थी। उसके करुणाजनक दुःखों को देखकर वह मन ही मन रोते थे। उसने समाज को पुनः बलशाली करने का निश्चय किया। उन्होंने यह भली प्रकार समझ लिया था कि अपना समाज दूसरों से भीख माँग कर खड़ा नहीं हो सकता। उसे अपने ही आत्मविश्वास के बल पर खड़ा करना होगा। अपनी पुरातन एकात्मता के अधिष्ठान पर समाज में सामर्थ्य-निर्माण की आकांक्षा से प्रेरित होकर उन्होंने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को जन्म दिया। उनका मानना था कि जब तक विराट शक्तिशाली समाज रूपी राष्ट्रपुरुष खड़ा नहीं होता, तब तक उसके श्रेष्ठ तत्त्वों की ओर कोई ध्यान नहीं देता।

विश्ववंदनीय महात्मा गाँधी के विषय में कुछ समय पूर्व तक एक अहिंदू नेता को यह कहने में जरा भी संकोच नहीं हुआ कि 'मैं अपनी

जाति के अत्यंत नीच, चरित्रहीन भ्रष्ट व्यक्ति को भी उनसे श्रेष्ठ समझता हूँ।' इसका कारण भी यही है कि जिस समाज के वे घटक हैं, वह आज दुर्बल है। यदि आज अपना समाज सबल होता तो संसार उनके आगे घुटने टेकता। हमारे समाज के लोगों को उनका यह अपमान खटकता नहीं?

जो नियम पशु-पक्षियों और कीट-पतंगों में दिखाई देता है वही नियम मनुष्य पर भी लागू होता है। आज भी हम देखते हैं कि तथाकथित सभ्य राष्ट्र छोटे-छोटे राष्ट्रों को हड़प कर जाते हैं। लोग कहते है कि अब पशुता का समय गया, मनुष्य का बहुत विकास हो गया है, वह पशुत्व से ऊपर उठ गया है। इसलिए पशु-जगत् के नियमों को छोड़कर मानवता का व्यवहार अपनाना चाहिए। किंतु सभ्य कहलाने वाले शक्तिशाली राष्ट्रों के बीच महासंहारक शस्त्रों के निर्माण की बाजी लगी हुई है। वह क्या प्रगतिशील मानवता का चिह्न है? क्या यह मनुष्यत्व के पशुत्व से ऊपर उठने का प्रमाण है? आज भी सारे राष्ट्र पशुभाव से चल रहे हैं। आखेट द्वारा उदरपूर्ति करनेवाले सिंह और शस्त्रधारी पुरुष में क्या अंतर है? बस यही कि शेर चार पैरवाला जानवर है और मनुष्य दो पैरवाला। यह एक वास्तविकता है, जो नित्यप्रति होनेवाली अनेक घटनाओं से सिद्ध होती है।

अतः इस अवस्था में यदि हम एक सबल राष्ट्र बनकर खड़े न हुए तो अपनी सारी प्राचीनता को नष्ट करने का पातक हमें लगेगा। यदि हम अपनी परंपरा के साथ जीवित रहना चाहते हैं तो अन्य समाजों की बराबरी की अवस्था हमें अवश्य प्राप्त करनी होगी। इसके बिना हमारा समाज-जीवन असंभव हो जाएगा। इस समाज को सुसंगठित एवं सुव्यवस्थित कर वैभवपूर्ण अवस्था प्राप्त नहीं करा लेते, तब तक हम सुख की नींद नहीं सो सकते।

जिनके हृदय में शुद्धता और निर्मलता है, वे इस कार्य को धर्म की उन्नति के प्रयत्न के रूप में देखेंगे, परंतु जिनके हृदय की भावना शुद्ध नहीं होगी, उनको संघकार्य का निर्विरोध स्वरूप दिखाई नहीं देगा। सूर्य के अपने कोई रंग नहीं होते। उसको जिस रंग के चश्मे से देखोगे उसी रंग का दिखाई देगा। संघ न तो किसी के विरोध में बोलता है और न ही विरोध में कुछ करता है। फिर भी कोई हृदय की अपवित्र और विकारयुक्त भावना से संघ पर प्रतिक्रियात्मकता का आरोप लगाते हैं तो लगाते रहें।

मेरी पहचान के एक डाक्टर ने मुझसे कहा, 'तुम्हारा संघ खाकसारों के विरोध में खड़ा किया हुआ है।' मैंने पूछा– 'इसका प्रमाण क्या है?'

उन्होंने एक समाचार-पत्र मेरे सामने रखते हुए इसमें समाचार आया है, इसे देखो। मैं तो कभी समाचार-पत्र पढ़ता नहीं। इसलिए उनको बताया कि मैं जानता नहीं कि खाकसार क्या बला है। उन्होंने बताया, 'यह मुसलमानों का एक संगठन है।' मैंने उत्तर दिया, 'यह तो अच्छी बात है। प्रत्येक समाज को संगठन करने का अधिकार है। हमें इससे कष्ट क्यों होगा?' इसपर भी उन्होंने पूछा 'क्या सचमुच आपका संघ खाकसारों के विरोध में नहीं है?' बार-बार बताने पर भी उनका समाधान नहीं होता था। तब मैंने उनसे प्रश्न किया 'आप यह बताइए कि इस संस्था का प्रारंभ कब हुआ?' उन्होंने बताया, 'सन् १९३३-३४ में।' मैंने कहा, 'संघ का जन्म तो सन् १९२५ में ही हो गया था। उस समय जो संस्था पैदा भी नहीं हुई हो, उसका विरोध करने के लिए १० वर्ष पहले ही संघ ने जन्म ले लिया था क्या?' मेरी बात उनके समझ में नहीं आई। फिर भी वे यही कहते रहे कि 'यह सब तो ठीक है, परंतु आपका संघ है खाकसारों का विरोधी।' तब क्या करता, उनकी बुद्धि को धन्यवाद देकर उनसे विदा ली।

भ्रम का एक और भी स्वरूप है। लोग संघ का नाता किसी न किसी राजनीतिक संस्था से जोड़ने का प्रयत्न करते हैं। इस विषय में हम स्पष्ट बता देता चाहते हैं कि हमारा किसी राजनीतिक संस्था के साथ संबंध नहीं है। हमारा नाता-संबंध सब कुछ हिंदू समाज के साथ ही है। किसी अन्य संस्था के तेज को लेकर नाचने वाले हम लोग नहीं। लोगों पर तो इस बात का भूत सवार है कि कोई चाहे किसी मत का हो, उसे राजनीतिक क्षेत्र में घसीटने का प्रयत्न अवश्य करेंगे। उनकी दृष्टि में राजनीतिक हलचल ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। किंतु राजनीतिक कार्य की अपेक्षा समाज के आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक एकरूपता के अधिष्ठान की रक्षा करना अधिक श्रेष्ठ है। हम सब प्रकार के राजनीतिक संघर्षों से दूर हैं।

अपने ही समाज की कुछ संस्थाएँ अथवा व्यक्ति-विशेष हमें बुरा-भला कहें, तो हम विचारशील होने के नाते उनकी सब बातें शांत बुद्धि से सुन लेंगे और उनका भ्रम निवारण करने की चेष्टा करेंगे। जो लोग आज हमारे साथ नहीं आते वे कल साथ आने ही वाले हैं, यही हमारा दृढ़ विश्वास है।

हमारा कार्य विधायक है और क्षुद्र भेद-भावों से ऊपर उठ ३२ करोड़ हिंदुओं को विराट् स्वरूप में खड़ा करने का है। इससे भिन्न अव्यापारेषु व्यापार करने की न तो हमारी नीति है और न ही विचार।

संघ शिक्षा वर्ग, १९४६

(दीक्षांत समारोप बौद्धिक)

अब विदा ले अपने-अपने स्थानों को लौट जाने का समय आ गया है। इस आनंदमय वातावरण में रहकर प्रत्येक स्वयंसेवक ने संघकार्य को समझने का भरपूर प्रयत्न अवश्य ही किया होगा। मेरा तो विश्वास यह है कि संघ में ज्ञान देने की दृष्टि से किसी प्रकार के कार्यक्रमों की योजना न भी की जाती, तब भी यहाँ का वायुमंडल कार्य का ज्ञान स्वयं ही करवा देता। आपके परिश्रम के साथ-साथ प्रबंधक वर्ग के प्रयत्न भी अतुलनीय हैं। अनेक प्रकार के कष्ट सहते हुए भी उनके मुखमंडल की प्रसन्नता सदैव बनी रही। इस प्रकार के सैंकड़ों व्यक्तियों के अहोरात्र परिश्रम से इस वर्ग का प्रबंध हो सका है। मेरा विश्वास है कि कार्यकर्ताओं ने अपने शब्द, व्यवहार और श्रेष्ठ सद्भावना से जो प्रयत्न किए हैं, वे अवश्य ही फलदायी होंगे।

कर्तव्य की शिक्षा

अब शिक्षित स्वयंसेवक के नाते हम यहाँ से जाएँगे। मैं शिक्षित स्वयंसेवक हूँ और अधिक योग्य होकर लौटा हूँ, इस दृष्टि से बाकी लोग मुझे देखें और सम्मान करें, यह अपेक्षा उत्पन्न हुई, तो कोई आश्चर्य नहीं। परंतु इस प्रकार की अपेक्षा अपने कार्य के लिए योग्य नहीं है। हम अधिकारी बनने की योग्यता प्राप्त करने आते हैं, अधिकारी बनकर लौटने के लिए नहीं। योजनानुसार किसी भी स्थान पर रहकर कार्य करने की सिद्धता प्राप्त करना ही हमारा लक्ष्य है। आदर, सम्मान, पूजा की अपेक्षा अनुचित है। यद्यपि मनुष्य में अभिमान स्वाभाविक है, तो भी अपने कार्य में तो यह बाधक ही होता है। जब तक हम इस भावना को अपने में से नहीं निकालते, तब तक कार्य भी नहीं कर सकेंगे। मैं कोई विशेष कार्यकर्ता हो गया हूँ, मन में इस भावना को स्थान रहा तो यह समझना चाहिए कि तत्त्व का सच्चा स्वरूप स्पष्ट नहीं हुआ। कितना भी बड़ा कार्यकर्ता क्यों न हो, अपने कर्तव्य के विषय में अहंकार नहीं होना चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं कि कार्यकर्ता में आत्मविश्वास का अभाव हो। कर्तव्य-निर्माण के लिए ज्ञान और आत्मविश्वास-- दोनों को जागृत रखना चाहिए। इसके अभाव में अवज्ञा और असफलता ही मिलेगी। हम जाते समय इसी समाधान के साथ जाएँ कि हमने पूर्ण और योग्य बनने की पूरी चेष्टा की है। इस समाधान में अभिमान के लिए कहीं स्थान नहीं रहता, क्योंकि मुझे

योग्य बनाने के लिए अनेकों कार्यकर्ताओं ने मेरी सहायता की है।

जिस व्यक्ति में कर्तृत्व है, उसके स्वभाव में अहंकार और वाणी में उग्रता आ जाना स्वाभाविक है। परंतु हम नैसर्गिकता के आगे सिर झुकानेवाले लोगों में नहीं हैं। यह स्वाभाविक बात है, इतना कह देने मात्र से हम उससे मुक्त नहीं हो सकते। संस्कारों द्वारा प्रत्येक व्यक्ति अपने में आश्चर्यजनक परिवर्तन कर सकता है। श्रीरामकृष्ण परमहंस के एक अत्यंत क्रोधी स्वभाववाले शिष्य थे। जरा-जरा सी बात पर उनका क्रोध जागृत हो जाया करता था। अपना मनोरंजन करने के लिए कोई न कोई उनको छेड़ता रहता था। उस भक्त की यह करुण दशा देखकर उसका स्वभाव बदलने की इच्छा से उन्होंने उसे संन्यास देने का निश्चय किया। शिष्यों की ओर से उस प्रस्ताव का विरोध होना स्वाभाविक ही था। उसको संन्यास देना तो संन्यास की विडंबना है, आदि-आदि अनेक बातें होने लगीं। परंतु रामकृष्ण परमहंस अपने निश्चय पर दृढ़ रहे और उसे विधिवत संन्यास दिया। प्राचीन परिपाटी के अनुसार संन्यासी संन्यास लेते समय अपना श्राद्ध कर ऐसा संकल्प करता है कि 'अब मैं स्वयं के लिए मर गया। मैं अपने पूर्व जीवन के सारे अवगुणों से मुक्त हो, ऐहिक जीवन छोड़, धार्मिक तथा आध्यात्मिक जीवन बिताने के लिए उद्यत हो गया हूँ।' इस संकल्प को उस महाशय ने भी किया। काशाय धारण कर अगले दिन जब वे गंगा-स्नान के लिए गए, तब दुष्ट बालकों ने उन्हें कई प्रकार से तंग किया। पूजा निमित्त एकत्रित की गई सामग्री को इतस्ततः बिखेर दिया। उनकी पोथी तक फाड़ डाली। परंतु उस सारी लीला को देखकर भी वे शांत ही रहे। सारी सामग्री को चुपचाप इकट्ठा किया और अविचलित भाव से ध्यानमग्न हो गए। लोगों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उनमें आया यह आश्चर्यजनक परिवर्तन संस्कार का ही परिणाम था। हृदय पर सत्संस्कार का प्रभाव हुआ, तो सारे अवगुण नष्ट हो सद्गुणों का प्रकाश निश्चित ही हो सकता है।

संघ शिक्षा वर्ग, १९५१

(१)

आप यहाँ संघ शिक्षा वर्ग करने आए हैं। जिस ध्येय को लेकर आगे बढ़ना है, उसका स्वरूप क्या है, उसकी रचना कैसी है, उस कार्य की पूर्ति की योजना क्या है, कार्यक्रम क्या हैं तथा उन्हें सफल करने के लिए

जीवन-रचना कैसी होनी चाहिए, परिवर्तन करना हो तो वह किस दिशा में करेंगे, इस सबकी स्पष्ट कल्पना प्राप्त करने के लिए ही यहाँ आए हैं। यहाँ इतनी गर्मी में सारे कार्यक्रम करते हैं। इसमें शरीर को सुख तो होता नहीं, कष्ट ही सहने पड़ते हैं। यह सब कष्ट स्वयंस्फूर्ति से स्वयं का खर्च कर करते हैं, क्योंकि अपने कार्य की पद्धति ही ऐसी है।

आत्मनिर्भर वृत्ति

बिहार की एक शाखा की बात है। वहाँ शाखा शुरू होने के पश्चात् शाखा को घोष की आवश्यकता प्रतीत हुई। परंतु आए कहाँ से? उसके लिए तो पैसे की आवश्यकता होती है। नागपुर वस्तु भंडार से पूछने पर उसने ३२५ रुपए का खर्च बताया था। अपने संगठन के पास तो पैसा होता नहीं और अपने काम के लिए किसी से दान भी माँगते नहीं। अपने यहाँ तो ब्रह्मवृत्ति की प्रेरणा और क्षात्रवृत्ति का व्यवहार, ऐसी कार्य की रचना है। क्षत्रिय कभी भीख नहीं माँगता। इसलिए भीख भी माँग नहीं सकते। हर काम के लिए पैसे अपने को ही एकत्र करने होते हैं। शाखा के स्वयंसेवकों ने एक बैठक कर पैसे जुटाना निश्चित किया। रातभर में २५० रुपए एकत्र हुए। ये पैसे कहाँ से आएँ? वहाँ न तो पैसे का पेड़ था, न राजा रघु के समान स्वर्ण की बरसात ही हुई थी। स्वयंसेवक अच्छे-अच्छे घराने के थे, अच्छे पढ़े-लिखे थे। उन्होंने एक समय का भोजन छोड़ा और पैसे एकात्र किए। स्वयंसेवकों के इस प्रकार के व्यवहार से लोग अवाक् रह जाते हैं। आजकल तो पेट की संस्कृति का बोलबाला है। यही सबसे पहला सवाल माना गया है, परंतु यहाँ तो स्वयंसेवकों ने घोष खरीदने के लिए भोजन छोड़कर पैसा एकत्र किया।

ऐसा केवल एक बार नहीं हुआ, कितनी ही बार स्वयंसेवकों ने इस प्रकार के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। सन् १९४० में नागपुर की गुरुदक्षिणा कम थी और दुर्भाग्य से तभी पूजनीय डाक्टर जी का स्वर्गवास भी हो गया। तब लोगों ने सोचा कि संघ तो अच्छा है, परंतु यह डाक्टर जी पर निर्भर था। अब काम कैसे चलेगा? उसका एकमात्र आधार चला गया है। इसी चिंता में हितैषी डूबे हुए थे। जो दुष्ट थे, विरोधी थे, उन्होंने सोचा चलो अच्छा हुआ, अब संघ समाप्त हो जाएगा। ऐसे समय में मुझ जैसे फकीर को डाक्टर जी के स्थान पर बैठा दिया गया। यह तो वैसा ही हुआ, जैसे एक राजकन्या का विवाह था। स्वयंवर के लिए अनेकानेक राजपुत्र व

राजा उपस्थित थे। उस समय की प्रथा के अनुसार हाथी की सूँड में माला दी गई। उसने राजपुत्रों और राजाओं को छोड़कर जयमाल एक दरिद्र, अनपढ़ को पहना दी। वह अनपढ़, गरीब व्यक्ति देखते-देखते राजा का दामाद हो गया। फिर उसकी सारी दरिद्रता तो दूर होनी ही थी। ऐसा ही कुछ मेरे साथ भी हुआ। एक दरिद्री, अज्ञात, निर्गुण आदमी संघ का सरसंघचालक हो गया। लोगों को जो कुछ सोचना हो, सोचा होगा, परंतु स्वयंसेवकों ने क्या सोचा? उन्होंने सोचा कि संगठन तो अमर है। संगठन एक ज्योति है, जो प्रत्येक के हृदय में है। वह बुझ नहीं सकती। वह तो और अधिक प्रज्ज्वलित होगी। संघ किसी एक व्यक्ति पर निर्भर नहीं है। यहाँ तो ध्येय को जाननेवाले और उसे हृदय में धारणकर चलनेवाले लोग हैं।

यह चिंता कि सारा हम सबको ही सँभालना है और आनंद इसलिए कि इस अमरत्व को सिद्ध करके लोगों को दिखाना है। इसका स्थूल रूप था हमारी सन् १६४० की गुरुदक्षिणा। उस वर्ष गुरुदक्षिणा अपेक्षा से अधिक हुई। सारे आश्चर्यचकित रह गए। इतना पैसा आया कहाँ से? चूंकि स्वयंसेवकों ने हृदय से कार्य किया, इसलिए वह उन्हीं के पास से आया। स्वयंसेवकों का निश्चयी भाव इसका कारण हुआ। उत्साह से ऐसा काम करें, जिससे सब संतुष्ट हों– मित्र भी, विरोधक भी। इसके लिए कितने भी कष्ट उठाने पड़ें, कितनी भी यातना सहनी पड़ें, पर करेंगे– इसी भाव के कारण यह हुआ। प्रत्येक स्वयंसेवक को यह भी ज्ञात नहीं होता कि कितनी गुरुदक्षिणा हुई, किसने कितनी की। अपने यहाँ तो सूची भी नहीं बनाते। किसी स्वयंसेवक की इच्छा भी नहीं रहती कि उसका नाम प्रकाशित हो। यह तो गुरुदक्षिणा है, एक बार दे दिया, हिसाब की आवश्यकता ही क्या है। क्योंकि वह चंदा नहीं है। किसी ने नौकरी करके, किसी ने मजदूरी करके पैसा बचाया व गुरुदक्षिणा की। स्वयंसेवक तो गरीब है, परंतु गुरुदक्षिणा ऐसी की कि रईस का बेटा क्या गुरुदक्षिणा करेगा। स्वयंसेवक वर्षानुवर्ष इस प्रकार कष्ट सहन करता है, परंतु क्यों?

स्वयंसेवक, याने दृढ़ता

निर्हेतुक होकर, कोई श्रेष्ठ लक्ष्य सामने रखने पर ही यह हो सकता है। किसी भव्य महान उद्देश्य को अपने सामने रखे बिना यह संभव नहीं। अपने स्वयंसेवक प्रचारक निकलते हैं। प्रचारक याने दृढ़ता का परिचय। घरवालों का स्नेह, अपना व्यक्तिगत जीवन, पारिवारिक सुख तथा

बाल-बच्चों के तथाकथित स्वर्ग-सुख को छोड़ना और संसार के सारे आकर्षणों के मध्य निर्लिप्त होकर रहना। पर वह यह सब करता है। सब प्रकार के आकर्षणों में न फँसते हुए, संपूर्ण समर्पण कर देना व अनेकानेक आपत्तियों में अपने कार्य पर अटल रहना, यह अग्निपरीक्षा ही है। भव्य-दिव्य, उदात्त ध्येय की प्राप्ति की इच्छा से ही वह सब करता है। परंतु आश्यर्च यह है कि अपने काम को समझने वाले, अपने विचार को माननेवाले भी कभी-कभी विरोध करते हैं। उनका आरोप रहता है कि संघ कुछ करता नहीं, किसी के काम आता नहीं।

कई लोग ऐसे होते हैं, जो संघ की शाखा पर ही पहले-पहल स्वयंसेवक शब्द सुनते हैं। इसके पूर्व 'स्वयंसेवक' कहते ही उनकी कल्पना होती थी– मुफ्त में कामकरने वाला व्यक्ति। स्वयंसेवक, याने दरी बिछाने वाला, कुर्सी-टेबल लगानेवाला, श्रोता अथवा प्रेक्षक बनकर बैठने वाला आदि-आदि। गुलाम मोहम्मद नाम का एक पहलवान परदेश गया। वहाँ के अति-प्रख्यात सेंडो नामक पहलवान से उसकी कुश्ती निश्चित हुई। उसने सेंडो को एक-दो बार नहीं, तीन बार परास्त किया। वह देखता ही रह गया। परंतु गुलाम देश से आए आदमी से वह हार कैसे मान सकता था? उसने कहा कि यह तो जादू है। उसने कहा कि मैं इतनी बड़ी व भारी चीज उठा सकता हूँ, तुम उठाकर दिखाओ। गुलाम मोहम्मद ने कहा, 'बोझा उठाना तो हमाल का काम है, मैं तो पहलवान हूँ, कुश्ती खेलना मेरा काम है। चाहते हो तो दो पकड़ और खेल लो।' इसी प्रकार हमारे स्वयंसेवक हमाल नहीं हैं। वे भाड़े के टट्टू नहीं हैं कि कोई भी जोत ले। परंतु संघवालों को अपने काम में न आता देखकर नाराज होनेवाले लोग ही संघ पर कुछ न करने का आरोप लगाते हैं।

एक बार एक सभा के सदस्य ने संघ के निषेध का एक प्रस्ताव रखा। किंतु सभा के अध्यक्ष ने कहा कि वे अपना काम अपने ढंग से करते हैं, हम अपने ढंग से करते हैं, उन्हें उनके अनुसार काम करने दो। तुम मुझे यह बताओ कि ये सारे स्वयंसेवक तरुण हैं, पढ़े-लिखे हैं, अच्छे घरों के हैं, उनके सामने उज्ज्वल भविष्य भी है, परंतु घर-बार, परिवार, भविष्य– सब छोड़कर वे संघ के लिए दिन-रात परिश्रम करते हैं, स्थान-स्थान पर संघ का काम हो रहा है। यह सब देखकर उन्हें बुरा कैसे कहूँ? तुम इतनी बड़ी-बड़ी बातें करते हो, तुम्हारे पास ऐसा एक भी आदमी है क्या? हमें ऐसे आदमी क्यों नहीं मिलते? उन्होंने यह भी कहा, 'हम काम

का प्रचार स्वयं के स्वार्थ के लिए करते हैं।' उन्होंने स्वयं की संस्था के एक कार्यकर्ता का उदाहरण देते हुए बताया कि वह संस्था के प्रचार-कार्य के लिए गया। साथ ही कार्य के लिए आवश्यक चंदा भी एकत्रित करना था। प्रयत्न करके उसने ४० रुपए चंदा एकत्र किया। लौटकर खर्चे व चंदे का हिसाब दिया। उसका खर्च ५२ रुपए था। उसने १२ रुपए संगठन से ही लिए।

हम तो अपनी पद्धति से चल रहे हैं, आगे बढ़ रहे हैं और भी आगे बढ़ेंगे। हमारे सामने कोई भव्य तत्त्व नहीं होता तो जो कुछ हम कर पाए हैं, कर नहीं पाते। किसी विशेष कारण के बिना कोई भी मनुष्य कष्ट नहीं झेलता। हमारे सामने जो भव्य लक्ष्य है, जिसकी पूर्ति के लिए हम संपूर्ण आकांक्षाओं को तुच्छ समझकर, सारे आकर्षणों को एक ओर रख आगे बढ़ रहे हैं।

'हिंदू' शब्द वादातीत

मनुष्य जब उत्पन्न होता है, तब से वह अकेला नहीं रहता। आसमान से गिरा और धरती ने झेला, इस प्रकार किसी की स्थिति नहीं होती। मनुष्य के जन्म के साथ ही कम से कम एक जीव के साथ उसका संबंध आता है– वह है उसकी जन्मदात्री माता। फिर बिना पिता के किसी का जन्म होता हो यह भी संभव नहीं। इसलिए पिता भी रहता है। इसके माता-पिता भी तो इसी तरह उत्पन्न हुए थे। इस प्रकार से उत्पत्ति की खोज की तो दिखाई देगा कि एक परंपरा ही खड़ी है। इस प्रकार की परंपरा के क्रम में, समाज के एक अंश में ही मनुष्य जन्म लेता है। इसलिए हम सब एक समाज के अंग हैं– यह भाव उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है।

परंतु वह कौन सा समाज है, जिसके अंशरूप हम हैं? हमारा समाज कौन सा है? विचार करने पर इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि वह हिंदू समाज है। संसार में भी हमें 'हिंदू' इसी नाम से पहचाना जाता है। अब लोग पूछ सकते हैं कि यह हिंदू नाम कहाँ से मिला? ऐसे प्रश्नों के जवाब में हमारे पूजनीय डाक्टर जी का एक ही उत्तर था– 'ये सारी बातें पंडिताई की हैं। मैं तो पंडित, विद्वान नहीं हूँ, इन प्रश्नों के उत्तर पंडितों को पूछो। मैं तो केवल संगठन जानता हूँ।' अपने काम में पंडिताई को कोई स्थान नहीं है। पूर्व पक्ष, उत्तर पक्ष, प्रश्नोत्तर, वाद-विवाद, चर्चा इत्यादि की आवश्यकता नहीं। संगठन ही हमारा शास्त्र है और उसको ही हम जानते हैं। बाकी सारी बातें जानते हों, तब भी नहीं बताएँगे। कभी-कभी

स्वयंसेवकों को भी लगता है कि क्या हमारे पास इन प्रश्नों के उत्तर नहीं हैं? क्या हम इनके उत्तर नहीं दे सकते? हमारा कहना है कि हम थे ही यहाँ, कहीं बाहर से आने का प्रश्न ही कहाँ उत्पन्न होता है।

कोई-कोई कहते हैं कि हमारा काला रंग बताता है कि हम सिंध या पामीर से आए हैं। किंतु हम तो एक सीधी बात जानते हैं कि इस 'हिंदू' शब्द की प्रेरणा लेकर लाखों-लाख लोगों ने अपनी जान लड़ाई है। उन सबके आत्मार्पण का सामर्थ्य इस शब्द में है। आखिर नाम तो किसी ऐतिहासिक घटना से ही प्राप्त होता है।

छत्रपति शिवाजी, महाराणा प्रताप, गुरु गोविंदसिंह का तेजस्वी इतिहास तो हिंदू को लेकर ही घटित हुआ है। उसे भूल सकेंगे क्या? स्वामी विवेकानंद, स्वामी रामतीर्थ, जिन्होंने सारा त्रिखंड पादाक्रांत किया। उन्होंने भी कहा, 'मैं हिंदू हूँ।' तब इस भूमि में रहने वाले हम हिंदू इस नाम को धारण करते हुए लज्जा का अनुभव क्यों करें? गंगा के भिन्न-भिन्न नाम– जाह्नवी, भागीरथी, हुबली, पद्मा इत्यादि– होने पर भी सबका उद्गम स्थान एक ही है। प्रवाह एक ही है। फिर नाम की चिंता क्यों? किसी भी नाम को लेकर आगे बढ़ने पर एक ऐतिहासिक परंपरा सामने खड़ी होती है। महाराणा प्रताप से लेकर अति अर्वाचीन ऐसे सन् १८५७ के स्वातंत्र्य संग्राम के वीर नानासाहब पेशवा, रानी लक्ष्मीबाई, जगदीश कुँवरसिंह आदि तक सबने इसी हिंदू नाम को लेकर सारा प्रयास किया। इसे समझने की आवश्यकता है। हम यहाँ रहते हैं, इसलिए यह हिंदुस्थान है। प्राचीन काल में इसका नाम आर्यावर्त या चाहे कुछ भी नाम रहा हो, आज तो हिंदुस्थान है। हिंदुओं का स्थान अर्थात् हिंदुस्थान। भारत के भिन्न-भिन्न नाम और भिन्न-भिन्न काल रहे होंगे, परंतु प्रारंभ से लेकर अभी तक का इतिहास बताता है कि इस भूमि का और हमारा अटूट संबंध है, अमर नाता है।

आज हिंदुस्थान की मनोवृत्ति ऐसी है कि परकीय जो कहता है, उसको सत्य माना जाता है। और अंग्रेज का वाक्य तो ब्रह्मवाक्य के समान ही होता है। परंतु डाक्टर जी ने कहा कि हम राष्ट्रीय हैं और इस कारण अपना संगठन करना चाहते हैं। एक सज्जन ने उनसे पूछा, 'आप हिंदुओं का संगठन करना चाहते हैं, तब क्या परकीयों को बाहर निकाल देंगे?' डाक्टर जी के 'हाँ' कहने पर उन्होंने कहा, 'हम आर्य भी तो बाहर से आए हैं।' डाक्टर जी ने उत्तर दिया, 'यह भी मान लिया। उनको भी बाहर निकाल देंगे। हम रहेंगे क्योंकि मैं तो आर्य नहीं हूँ, मैं तो पंच द्राविड़ों में

से हूँ। इसलिए अंग्रेजों से बाहर निकालना शुरू करेंगे, बाद में मुसलमान का नंबर आएगा। जो आखिर में आया, वह पहले जाएगा।'

झूठे तर्क को क्यों मानें

परकीयों ने तर्क लड़ाकर, शास्त्र बनाकर यह बताने की चेष्टा की कि हम हिंदू यहाँ के निवासी नहीं हैं। यहाँ के निवासी तो आदिवासी हैं। इसलिए संशोधन के विचित्र तरीके ढूँढकर, उसके पढ़ने के ढंग निकालकर यह सिद्ध करना चाहा कि हम बाहर से आए हैं। हम परकीय हैं। उन्होंने अपना हित सोचकर शरारतपूर्ण तरीके से ऐसा बताकर अपना राज्य अविरत रखना चाहा। भ्रम निर्माण कर फूट डालनी चाही। हमसे कहा कि तुम स्वराज्य की माँग कर रहे हो परंतु तुम तो हमारे जैसे ही बाहरी हो। यहाँ केवल आदिवासी थे, फिर आर्य नाम की जाति यहाँ आई। वैसे ही पामीर के पठार से लोग यहाँ आए, यूरोप से आए। यूरोप से आए लोग श्रेष्ठ जाति के होने के कारण प्रभावी व प्रगत थे। आर्य बाहर से आए– ऐसा भ्रम निर्माण करने में अंग्रेजों का स्वार्थ था। ऐसा भ्रम निर्माणकर स्वतंत्रता प्राप्त करने के प्रयासों की तेजस्विता व प्रखरता कम करने का प्रयास किया। पर हम उस अवास्तविक तथ्य को सत्य क्यों मानें?

अपने इतिहास का पहला पृष्ठ खोलने पर यह दिखाई देगा कि हम तो यहाँ के ही निवासी हैं। हिमालय, विंध्य इत्यादि सारा वर्णन यहाँ का ही है। माता की पवित्र भावना इसी भूमि के संबंध में ही वर्णित है। हम बंदर से उत्पन्न नहीं हुए और यदि ऐसा मान भी लिया तो भी वह डार्विन का बंदर भारत का ही था, पामीर का कदापि नहीं। हमारी इस भूमि के कण-कण के प्रति देखने की भावना कैसी पवित्र है, मानो सारे पापों का क्षालन करने के लिए भगवान ने उसका निर्माण किया हो। भूमि के प्रति माता की इसी भावना के कारण व्यवहार करते समय भूमि पर पैर रखते ही क्षमा माँगी– 'पादस्पर्शं क्षमस्व मे।'

हम भगवान के पुत्र, हमारी माता विष्णु पत्नी, तीनों ओर से कटि तक समुद्र, विंध्य स्तनमंडल के रूप में यह वर्णन भारत का ही है, अन्य किसी देश का नहीं। यह भूमि हमारी माता, हम इसके पुत्र यह भावना लेकर ही हम यहाँ पले, बढ़े और आज भी विद्यमान हैं। हमने अपना जीवन, अपनी संस्कृति, अपना मानव्य, अपना श्रेष्ठत्व सब कुछ यहीं पाया है। हमारा रेगिस्तान भी हमारे लिए दूसरों के नंदनवन से भी पवित्र है।

इसी पवित्र भावना को लेकर हमने राजस्थान में सैंकड़ों वर्षों तक संघर्ष किया। क्यों? क्या मिलता है वहाँ? खाने को अन्न नहीं, पीने को पानी नहीं, मगर यह संघर्ष रोटी-पानी के लिए नहीं था। रेत के कण-कण के प्रति श्रद्धा होने के कारण जीवन-मरण का खेल खेलनेवाले मानव यहाँ रहते हैं।

卐 卐 卐

संघ शिक्षा वर्ग, १९५१

(२)

व्यक्ति के नाते हमारा किसी न किसी समाज से संबंध रहता ही है। हमने हिंदू समाज में जन्म पाया है। इसलिए उसके संबंध में सद्भाव व अभिमान की भावना रखना उचित ही है। यह न रही तो जीवन को व्यर्थता प्राप्त होती है। जो अपने आपको भूला रहता है वह संसार के लिए भी उपयोगी नहीं रहता। इसलिए महापुरुषों ने कहा है कि मनुष्य के रूप में जन्म पाकर समाज का अंग, इस नाते अपना कर्तव्य समझकर क्या करना है– वह तय करना चाहिए।

हिन्दू श्रेष्ठ सत्य का आविष्कारक

अपने इस भूमिखंड पर हमने एक विशिष्ट जीवनप्रणाली का निर्माण किया है। मैं एक अतिश्रेष्ठ सत्य का आविष्कारक हूँ और केवल भूमि तक ही मर्यादित नहीं हूँ, इस चराचर सृष्टि से मेरा नाता है। उपासना-मार्ग भिन्न होंगे, उपासना-पद्धति अलग होंगी, किंतु चरम सत्य के बारे में जो वास्तविक प्रेरणा है, वह एक है। शिव, विष्णु, शून्य– सब एक ही सत्य हैं। सत्य का ज्ञान प्राप्त होते ही व्यक्ति जीवन के बंधन और संकुचितता से ऊपर उठ जाता है। यह विचार सामने रखकर जीवन-दृष्टि विकसित करना। इस विचार को कार्यरूप में परिणित करने के लिए आवश्यक पद्धति अपनानी पड़ती है, वही पद्धति पंथ या उपासना मार्ग बनती है। इसलिए पंथ की आवश्यकता रहती है। परंतु अंततोगत्वा पंथ और उपासना-मार्ग से ऊपर उठकर सत्य को अपने जीवन में धारण करनेवाला, नाम मर्यादा के परे जानेवाला ही सच्चा हिंदू है। इसका उसे सतत स्मरण बना रहे, इसलिए यह आवश्यक है कि उसे इस बात का भान कराया जाए कि वह हिन्दू है। उसे हिन्दू होने में अभिमान रहे।

अनुभवहीन वाणी का भ्रम

विद्वान लोग कहते हैं तो पूर्ण रूप से सोच-समझकर ही कहते होंगे। क्योंकि उनके शब्द अनुभव के आधार पर, ज्ञान के साक्षात्कार पर आधारित होते हैं। परंतु जिनको अनुभव नहीं, ऐसे छोटे लोग विचार न करते हुए बोलते हैं, तब भ्रम निर्माण होता है।

पाणिनि नाम के एक ऋषि हुए हैं। वे अपने शिष्य को व्याकरण पढ़ा रहे थे। शब्दों की व्युत्पत्ति आदि की खोज चल रही थी। 'व्याघ्र' शब्द की व्युत्पत्ति पर चर्चा हो रही थी कि मनुष्य की गंध का अनुभव कर एक व्याघ्र का वहाँ आना हुआ। लेकिन पाणिनि तो 'व्याघ्र' शब्द की व्युत्पत्ति क्या होगी, यह सोचने में ही मस्त थे। व्याघ्र को देखकर शिष्य तुरंत पेड़ पर चढ़ गया और गुरु को सचेत करते हुए कहा कि आप भी पेड़ पर चढ़ आइए। परंतु शब्द की व्युत्पत्ति खोजने में व्यस्त पाणिनि होश में कहाँ थे। व्याघ्र को सूँघते हुए आगे बढ़ता देखकर पाणिनि ने कहा, 'व्या जिघ्रति इति व्याघ्रः।' मगर व्याघ्र ने झपट्टा मारा और उन्हें खा गया। शिष्य रहा पेड़ पर और सारा ज्ञान, व्याकरण, शास्त्र, पाणिनि के साथ व्याघ्र के पेट में समा गया। किस समय क्या करना चाहिए यह ज्ञान न होने के कारण सब समाप्त हो गया। ऐसा ज्ञान तो अयथार्थ ज्ञान हुआ।

एक बार रामकृष्ण परमहंस ने चर्चा में बताया कि प्रत्येक जीव में नारायण का वास है, उसको समझना चाहिए। उनके एक शिष्य ने इस वाक्य को मन में रख लिया। एक समय वह एक रास्ते से जा रहा था कि सामने से हाथी आते दिखा। हाथी पागल था और महावत के काबू में नहीं था। महावत चिल्ला-चिल्ला कर बता रहा था कि 'भाइयो, रास्ते से हट जाओ। हाथी मेरे काबू में नहीं है। वह पागल हो गया है।' मगर शिष्य को तो प्राणी मात्र में नारायण देखना याद रहा था। वह साष्टांग नमस्कार करता हुआ हाथी के सामने लेट गया। हाथी ने अपनी सूँड से उसे उठाया और दूर फेंक दिया। सारा अंग ढीला हो गया और कहीं-कहीं से तो खून भी निकलने लगा। लहूलुहान अवस्था में वह गुरु के पास पहुँचा और कहने लगा, 'आपने मुझे सत्य नहीं बताया' और अपने साथ घटित सारा किस्सा कह सुनाया। अंत में उसने प्रश्न किया- 'मैं नारायण और हाथी भी नारायण, फिर उसने मुझे क्यों मारा?'

रामकृष्ण ने पूछा- 'हाथी अकेला था या उसपर महावत भी था?

वह कुछ कह रहा था या चुपचाप बैठा था?' शिष्य ने बताया– 'महावत कह रहा था रास्ते से हट जाओ, हाथी पागल है। वह मेरे काबू में नहीं है।' उन्होंने कहा, 'जब हाथी पर बैठा नारायण बोल रहा था कि एक तरफ हो जाओ, तब उसकी बात क्यों नहीं सुनी?'

विचार न करते हुए, बुद्धि से न सोचते हुए बड़ा वाक्य सुनकर उसका अनुसरण करने का यही परिणाम होता है। सारे समाज में आज यही भाव है। बड़े-बड़े विचार बोले जाते हैं, परंतु उसके अनुसार आचरण नहीं होता। यथार्थ ज्ञान न रखकर व्यवहार करने का परिणाम अच्छा हो ही नहीं सकता। 'ब्रह्म सत्यं जगन् मिथ्या'– जैसे वाक्य को भी सामान्य व्यक्ति ने रटना प्रारंभ कर दिया। छोटे दिमाग में बड़ी बात घुस नहीं पाई और वह निरुपोगी हो गई, मानो साइकिल की ट्यूब में मोटर के ट्यूब जितनी हवा भर दी गई हो। वैसे ही यह अर्थ निकाला गया कि हिंदू न रहना ही हिंदू रहना है। इसलिए अपने को हिंदू मत कहो। हिंदू के स्थान पर सकल मानवता की बात करनी चाहिए।

अंग्रेजों का कपट जाल

भारत की भूमि पर बाहर से आक्रमण होते रहे है। ऐसे युद्ध हुए कि सालों तक युद्ध ही होते रहे। मुगल तो आए ही, अंग्रेज, फ्रेंच, डच, पोर्तुगीज भी आए। उन्होंने एक दूसरे के साथ भी युद्ध किए। मानो एक हड्डी के लिए कुत्ते आपस में लड़ रहे हों। इस झगड़े में अंततः अंग्रेजों की जीत हुई। लोगों ने सोचा कि अंग्रेजों ने राज्य काबिज किया है, उनको यहाँ से निकालना चाहिए। उनको हटाए बिना सुख-चैन नहीं मिलेगा। हमारे नेताओं ने सुन रखा था कि अमरीका, इटली, फ्रांस ने स्वातंत्र्य-प्राप्ति के लिए आंदोलन किए थे। फिर क्या था, हम भी उसी प्रकार के आंदोलन कर अंग्रेजों को हटाने के लिए प्रस्तुत हो गए। पर अंग्रेज अधिक चतुर थे।

अंग्रेजों ने बुद्धिमत्ता से काम लिया। उन्होंने सोचा, यहाँ के निवासी हिंदू हैं। उनसे लड़कर ही राज्य प्राप्त किया है। स्वातंत्र्य की लिप्सा उनके ही मन में अधिक तीव्र है। 'हिंदू' कहते ही सबके एक हो जाने में देर नहीं लगेगी। यदि ऐसा हुआ तो यहाँ एक दिन भी रहना मुश्किल हो जाएगा। मुख्य खतरा हिंदू से ही है। इसलिए हिंदुओं के मन में 'हम हिंदू हैं' यह भाव नहीं रहना चाहिए। हिंदुओं को आत्मविस्मरण करवा देने पर ही यहाँ राज्य करना संभव होगा। इस दृष्टि से उन्होंने प्रयत्न आरंभ

किए और हिंदुओं को बड़ी-बड़ी बातें बतानी शुरू की। उन्होंने यह भी कहा कि हमें यहाँ सदैव राज्य नहीं करना है। परंतु परमेश्वर ने ही हमें यह भार सौंपा है। उसका आदेश है कि जाओ और जितने पिछड़े हुए देश हैं, वहाँ जाकर लोगों को सुधारो। इसीलिए हम सारा कष्ट उठाकर यहाँ आए हैं। अपने उत्तरदायित्व को निभाने के लिए, अर्थात् आपको अच्छा बनाने के लिए ही हम यहाँ रह रहे हैं। यह हमारा राज्य नहीं है। यहाँ तो हमें बहुत कष्ट हैं। इतनी गर्मी में रहकर सारा कारोबार सँभालने के लिए हमारे नवयुवक यहाँ आते हैं। १०-१२ साल इस आबोहवा में रहने के बाद वे हमेशा के लिए किसी काम के न रहकर वापस चले जाते हैं। हमें यहाँ राज्य करने में लाभ तो कुछ भी नहीं, कष्ट ही कष्ट हैं। यदि तुम अपना घर सँभालो तो अच्छा है। हमें कोई आपत्ति नहीं है।

उन्होंने कहा कि यहाँ अनेक जातियाँ हैं– आदिवासी, अछूत, पारसी, मुसलमान आदि (किंतु उन्होंने हिंदू का नाम तक नहीं लिया)। यहाँ अनेक पंथ हैं– सिख, जैन, बौद्ध, शैव, लिंगायत आदि (यहाँ भी उन्होंने हिंदू का नाम नहीं लिया)। यहाँ एक राज्य नहीं था। अनेक छोटे-छोटे राज्य थे, जो आपस में झगड़ते रहते थे। व्यर्थ का खून-खराबा होता था। किसी भी प्रकार से शांति नहीं थी। हम आए तो एक राज्य हो गया। आप सबलोग एक होकर कहेंगे, तो सब आपको सौंपकर हम वापस लौट जाएंगे। हमें राज्य का लोभ नहीं है। हम तो एक अनावश्यक भार से मुक्त हो जाएँगे। उन्होंने एक छोटी-सी बात करने के लिए कही कि आप केवल एक हो जाओ, युद्ध, आंदोलन आदि की कोई जरूरत नहीं होगी। हम अपने आप ही चले जाएँगे। उन्होंने इतना भारी प्रलोभन हमारे नेताओं के सामने रखा।

जाल में फँसे नेतागण

जब अंग्रेजों ने इतना बड़ा प्रलोभन दिया तो एकता के मृगजल को प्राप्त करने में हमारे नेता जुट गए। लेकिन एकता तो आंतरिकता से आती है, कृत्रिम रूप से स्थापित करने से नहीं होती। हिंदू तो एक था ही। अहिंदू समाजों को अपने साथ लाने के लिए प्रयत्न शुरू हुए। नेताओं ने सोचा कि पूर्वकाल में धर्म पर हुए आक्रमण, विदेशियों से हुए युद्ध, रक्तपात, जौहर आदि को हिंदू भूला नहीं है। ऐसे अत्याचारों का स्मरण रहा तो हिंदू-मुसलमान की एकता होने में कठिनाई होगी। एकता न हो सकी तो स्वातंत्र्य नहीं मिलेगा। इसलिए बड़े-बड़े नेता स्वातंत्र्य के लालच में एकता के लिए टूट

पड़े। इस एकता के लिए हिंदू को कहा गया कि हिंदूपन को भूलो, अपना इतिहास भूलो, मातृभूमि, परंपरा की भावना को भूलो, परकीयों ने नृशंस अत्याचार किए उनको भूलो। सारी बातें, चोटें भूलेंगे तब एकता की सुंदर खिचड़ी तैयार होगी। इसलिए सब भूलो।

हिंदू को तो सब भूलने को कहा, परंतु मुसलमान को उनका इतिहास भूलो कहने का साहस नहीं किया। ईसाइयों से भी इतिहास भूलने को नहीं कहा, क्योंकि वे नाराज हो गए तो स्वराज्य नहीं मिलेगा। इसलिए उनसे ऐसा कहने की हिम्मत नहीं हुई। सबसे अच्छा यह लगा कि स्वयं को भूलो। शिवाजी, राणाप्रताप, गुरु गोविंदसिंह के नाम कान में पड़ते ही अन्य समाज नाराज होते हैं, इसलिए उनका नाम मत लो, यह कहने में भी अपने नेताओं को कोई संकोच नहीं हुआ।

अंग्रेजों की चाल को हमारे नेता नहीं समझे। एक तो अंग्रेजों की बड़ी-बड़ी बातें और अपनी क्षुद्रता, स्वार्थ और मोह के कारण उनकी चाल में वे फँस गए। नेताओं की बार-बार की रटंत का परिणाम यह हुआ कि लोग हिंदू कहने में ही लज्जा का अनुभव करने लगे। बात यहाँ तक पहुँची कि यह कहने में भी संकोच नहीं रहा कि 'चाहे मुझे गधा कह लो, मगर हिंदू मत कहो।'

भ्रमित मन का परिणाम

हमारे लोग झूठे बड़प्पन में कितना फँसे, इसका उदाहरण मुझे असम प्रांत के प्रवास के दौरान देखने को मिला। अपने इस प्रांत के चारों ओर शत्रु राज्य है। अंदर ही अंदर ईसाइयों का आक्रमण चल रहा है, दूसरी ओर मुसलमानों की घुसपैठ बड़ी मात्रा में हो रही है। वहीं रूस और चीन जैसी साम्राज्यवादी शक्तियाँ भी सक्रिय हैं। इतना सब होते हुए भी जब वहाँ के एक सज्जन से हिंदू-संगठन की बात हुई, तो उन्होंने कहा, 'संगठन नहीं किया तो क्या होगा? हिंदू होने का आग्रह क्यों? हम हिंदू नहीं रहे तो क्या होगा? मानव के नाते तो जीवित रहेंगे ही?' उनसे यही कहना पड़ा कि 'इससे भी विशाल बनो। मानव ही क्यों? पशु बनकर भी जीवित रह सकते हो। सृष्टि चराचर से व्याप्त है, उस नाते और विशाल बनकर जी सकते हो। उससे भी अच्छी एक बात और हो सकती है कि मृत्यु का आलिंगन कर लो। पंच महाभूतों में विलीन होकर भी जीवित तो रहोगे ही।' इस प्रकार की प्रवृत्ति इन बड़ी-बड़ी बातों के कारण निर्माण हुई है। विश्व

को आलिंगन देने चले हैं और हाथ बँधे हुए हैं। यह अवस्था दिनोदिन वर्धमान हो रही है।

'मैं दुर्भाग्य से हिंदू हूँ' ऐसा कहनेवाले लोग भी आज विद्यमान हैं। क्या करें, उनको अपने माता-पिता चुनने और देश चुनने का अवसर नहीं था। इसलिए उनके संबंध में यह आघात हुआ। यह वाक्य उन्होंने असावधानी में ही कहा होगा, परंतु कभी-कभी मनुष्य असावधानी में भी सत्य बोल जाता है। अब क्या करें, गलती से ही सही, अपघात से ही सही, जन्म तो भारत में और इस हिन्दू समाज में हुआ है। इसलिए इस समाज के प्रति कुछ कर्तव्य है या नहीं? मैं इस समाज का घटक हूँ- ऐसा अभिमानपूर्वक कहे बिना यह कर्तव्य पूरा नहीं हो सकता। स्वाभिमानपूर्वक हिंदू कहकर, हिंदू जीवन रग-रग में होने का साक्षात्कार अनुभव करना अतिआवश्यक है। तब कहीं समाज के प्रति जो कर्तव्य है, वह पूरा कर सकेंगे, उसे निभा सकेंगे।

यथार्थ ज्ञान आवश्यक

आत्मविस्मृति की अंधकारमय गर्त से इस समाज को बाहर निकालने के लिए हिंदुत्व का प्रखर भाव संघ ने ही रखा है। संघ ही याद दिलाता है कि 'मैं हिंदू हूँ' और इस विशाल हिंदू समाज का अविभाज्य अंग हूँ। तेजस्विता तथा उत्कटता को धारण कर वर्तमान को पार कर जाने को उद्यत होकर भविष्य का निर्माण करने का भाव संघ ही सिखाता है। इसे ध्यान में रख, किसी भूल-भुलैया, किसी व्यामोह में न फँसकर, मिथ्या ज्ञान के पीछे, अयथार्थ ज्ञान को लेकर न चलें।

सच्ची विशालता भूलकर भी गलत बात नहीं कहती। जिनको अधूरा ज्ञान है, वही गलत बात कहते और करते हैं। अर्जुन के ऐसा कहने पर कि 'आप्त-स्वजनों को नहीं मारूँगा, चाहे हाथ में झोली लेकर 'भैक्ष्यमपीह लोके' करना पड़े।' भगवान कृष्ण ने ऐसा नहीं कहा कि 'हे! अर्जुन तू धन्य है। चलो हम दोनो भीख माँग कर जीवन निर्वाह करेंगे।' उन्होंने अर्जुन को यह बताकर कि मित्र कौन है, शत्रु कौन है युद्ध के लिए प्रवृत्त किया। तथाकथित सत्य-अहिंसा के पुजारी बनकर विश्व को अपनाने का आधा ही ज्ञान होता तो, चलो, अच्छा हुआ 'झंझट टली'- ऐसा कहते।

स्वामी विवेकानंद की एक अप्रकाशित कथा है। स्वामी जी यूरोप से आए थे। यूरोप में उनका जो गौरव हुआ था, उसे सुनकर इस देश के

लोगों को उनका व्यक्तिमत्व ज्ञात हुआ। उनसे मिलने और दर्शन करने बहुत से लोग आते थे। उनमें पढ़े-लिखे युवक भी रहते थे। एक युवक मिलने आया उस समय वे सामने के मैदान में टहल रहे थे। स्वामी जी उसे भी साथ लेकर घूमते हुए उससे चर्चा करने लगे। उस युवक के मन में अपने स्वयं के बारे में, अपने समाज के बारे में बड़ा ही घृणा व हीनता का भाव था, परंतु आधुनिक वायुमंडल के कारण वह बड़ी-बड़ी बातें कर रहा था। सब सुनकर स्वामी जी ने उससे एक प्रश्न किया—'तुम्हारी माँ मंदिर में दर्शन करने के लिए जा रही हो और उस समय किसी ने आकर उसे छेड़ा तो क्या करोगे?' उसने तुरंत उत्तर दिया, 'उसे फाड़ डालूँगा।' स्वामी जी ने कहा—'तुम्हारी माता की माता जो मातृभूमि है, उस पर परकीय शासन कर रहे हैं, उसे अपमानित कर रहे हैं, फिर भी वे जीवित हैं और तुम निश्चिंत हो।' यह था स्वामी विवेकानंद जैसे संन्यासी का यथार्थ ज्ञान। उन्होंने तो संसार का मोह छोड़ा था, फिर भी अपने देश व धर्म की पूरी चिंता थी।

समाज भाव का जागरण

मैं हिंदू हूँ, हिंदू समाज का अंग हूँ, इस समाज को अक्षुण्ण व चिरंजीव रखने की आकांक्षा हृदय में लेकर आगे बढ़ूँगा। समाज सबसे ऊपर है। एक बिंदु अमर नहीं, पर प्रवाह अखंड है। धारा के रूप में वह चिरंजीव है। इसी प्रकार समाजरूपी चिरंजीव धारा के साथ अपने को एकरूप बना देना चाहिए। इस समाज का जीवन सुखमय, प्रभुत्वपूर्ण बने, इसलिए मर्त्य शरीर की सारी शक्ति इसी काम में लगाकर अमर बनूँगा। यह आकांक्षा, उत्कट भावना हृदय में जागृत हो। उसके लिए कर्तव्य का ज्ञान तथा परिश्रम करने की तत्परता और प्रेरणा लेकर चलने को उद्यत होने का भाव चाहिए। भगीरथ से लेकर आज कलियुग तक समाज का प्रवास अखंड है। समाज की इसी जीवन-धारा में, चिरंजीव धारा के साथ चिरंजीवित्व प्राप्त करने की आकांक्षा से ही व्यक्ति अमर हो सकता है। इस अमरत्व के साक्षात्कार के लिए समाज को अक्षुण्ण रखकर वह निकोप रहे, प्रभुत्व के साथ रहे, ऐसा प्रयत्न सारी शक्ति लगाकर करते हुए अमर होने का विचार रखकर समाज की सेवा के लिए जीवन खर्च करने की तैयारी चाहिए। यह भाव व्यक्ति-व्यक्ति के हृदय में जागृत कर उसे कर्तव्य मार्ग पर अग्रसर करना ही आज का सर्वप्रथम कर्तव्य है।

संघ शिक्षा वर्ग, १९५१

(३)

हिंदू समाज हमारा समाज है और हम उसके अंग होने के कारण, उसकी उन्नति की जिम्मेदारी हम पर है। कोई भी समाज हवा में नहीं रहता। इसके रहने का स्थान निश्चित होता है। हमारे लिए यह निश्चित स्थान आसेतु हिमाचल फैला हुआ यह हिंदुस्थान देश है। हम तो कहते ही हैं, सबने इसे माना है। अंग्रेजों तक ने इसे स्वीकार किया है। किंतु बाद में अपने स्वार्थ के लिए परकीय लोगों ने यह प्रचार किया कि यह एक देश नहीं है। वे कहने लगे कि भारत तो भिन्न-भिन्न लोगों का निवास स्थान है। यूरोप के समान यहाँ अनेक देश, राष्ट्र व समाज हैं। उनके कहे को मानकर अपने लोग भी इसमें अभिमान मानने लगे कि अनेक प्रकार की जलवायु, अनेक समाज, अनेक राज्य और राष्ट्रों का समूह यह खंड है। जिस प्रकार अमरीका में है, उसी तरह हमें भी करना चाहिए। परंतु इससे एकात्मता भंग होती है, उन्हें इसका ज्ञान ही नहीं है।

युगों-युगों से राष्ट्रत्व का बोध

शब्दों का यथार्थ ज्ञान नहीं होता, तब ऐसा होता है। परंतु इसका परिणाम यह हुआ कि हमने स्वयं होकर एकात्मता का भाव खो दिया। अंग्रेज भी यही चाहते थे कि हम आपस में लड़ मरें, जिससे उनका राज्य चिरंजीव हो। उन्होंने कहा यहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र व भिन्न-भिन्न संप्रदाय के लोग रहते हैं, लेकिन हिंदू कोई नहीं है। उनका यह कहना सही है क्या? अंग्रेज जाति जब पशुवत जीवन जी रही थी, रहना-पहनना भी नहीं सीख पाई थी, तब से हमने इस सत्य को पहचाना है कि हम हिंदू हैं और यह हिंदुस्थान हमारी मातृभूमि है। जिन्होंने अपनी बुद्धि पाश्चात्य लोगों को बेच दी है, उन्हें भले ही पता न हो, परंतु अपने पुराणादि ग्रंथों में भारत का वर्णन स्पष्ट रूप से विष्णु पुराण (२-३-१) में मिलता है–

उत्तरं यत् समुद्रस्य, हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्ष तद् भारतं नाम, भारती यत्र सन्तति।।

हिंदुओं के हृदय में हिंदुस्थान के संबंध में यह भाव स्वाभाविक ही है कि यह भूमि हमारी है और हम इस भूमि के पुत्र हैं। चाहे वह भाव प्रकट हो या अप्रकट। कभी कोई इसे समझ सके या न समझ सके, परंतु

मन ही मन हर एक हिंदू के अंतःकरण में यह भाव विद्यमान रहता है। यहाँ जन्म हुआ यह अपघात है— ऐसा कहने वाले हिंदू के मन में भी है, वह उसे स्वीकार करे या न करे। यह हमारी भूमि और इस पर हमारा ही स्वामित्व रहे, परकीयों का यहाँ कुछ नहीं, उनका स्वामित्व यहाँ रहने न पाए— यह भाव ही राष्ट्रीयता का भाव है।

शंकराचार्य ने छोटी-सी आयु में पैदल घूमकर सबको प्रभावित करते हुए धर्म के क्षेत्र में व्याप्त पाखंड को नष्ट किया। अपना परिश्रम व्यर्थ न हो और सारे लोग भारत की एकात्मता का, अखंडता का दर्शन कर सकें, इसलिए चार दिशाओं में चार धाम प्रस्थापित किए और इस माध्यम से संसार को सूचित किया कि तीनों ओर समुद्र और उत्तर में हिमालय— यह भारत की सीमा है। बड़े-बड़े मेलों के समय तो भारत की एकात्मता के दर्शन सहज ही हो सकते हैं। भ्रम के कारण हो अथवा धृष्टता के कारण, हमें इन सब बातों का विस्मरण हुआ है। इसलिए फिर से उसका जागरण करने की आवश्यकता है।

अभिजात राष्ट्रभक्ति

लोग कहते हैं कि राष्ट्रभक्ति तो अंग्रेजों से सीखनी चाहिए। लेकिन वास्तव में ऐसा है नहीं। राष्ट्रभक्ति हमारे लिए नया विचार नहीं है। अति-पुरातन ग्रंथों में भी राष्ट्र और राष्ट्रभक्ति प्रकट करनेवाले कितने ही उदाहरण हैं। अभी-अभी का उदाहरण है— एक साधु थे। देहात में जन्म लेने के कारण उनका शिक्षण नहीं हो सका। तब अंग्रेजी का ज्ञान होने का तो प्रश्न ही नहीं था। किंतु उनमें भारत पर अभिमान की भावना प्रबल थी। उनका कहना था कि 'भारत में जन्म लिए बिना किसी को मोक्ष नहीं मिल सकता। यह भोगभूमि नहीं, मोक्षभूमि है।' जब उनसे पूछा गया कि 'भारत पर श्रद्धा रखनेवाले, उसके प्रामाण्य ग्रंथों को मानकर उसके चिंतन में मग्न रहनेवाले शोपेनहावर तथा उनके प्रिय शिष्य पाल डायसेन जैसों का क्या होगा?' उत्तर में उन्होंने कहा, 'इस श्रद्धा के कारण वे मृत्यु के पश्चात् भारत में जन्म ग्रहण करेंगे, उसके बाद ही उन्हें मोक्ष मिलेगा। इस देह से तो मैक्समूलर को भी मोक्ष नहीं मिलेगा।' 'दुर्लभं भारते जन्म, मानुषं तत्र दुर्लभं।' इतना प्रखर अभिमान कि संसार के लोगों को लालायित होकर यहाँ आना पड़ेगा और फिर मोक्ष प्राप्त होगा। वह अभिमान अंग्रेजी ज्ञान के बिना ही था।

हिंदू साम्राज्य की वर्धमान अवस्था में पानीपत के युद्ध के बाद उस साम्राज्य की बुद्धि और बाहुबल में झगड़ा हुआ। इसपर पेशवा ने दोनों को समझाया और दोनों से वचन लिया कि दोनों देश के लिए यह आपसी झगड़ा भूल जाएँगे। समझौता होने पर पेशवा ने निजाम राज्य में स्थित अपने वकील गोविंदराव काळे को पत्र में अपना आनंद व्यक्त करते हुए लिखा था कि 'अटक से समुद्र तक यह हमारी भूमि है, तुर्कों की नहीं। यह हिंदुस्थान है, तुर्कस्थान नहीं।' यह उन्हें अंग्रेजों ने नहीं पढ़ाया था। मातृभूमि के प्रति यह भावना स्वभावतः व अभिजात थी।

मातृभूमि पर प्रेम, सुख-दुख व जय-पराजय में एक अनुभव, एक ही धर्मश्रद्धा, एक ही जीवन-प्रणाली, एक ही जीवनधारा, एक ही उमंग, भविष्य का एक ही प्रकार का चित्र, एक ही आकांक्षा हिंदुओं की ही हो सकती है। अन्य लोगों के जो दो-चार नाम दिखते हैं, वह भी अपने किसी स्वार्थ के लिए ही। केवल हिंदू ही शुद्ध भाव से चिंता करता हुआ दिखाई देता है।

सनातन हिंदूराष्ट्र

एक सज्जन ने कहा 'हिंदुस्थान राष्ट्र कभी नहीं रहा और हिंदूराष्ट्र तो हमने सुना ही नहीं।' अब बहरे ने सुना नहीं, अंधे ने देखा नहीं, तो क्या वह वस्तु है ही नहीं? अंधे ने लंदन कहाँ देखा है, परंतु वह है। आँखें खोलेंगे तो दिखेगा। हम जो नहीं जानते, वह अस्तित्व में नहीं है, ऐसा मानना या कहना निरी मूर्खता है। कुछ लोगों को आँखों से देखकर भी नहीं दिखता। कुछ दर्पण ऐसे होते हैं जो प्रतिबिंब को बिगाड़कर दिखाते हैं। चेहरा तो जैसा है वैसा ही रहता है। दोष तो विकृत दर्पण में चेहरा देखनेवाले का होता है। उल्लू देखने की चेष्टा करने पर भी सूर्य भगवान को नहीं देख सकता। सूर्य भगवान का उदय होते ही उल्लू छुप जाता है। वह देख ही नहीं सकता, इसमें दोष सूर्य भगवान का नहीं है।

आज प्रादेशिक राष्ट्रवाद का उदय हुआ है। यह तो कुरता देखकर आदमी को पहचानने जैसा है। भूमि पर से राष्ट्र तथा मकान पर से मालिक होने का निर्णय करना कितनी विपरीत कल्पना है। इस भूमि को माता के रूप में मानकर हमने इसमें चैतन्य भर दिया, इसलिए

ही तो यह राष्ट्र है। नहीं तो यह एक निश्चल भूखंड है। यह हमारे चैतन्य से चैतन्यमयी है। प्रादेशिक वाद का विचार तो इसके विपरीत है।

ऐसा कहा जा रहा है कि यहाँ रहनेवाला प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्रीय है। एक सज्जन से मैंने पूछा कि 'इन आनेवालों के लिए समय की कुछ सीमा है क्या?' उसने जवाब दिया– 'यदि कोई आज भी आए तो वह राष्ट्रीय होगा।' इसका मतलब यह हुआ कि इस भूमि पर कदम रखते ही वह राष्ट्रीय हो जाता है। यह तो बड़े ही आनंद की बात है। यह बात हुई उन दिनों हमारे यहाँ परकीयों का राज्य था और रैमसे मेक्डोनाल्ड इंग्लैंड के प्रधानमंत्री थे। वह कुछ दिन पहले ही भारत आ चुके थे। मैंने उक्त सज्जन से कहा 'ऐसी बात है तब तो हम आजाद ही हैं। स्वतंत्रता के लिए प्रयत्न करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। आपकी बात सही है, तब तो रैमसे मेक्डोनाल्ड भी यहाँ के राष्ट्रीय हो गए। यहाँ उनका ही राज्य है। फिर हम परतंत्र कैसे हैं? हमारा ही आदमी इंग्लैंड से हम पर राज्य कर रहा है। इतना ही नहीं तो हमारा ही आदमी इंग्लैंड पर राज्य कर रहा है, अर्थात् हमारा ही राज्य इंग्लैंड पर है।' मेरे ऐसे कहने का उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया।

प्रादेशिक राष्ट्रवाद की बातें स्वराज्य प्राप्ति के प्रलोभन और दूसरे लोग क्या कहेंगे– इस भीरुता में से निर्माण हुई हैं। एक बड़े नेता ने मुझसे कहा, 'आपकी बातें तो सही हैं पर आप बड़े जोर से हिंदूराष्ट्र की बातें करते हो। इससे बाकी लोग, विशेषकर मुसलमान नाराज होंगे।' लोगों की राजी-नाराजी देखकर इस प्रकार की कायरतापूर्ण बातें की जा रही हैं। अब स्वयं को कायर मान नहीं सकते इसलिए उसे छुपाने के लिए मानवता, विश्वबंधुत्व, क्षमा, उदारता आदि के कुतर्क देते हैं। यह सारी बातें तभी सही मानी जातीं, यदि उनके मन में स्वयं का, अपने परिवार का, अपने दल का स्वार्थ न होता, किंतु सारी बातें इससे ग्रस्त होकर ही की जाती हैं।

इस सारे भ्रमपूर्ण प्रचार के बाद भी सत्य तो सत्य ही रहता है। और वह सत्य यह है कि यहाँ अनादि काल से हिंदू ही रहता आया है और इस पुनीत भारत माता के हम पुत्र हैं।

ि ि ि

संघ शिक्षा वर्ग, १९५१

(४)

अनुभवजन्य ज्ञान का आधार

संघकार्य अकस्मात् या बिना सोचे-विचारे प्रारंभ हो गया हो— ऐसी बात नहीं है। कभी-कभी महत्त्व की बातें बिना सोचे-विचारे आकस्मिक हो जाती हैं। महाकवि वाल्मीकि को काव्य का स्फुरण ऐसे ही हुआ था। क्रौंचवध को देखकर यकायक वाल्मीकि के मुख से एक सुंदर श्लोक निकल पड़ा। अपने भावों को शब्द में प्रकट होता देखकर वाल्मीकि स्वयं ही हैरान हो गए थे। काव्य भाव का विषय है। भावना की उत्कटता से उसका संबंध है। किंतु राष्ट्रोत्थान के कार्य में ऐसा नहीं चलता। अच्छा हुआ तो मेरा, खराब हुआ तो भगवान का, इस भावना के भरोसे कार्य नहीं होता। डाक्टर साहब ने एक-एक बात पर विचारकर इस कार्य की निर्मिति की है। उस समय भारत में कितनी ही संस्थाएँ थीं। कुछ लोगों का तो काम ही संस्था-निर्माण करने का रहता है। उस प्रकार का शौक उन्हें नहीं था। उन्होंने कई संस्थाओं में काम करने और अनुभव प्राप्त करने के पश्चात् देखा कि उन संस्थाओं के मार्ग सही दिशा की ओर ले जानेवाले नहीं हैं, बल्कि अवनति की ओर अग्रसर हैं। जिस कार्य से राष्ट्र का भला न होता हो, राष्ट्र का लाभ न होता हो, वह कार्य ठीक है, ऐसा कैसे कहा जा सकता था। इसलिए उन संस्थाओं में काम करना डाक्टरजी ने ठीक नहीं समझा। स्वयं की आत्मवंचना करना एक सद्‌विचारी के लिए संभव न था। तब दूर दृष्टि रखकर योजनाबद्ध व अनुभवजन्य ज्ञान के आधार पर संघ का निर्माण किया।

प्रगतिशीलता अथवा प्रतिगामिता

आजकल प्रगतिशील तथा प्रतिगामी— इन शब्दों के अर्थ विपरीत हो गए हैं। जैसी मन में कल्पना आए उसके अनुसार करने के लिए दौड़ पड़ना, यही मानो आज की प्रगतिशीलता हो गई है। इस व्याख्या को सही मान लिया जाए, तो जितने भी पागल हैं, उनको सबसे अधिक प्रगतिशील मानना पड़ेगा। वास्तव में तो जो मनुष्य जीवन को सफल बनाने के लिए आगे बढ़ता है, वही प्रगतिशील होता है और इस मार्ग पर आगे बढ़ना प्रगतिशीलता। दूसरे शब्दों में, पशुभाव से ऊपर उठकर, भोगवृत्ति पर विजय

पाकर समाज के लिए अपना जीवन अर्पण करने की भावना का नाम ही प्रगतिशीलता है और इससे पीछे हटानेवाला मार्ग प्रतिगामी। आज तो मनुष्य के जीवन में कर्तव्य के लिए कोई स्थान ही नहीं है। रोटी, कपड़ा और मकान की बातों में सारे डूबे हुए दिखाई देते हैं। परंतु यह तो प्रगतिशीलता के नाम पर प्रतिगामिता है।

हमारा श्रद्धास्थान

आज राष्ट्र तथा मातृभूमि का विस्मरण हो जाने के कारण उसके प्रति श्रद्धा का अभाव दिखाई देता है। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि लोगों में इस भाव को पुष्ट किया जाए कि राष्ट्रोत्थान के नाम पर मातृभूमि के प्रति अनादर और अश्रद्धा का भाव निर्माण करनेवाले कार्य से संबंध-विच्छेद कर उसे पुष्ट करने के लिए एक भी कदम आगे बढ़कर मातृभूमि का अनादर नहीं करूँगा।

मातृभूमि, यह मेरा श्रद्धास्थान है। उसकी मानमर्यादा को सुरक्षित रखने का भाव मन में रहना चाहिए। हमारी मातृभूमि के कितने ही अपमान हुए किंतु उसकी दिल पर कोई चोट नहीं, उसका कोई दुःख नहीं, उस अपमान से अपमानित नहीं, यह तो पाप है– घोर पाप। इस पाप से मुक्त होने के लिए मैं हिंदू हूँ, यह भारत-भूमि हमारी है, वह हिंदू राष्ट्र है, इस सिद्धांत पर हम आगे बढ़े हैं। लेकिन ये शब्द अपने अंतःकरण से निकलें व अपने प्रत्येक व्यवहार से प्रकट हों, ऐसा अपना आग्रह है। इस छोटी-सी बात को हम अपने कण-कण में व्याप्त देखना चाहते हैं।

ध्येयानुरूप नामकरण

अपने संघ का जन्म पहले हुआ, नाम उसे बाद में दिया गया। यह अति व्यावहारिक बात है। आजकल किसी संस्था का निर्माण होता है तो पहले नाम रखा जाता है। उसका जम कर प्रचार किया जाता है। भले ही संस्था अस्तित्व में न आ पाए। इसका अर्थ यह नहीं कि डाक्टर जी प्रचारतंत्र जानते नहीं थे। उस तंत्र के निर्माता विदेशी होंगे, परंतु ज्ञाता हम हैं। लोगों ने इसका प्रत्यक्ष अनुभव किया है।

बात उन दिनों की है जब डाक्टर जी चिकित्सकीय शिक्षण के लिए कोलकाता में थे। 'वंदेमातरम्' का उद्घोष करने के कारण जिन विद्यार्थियों को अन्यत्र प्रवेश बंद हो गए थे, ऐसे विद्यार्थियों के लिए देशभक्तों ने कुछ विद्यालय व महाविद्यालय शुरू किए थे। कोलकाता का वह चिकित्सा

महाविद्यालय ऐसे में से ही एक था। अंग्रेज सरकार ने ऐसे महाविद्यालयों को मान्यता नहीं दी थी। सरकारी मान्यता न होने के कारण ऐसे महाविद्यालयों में पढ़कर जो डाक्टर बनते, वे डाक्टरी का व्यवसाय नहीं कर पाते। इसलिए मान्यता-प्राप्ति के लिए भरपूर प्रयत्न किए गए, मगर भरसक प्रयास के बावजूद मान्यता प्राप्त करने में सफलता नहीं मिली। इस स्थिति में विद्यार्थियों का निरुत्साहित व निराश होना स्वाभाविक था। तब डाक्टर साहब ने सारी जिम्मेदारी अपने पर ली। वे अमृत बाजार पत्रिका के संपादक मोतीलालजी घोष के पास पहुँचे और उन्हें बताया कि सरकार द्वारा कुछ चिकित्सा महाविद्यालयों को जानबूझकर मान्यता न दिए जाने के कारण विद्यार्थियों में बहुत आक्रोश है। वे आंदोलन करने वाले हैं। आप अपने समाचार-पत्र में उस आंदोलन को पर्याप्त स्थान दें। मोतीलाल जी ने कहा, 'आप, अपनी सभा का स्थान बता दिया करें, समाचार लाने की व्यवस्था हम कर लेंगे।' डाक्टर जी ने कहा –'आप, कष्ट न करें, हम ही सारा प्रतिवेदन आप तक पहुँचा दिया करेंगे।' मोतीलालजी ने अपनी स्वीकृति दे दी। इसके पश्चात् डाक्टरजी विश्वविद्यालय के कुलपति सर आशुतोष मुखर्जी के पास गए। मान्यता के विषय में उनसे भी चर्चा की। कुलपति महोदय ने कहा, 'क्या करें! विद्यार्थियों का पर्याप्त दबाव ही नहीं है, नहीं तो गवर्नर महोदय से कुछ कहता।' डाक्टर जी ने उन्हें बताया कि, 'विद्यार्थी आंदोलन करनेवाले हैं, उसकी पूरी जानकारी हम आपके पास भेजेंगे। उसके आधार पर आप हमारी सहायता कर सकते हैं।' उन्होंने भी अपनी स्वीकृति दी। फिर क्या था, सभापति के नाम, कार्यवाह के नाम, सभा का स्थान, पारित प्रस्ताव के समाचार धूमधाम से समाचार पत्रों में छपने लगे। पुलिस विभाग हैरान हो गया। लाख सिर पटकने पर भी वह सभा के बारे में पहले से कोई सुराग प्राप्त नहीं कर पा रहा था। पुलिस व गुप्तचरों को धता बताते हुए सभाएँ हो रही थीं। सरकार परेशान थी। कोलकाता वैसे भी क्रांतिकारियों का शहर था। सरकार की दृष्टि से असंतोष का बढ़ना खतरनाक हो सकता था। इस कारण गवर्नर चिंतित था। एक दिन समाचार-पत्रों की कतरनों का गट्ठा लेकर कुलपति महोदय उनके पास गए। गवर्नर महोदय ने कुलपति से पूछा– 'मामला बढ़ता जा रहा है, क्या करना चाहिए?' सर आशुतोष मुखर्जी ने कहा, 'इतनी छोटी-सी बात पर असंतोष क्यों बढ़ने दिया जाए? मान्यता देने में क्या बिगड़ता है?' विवश हो गवर्नर ने मान्यता दे दी। एक भी सभा नहीं हुई,

कोई सभापति नहीं, परंतु अपनी चतुराई से अंग्रेज सरकार को भी चकरा दिया। डाक्टर जी प्रचारतंत्र को अच्छी तरह जानते थे लेकिन उन्होंने संघ के लिए कभी उसका उपयोग नहीं किया।

काम शुरू हुआ। स्वयंसेवकों के हृदय में भावना दृढ़ हुई। चैतन्य बढ़ा, उसके पश्चात् संघ का नामकरण हुआ। बच्चा पैदा होने के कुछ दिन बाद जब विश्वास हो जाता है कि यह जी जाएगा, अब कोई खतरा नहीं है, तब उसका नाम रखा जाता है। यह नैसर्गिक व व्यावहारिक भी है। ऐसा ही संघ के साथ भी हुआ। नाम भी अनेक लोगों से परामर्श और विचार करने के बाद ही रखा गया। सब नामों पर चर्चा करने के बाद ही 'राष्ट्रीय' शब्द का चुनाव किया गया। लोगों ने कहा कि 'राष्ट्रीय' नाम रखा तो सबको लेना पड़ेगा। फिर हम जो करना चाहते हैं, वह नहीं हो सकेगा। डाक्टर जी का कहना था कि ऐसा सोचना राष्ट्र के बारे में विकृत धारणा के कारण है। राष्ट्र का अर्थ 'धर्मशाला' नहीं होता। हिंदुस्थान हिंदूराष्ट्र है– इस विचार को ही सदैव अपने सामने रखना आवश्यक है। इसलिए राष्ट्रीय शब्द का इतना आग्रह किया। उस समय के भ्रमपूर्ण वातावरण में भी उन्होंने साहस व दृढ़ता के साथ अपने विचार रखे, जिससे हिंदू मन पर सदैव यह संस्कार होता रहे कि हिंदू अर्थात् राष्ट्रीय। वे इस विषय में किसी प्रकार का समझौता नहीं कर सकते थे। ठीक बात के लिए आग्रही होने का उनका स्वभाव था।

प्रमाण के परे

यह हिंदू राष्ट्र है– ऐसा अपने हृदय के साक्षात्कार और हृदय की शुद्ध प्रेरणा होने के कारण इस विषय में किसी को किसी प्रकार का प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है। डाक्टर साहब का जीवन अतिशुद्ध था, उसके द्वारा उन्होंने इस सत्य का साक्षात्कार किया था। हमें दूसरे प्रमाण की आवश्यकता क्या है? किसी भी बात में सर्वश्रेष्ठ प्रमाण याने चारित्र्यपूर्ण, शुद्ध जीवन की प्रेरणा है। स्वामी विवेकानंद का उदाहरण है। वे उस समय नरेंद्र थे। ईश्वर को जानने की इच्छा से वे प्रत्येक साधु के पास जाकर सीधा प्रश्न पूछते थे– 'ईश्वर है क्या? आपने देखा है क्या? लेकिन किसी से भी समाधानकारक उत्तर नहीं मिला। इसी क्रम में वे रामकृष्ण परमहंस के पास भी गए। उनसे भी उन्होंने वही प्रश्न पूछे। वहाँ उनके दोनों प्रश्नों का उत्तर 'हाँ' में मिला। रामकृष्ण परमहंस के यह कहने पर कि 'हाँ! ईश्वर को देखा

है। जैसा तुम्हें देख रहा हूँ, वैसा ही उसे भी देखता हूँ', अविश्वास न कर सके। क्योंकि उन्होंने रामकृष्ण परमहंस के जीवन का पावित्र्य अपनी आँखों से देखा था, इसलिए उनकी बात को प्रमाण माना। 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में कालिदास ने लिखा भी है– सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु। प्रमाणमन्तः करणप्रवृत्तयः।।

शुद्ध अंतःकरण की प्रेरणा ही है कि हम यहाँ के राष्ट्रीय हैं और यह हिंदूराष्ट्र है। फिर दूसरे प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। राष्ट्रीयत्व का यह मंत्र हमें तीस करोड़ में से प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में भरना है।

संघ शिक्षा वर्ग, १९५१

(५)

संघ की आवश्यकता

प्रारंभिक काल से हम जिस सत्य को लेकर चले थे, उस सत्य का विस्मरण ही संघ के निर्माण का कारण है। विस्मरण इस बात का कि यह हमारी मातृभूमि है, यह हमारा समाज है, हमारी एक परंपरा है, जिसे लेकर हमने एक आदर्श जीवन का निर्माण किया था। इस विस्मरण से संघ निर्माता व्यथित हुए थे। इस विस्मरण को हटाने के लिए इस कार्य को शुरू किया था। क्योंकि विस्मरण और मृत्यु– दोनों एक समान होते हैं। क्या हम इस प्रकार का मरण स्वीकार करेंगे? हम तो 'अमृतस्य पुत्राः' हैं, परंतु आज हम अपना आत्मज्ञान खो बैठे हैं। आत्मविस्मरण के इस अंधकार को दूर करके आत्मज्ञान का सूर्य प्रकट कर हम फिर संसार के सामने एक महान आदर्श के नाते खड़े रहेंगे, इस आकांक्षा को लेकर संघ-निर्माता ने यह कार्य प्रारंभ किया है।

लोग प्रश्न पूछते हैं कि आत्मज्ञान का यह सूर्य ढका कैसे? किसी भी सत्य को कुछ समय के लिए झूठे प्रचार से ढका जा सकता है। समाजवाद के अंग कम्युनिज्म तथा नाजीज्म के प्रचारतंत्र का एक सूत्र है कि असत्य बात को बार-बार तथा जोर से कहकर, इस प्रकार का भ्रम निर्माण करना कि जो बात कही जा रही है, वही सत्य है। परकीयों के ऐसे ही झूठे प्रचार के कारण यहाँ भ्रम निर्माण हुआ और उसके परिणामस्वरूप आत्मविस्मरण हुआ। 'त्रयाणाम् धूर्तानाम' की कथा इस प्रचारतंत्र को बहुत

ही सुंदर ढंग से विशद करती है। इसी प्रकार संशय में पड़कर ब्राह्मण ने तीनों धूर्तों के कहने में आकर गाय के बछड़े को फेंक दिया था। ऐसे प्रचार के कारण पहले अपने स्वयं के बारे में अविश्वास होता है और फिर दूसरों का कहना ही सत्य लगने लगता है। कई बार पढ़े-लिखे विद्वान जल्दी धोखे में आते हैं। मैं तो कहूँगा कि विद्वान ही जल्दी धोखे में आते हैं।

हमारे देश में कहा जाता है कि 'हिंदू' शब्द अच्छा नहीं है। एक प्रकार से गाली ही है। आप हिंदू कहकर अपने को छोटा क्यों बनाना चाहते हो। गाली का उपयोग तो कोई स्वयं के लिए करता नहीं, इसलिए हिंदू शब्द का प्रयोग अपने लिए मत करो। हिंदू याने विश्वासघात की परंपरा, पराजय का इतिहास है। फिर आप उसे क्यों स्वीकार करते हो? दूसरा यह कहा गया कि हिंदू कहने में लाभ तो कोई है नहीं, अन्य लोग नाराज होते हैं। यह तो बड़ी हानि की बात है। तीसरी बात यह कि यहाँ कोई राष्ट्र ही नहीं है, अभी उसका निर्माण करना है। अतः यह भूल जाओ कि हम कौन थे, कौन हैं। इसलिए इस हिंदू शब्द को छोड़ दो।

समाज की अधिष्ठात्री शक्ति

साधक-बाधक प्रमाण देकर यह सिद्ध कर देने भर से कि यह भूमि हमारी है और हम इसके अभिन्न अंग हैं अथवा कोई ग्रंथ या लेख लिखने से क्या होगा? इससे राष्ट्र की कोई भलाई नहीं होगी। उसके लिए सार्थक प्रयत्न भी करने होंगे। यदि हमें राष्ट्र को चिरंजीव बनाना है तो सत्य को संसार के सम्मुख इस प्रकार रखना होगा कि संसार इसे माने। संसार की सारी शक्तियों को आह्वान देकर अपने राष्ट्र को निर्भयता के साथ खड़ा करना होगा। एक बार एक सज्जन ने कहा कि 'डाक्टर साहब द्वारा दिया गया मार्गदर्शन और विचार गीता में अच्छी तरह प्रकट हुए हैं। इसलिए गीता की एक आवृत्ति प्रकाशित कर प्रत्येक घर में पहुँचाने का प्रबंध कर देने से समाज में कर्तव्य की, कर्मठता की, धर्माधर्म की भावना व ज्ञान जागृत होगा। इससे ही सारा समाज एकसूत्र हो जाएगा।' लेकिन ग्रंथों या लेखों में ऐसी शक्ति नहीं होती। समाज को समझाने का अधिष्ठान है दंड। दंड, याने लाठी नहीं। वह तो उसका बाह्य स्वरूप है। दंड अर्थात् सामर्थ्य। राष्ट्र के पीछे शक्ति का सामर्थ्य हो तो वह उसके चिरंजीवित्व का आधार होता है। वही उस राष्ट्र की नींव होता है। वह सामर्थ्य राष्ट्र पर आपत्ति आते ही स्वयं प्रेरणा व स्फूर्ति से समाज पर आई आपत्ति को दूर करने के लिए सिद्ध हो जाता है।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि इस शक्ति का परिमाण क्या हो? उसका स्वरूप क्या हो? इसका परिचय कैसे प्राप्त किया जाए? समाज की सारी आपत्तियों को दूर कर, आगे बढ़ने की प्रेरणा देने तथा परकीय आक्रमण हो तो उसे हजम करने की शक्ति कितनी है, इसपर से समाज के सामर्थ्य को जाना जा सकता है। परकीय आक्रमण का सामना कर उसका नामोनिशान भी न रहे– ऐसी शक्ति, यह अच्छे सामर्थ्य का स्वरूप है। अच्छा शरीर तो वही माना जाता है, जिसमें सारी बातें हजम हो जाती हैं। कभी भूल से कुछ लोहा भी चला गया तो वह भी हजम हो जाए, ऐसी शक्ति होनी चाहिए।

आत्मसातीकरण

हमारे राष्ट्र में पहले ऐसी शक्ति थी। इसके कितने ही उदाहरण दिए जा सकते हैं। हमारे देश पर ग्रीकों का आक्रमण हुआ, पर वे ग्रीक आज कहाँ हैं। उनका सारा ग्रीकपन समाप्त हो गया। वे इस राष्ट्रजीवन के साथ आत्मसात हो गए। उनके द्वारा निर्मित श्रीकृष्ण मंदिर आज भी राजस्थान में देखा जा सकता है। वैसे ही मुगल आए उनको भी हजम कर आत्मसात करने का प्रयत्न हुआ। यद्यपि वह पूर्ण नहीं हुआ। फिर भी प्रयत्न हुआ। संत एकनाथ का एक शिष्य शेख मोहम्मद नाम का था। मुसलमान होने के कारण उसे मंदिर में प्रवेश नहीं करने दिया गया। तब भी वह केवल मंदिर के कलश को देखकर ही संतुष्ट हो अपने को धन्य मानता था। भगवान श्रीकृष्ण के जीवन पर रसखान का कितना मधुर काव्य है। मलिक मोहम्मद जायसी का काव्य सूरदास से भी श्रेष्ठ है। अपना प्रभाव दूसरे पर डालने का उसे प्रभावित करने का ही यह परिणाम है कि मलिक मोहम्मद जायसी और रसखान जैसे कवि हुए। इस प्रकार अपने शत्रु को अपने प्रभाव से प्रभावित कर उसे इस राष्ट्र की पावन गंगा में सम्मिलित कर लेना ही श्रेष्ठ पद्धति है।

अपना तत्त्वज्ञान श्रेष्ठ है। लेकिन केवल तत्त्वज्ञान, न्यायनीति दुनिया में चलती नहीं। न्याय के अनुसार हमारी यह भूमि अखंड है। फिर भी परकीय इसे खंडित करने में सफल हुए। इसका कारण था उनकी शक्ति और हमारे लोगों का स्वार्थ। उस समय इस न्याय्य बात पर डटे रहने की इच्छा तथा साहस यहाँ किसी को नहीं हुआ। जिन्होंने आश्वासन दिए थे, उन्होंने भी उसका पालन नहीं किया, क्योंकि न्याय्य बात पर अटल रहकर

पुरुषत्व का परिचय नहीं दिया गया। इतना ही नहीं तो अन्याय के प्रति चिढ़ या रोष भी नहीं था। यह पुरुषत्व का लक्षण नहीं है। महाभारत के उद्योग पर्व (१३३-३२) में तो पुरुषत्व के निम्नलिखित लक्षण बताए गए हैं–

एतावानेव पुरुषो यदमर्षी यदक्षमी।
क्षमावान् निरमर्षश्च, नैव स्त्री न पुनः पुमान्।।

मातृभूमि का अपमान परकीयों ने किया और हमने उसे सहन किया। इतना बड़ा अपमान होने पर भी उसका समर्थन करते रहे। यह क्या न्याय का उदाहरण है? कश्मीर का उदाहरण भी हमारे सामने है। भौगोलिक, राजकीय और सबसे बढ़ कर सांस्कृतिक दृष्टि से कश्मीर हमारा ही अंग है। उस पर भी आक्रमण हुआ। सारा मामला अपने बल पर न निपटाते हुए संयुक्त राष्ट्र संघ में उसकी फरियाद ले गए। यह तो ऐसे ही हुआ जैसे किसी व्यक्ति की पत्नी का कोई दूसरा अपहरण कर ले जाए, तब वह उसे छुड़ाने का प्रयत्न करने के स्थान पर कोर्ट में मुकदमा चलाए। संसार में ऐसे आदमी का सम्मान नहीं होता। क्योंकि उसमें पुरुषत्व का लक्षण न होने के कारण सब उसकी ओर घृणा की दृष्टि से देखते हैं। पौरुषहीनता के कारण ही कश्मीर का मामला तीन साल से संयुक्त राष्ट्र संघ में लटका हुआ है। इसके पीछे कौन सा सत्य, कैसा न्याय और किस प्रकार का नैतिक सामर्थ्य है? हमारे झगड़े में फैसला परकीय क्यों करेंगे? हमें ही करना चाहिए। यदि उसका पाकिस्तान के साथ जाने में लाभ है, तो उसे पाकिस्तान को दे देना चाहिए। अलग रखने में लाभ हो तो उसे अलग रखें। यदि हिंदुस्थान के साथ रखना है तो अपने साथ मिलाएँ। किंतु हमारी दुर्बलता के कारण कश्मीर का निर्णय विश्व-शक्तियों के स्वार्थ पर अवलंबित है। संयुक्त राष्ट्र संघ वही निर्णय करेगा, जिस प्रकार का निर्णय देने से उनके स्वार्थ की पूर्ति होगी, लाभ होता होगा। हम सामर्थ्य संपन्न होंगे तो दुनिया कहेगी 'आप कहते हो, वही ठीक है।'

वैभव का साधन

तथाकथित प्रगतिशील राष्ट्रों का मंत्र है– वासना बढ़ाओ, परंतु हमारा मंत्र है वासनाओं का त्याग। क्योंकि वासना कभी भी पूरी तरह से तृप्त नहीं होतीं। बढ़ी हुई वासना को तृप्त करने के लिए पर्याप्त साधन उपलब्ध नहीं होते, तब उनकी पूर्ति के लिए दूसरों के साधनों को अनुचित रीति से प्राप्त करने का प्रयास होता है। इसी प्रयास में संघर्ष और युद्ध होते हैं।

हाल ही में मुंबई में एक सम्मेलन हुआ। विश्वभर के देशों से प्रतिनिधि उस सम्मेलन में भाग लेने आए थे। अमरीका से जॉन थॉमस नाम के सज्जन पधारे थे। उनकी अध्यक्षता में ही सम्मेलन संपन्न हुआ था। वह थॉमस क्यों आए थे? किसने उन्हें आमंत्रित किया था? उन्हें बुलाने का एक मुख्य कारण यह था कि आनेवाले आम चुनाव में सत्ताधारी दल के विरुद्ध आर्थिक सहायता प्राप्त करना। क्योंकि भारत के प्रधानमंत्री अमरीकी नीति से सहमत नहीं हैं। इसलिए उनकी सहायता लेकर साम्राज्यवाद प्रस्थापित करने के उद्देश्य से ही वह आयोजन किया गया था। उनक मंतव्य भी पूरा हुआ। ऐसा सुनने में आया है कि जॉन थॉमस ने उनको भरपूर आर्थिक सहायता दी है। 'अर्थस्य पुरुषो दासः' यह है आर्थिक सहायता का अर्थ, परंतु भ्रम में डालने के लिए बातें विश्वबंधुत्व की और हेतु डालर की सहायता से साम्राज्यवाद के निर्माण का। यह तो नए ढंग से, नए रूप में भारत में जयचंदों का निर्माण करना है। विश्वशांति के लिए प्रयत्नशील राष्ट्रों का मूल उद्देश्य यही है कि अपना साम्राज्य निर्माण हो। उनका साम्राज्य रहे चाहे उसके लिए किसी दूसरे को नष्ट ही क्यों न करना पड़े।

इसलिए वासना बढ़े, किंतु उसकी रचना ऐसी हो कि सबकी वासनाएँ पूर्ण हो सकें। इसी आधार पर सब वादों की परीक्षा और सफलता निर्धारित होगी।

आसुरी प्रवृत्ति प्रत्येक काल में रही है। सुरासुर प्रवृत्तियों का झगड़ा हमेशा से ही चलता आया है। राक्षस, याने अति भीषण रूप धारण करनेवाले भयंकर जीवन नहीं होते। वे होते तो मानव ही हैं। उनके कर्मों के कारण उन्हें 'राक्षस' कहा जाता है। रावण तो ब्राह्मण था। वेद-वेदांग पारंगत विद्वान था। शूर था। उसका राज्य सारे शस्त्रास्त्रों से सज्ज था। लंका अति समृद्ध नगरी थी, इसलिए उसे 'स्वर्णमयी लंका' कहा जाता था। लोगों को सुख के सारे साधन उपलब्ध थे। जिस चीज की आवश्यकता हो, वह प्राप्त थी। इतना सब होने पर भी रावण का भाव यह था कि कोई उसका विरोध न करे। इस राक्षसी प्रवृत्ति के कारण शेष जगत् को अपने पैरों के नीचे रगड़ता हुआ, अपना सामर्थ्य सर्वदूर प्रस्थापित करते हुए, इतना ही नहीं तो साक्षात् मृत्यु को जीत लेने के विचार से संपूर्ण भूतल पर अपना अधिकार करना चाहता था। इस वृत्ति व कर्म के कारण वह 'राक्षस' कहलाया। आसुरी प्रवृत्ति के साथ असीम शक्ति भी रहती है। इसका वर्णन गीता के अध्याय १६, श्लोक १४ में ठीक ढंग से किया हुआ है–

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी।।

इस प्रवृत्ति के लोग अपनी इच्छापूर्ति के लिए मानवता को कष्ट देने में किसी प्रकार का संकोच नहीं करते। संसार को संकट में डालनेवाली वैसी प्रवृत्ति आज स्थान-स्थान पर देखने को मिल रही है।

इस आसुरी प्रवृत्ति को कैसे समझाया जाए। रावण विद्वान था, पंडित था, परंतु किसी के समझाने पर भी नहीं समझा। मारीच व जटायु के समझाने पर भी वह सीता जी को चुराकर ले गया। उसके भाई कुंभकर्ण व विभीषण तथा पत्नी मंदोदरी ने भी समझाया, पर वह नहीं माना। पितामह महर्षि पुलस्त्य तथा साक्षात् ब्रह्मदेव ने भी सीख दी, मगर सब निरर्थक रहीं। वह न तो न्याय को समझने को तैयार था, न ही नीति को। उसे समझ तभी आई, जब भगवान रामचंद्र का प्राणहारी बाण उसके हृदय में घुसा। असुरों का नियंत्रण करनेवाली एक ही बात होती है और वह है शक्ति।

शक्ति की पूजा

शक्ति की बात करने पर किसी-किसी के मन में भय होता हो तो हो, परंतु सामर्थ्य ही सत्य है। इस सत्य की पूजा करनी ही चाहिए। भगवान विष्णु के पार्श्व में लक्ष्मी निवास करती हैं। उनकी शांत मूर्ति है। उसे देखकर सब उनकी पूजा करना चाहते हैं। 'गोड तुझे रूप, गोड तुझे नाम' इस प्रकार से उनका ध्यान करते हैं, लेकिन काली का रूप देखते ही डर लगता है। यह डर क्यों? वह भी माता का ही रूप है। वह अपने भक्तों और सज्जनों को अभय तथा आशीर्वाद देकर दुष्ट और असुरों को नष्ट करनेवाली है। उसका स्वरूप भले ही प्रलयंकारी तथा संहारिणी का हो, फिर भी वह माता है। इसलिए भय नहीं मानना चाहिए। स्वामी विवेकानंद जी ने कहा था— 'इस चंडी स्वरूप की पूजा करो।' श्रीकृष्ण का विराट विश्वरूप देखकर अर्जुन भी भयभीत हो गया था। उसने कहा, 'भगवन्! आपके इस न देखे हुए रूप को देखकर हर्ष होता है, फिर भी हे देव अपने चतुर्भुज रूप का ही दर्शन कराइए।'

राष्ट्र को चिरंजीव बनाने, उसे सम्मान प्राप्त कराने तथा अपने राष्ट्र को श्रेष्ठ पद पर अधिष्ठित कराने के लिए सारी दुष्ट प्रवृत्ति का नियंत्रण कर सके, सज्जनों को अभय देकर असुरों का संहार कर सके, राष्ट्रविनाशी भावों पर काबू रख सके, इतनी शक्ति अपने में होनी चाहिए।

समाज में, राष्ट्र में शक्ति रहेगी तभी बुद्धिमत्ता काम आएगी। सज्जनता काम देगी। सारी सद्प्रवृत्ति और सद्गुणों का उपयोग होगा। उसका कोई मूल्य होगा।

आज राष्ट्र में यह शक्ति नहीं है, इसीलिए हमारे नेतागण बड़ी-बड़ी बातें करते हैं, परंतु उनकी कोई सुनता व मानता नहीं। अपनी हँसी ही होती है। एशिया का नेतृत्व, विश्व का मार्गदर्शन करने की बातें होती हैं, परंतु उसके पीछे शक्ति का सामर्थ्य न होने के कारण कमल-पत्र पर ठहरनेवाले जलबिंदु के समान क्षणजीवी व निरर्थक होती हैं।

एक लक्ष्य को सामने रखकर, एक हृदय से, एक जीवन-परंपरा को लेकर, एक विचार व एक भावना से प्रेरित होकर जब एक मार्ग पर अग्रसर होते हैं, तब उस एकात्म संघबद्ध जीवन में से शक्ति प्रकट होती है, वहीं पर शक्ति का निवास होता है। शक्ति भीख माँगने से नहीं मिलती। वह तो अंतर्निहित होती है। उसको जगाने की आवश्यकता होती है। पारतंत्र्य के काल में परकीयों का राज्य हमारे लोगों ने ही चलाया था। हमारी शक्ति, बुद्धि दूसरों के काम आती थी। दूसरे उसका लाभ उठाते थे। आज भी यही हो रहा है। इस क्रम को छोड़कर हमारी शक्ति, बुद्धि हमारे ही काम आए, उसका अपने लिए उपयोग हो, यह क्रम चलाना पड़ेगा। राष्ट्र, राष्ट्रभावना से भरा होने पर हम आज भी अजेय हो सकते हैं।

इतिहास हमें बताता है कि हम जब तक एकसूत्र, एकसंघ, एकरूप रहे, तब तक हमने विजय प्राप्त की। जब-जब यह स्वरूप भंग हुआ, तब-तब हमारी पराजय हुई। आज हमारा समाज छिन्न-विच्छिन्न है। इधर-उधर विच्छिन्नता, विभिन्नता, परस्पर स्नेह-शून्यता का जीवन दिखाई देता है। इसका ध्यान कर अपने समाज को परकीय विचारों से मुक्त कर, अपनी भारतीय परंपरा की जीवनधारा की नींव पर अपने राष्ट्र का सुप्त सामर्थ्य, सुप्त प्रभाव फिर से प्रकट करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य व अपरिहार्य है। इसके लिए अपनी जीवनधारा के अनुसार एक विचार से, एक मार्ग पर आगे बढ़कर एकात्म संघबद्ध जीवन-निर्माण करना राष्ट्रनिर्माण का एकमेव मार्ग है।

संघ शिक्षा वर्ग, १९५२

(१)

सुदृढ़, बलसंपन्न राष्ट्रजीवन शक्ति के आधार पर ही प्राप्त होगा। परंतु यह समझने में कठिनाई क्यों होती है? ऐसा कहनेवाले हम पहले ही नहीं हैं। इस बात को अनेक लोगों ने स्पष्ट रूप से कहा है। केवल शक्ति के पुनर्जागरण की पद्धति के विषय में मतभिन्नता है। किसी ने कहा कि इस विशाल भूमि में अनेक धर्मीय समाज हैं, उनको एकत्रित कर शक्ति की वृद्धि करनी चाहिए, वरना अपनी शक्ति घट जाएगी। ऐसे लोगों को इतने विशाल हिंदूसमाज की शक्ति पर विश्वास नहीं है।

दूसरे प्रकार के लोग क्रांतिकारी पद्धति के पुरस्कर्ता हैं। वे ध्येय की प्राप्ति के लिए उग्र प्रयत्नों की वकालत करते हैं। आवश्यकता होने पर अन्य देशों से सहायता लेने में उन्हें संकोच नहीं होता। उनका विश्वास है कि परकीयों से सहायता लिए बिना कुछ नहीं हो सकेगा। वे सोचते हैं कि परकीय सत्ता का अपने स्वार्थ के लिए उपयोग करने के बाद उन्हें इस देश में नहीं रहने देंगे। मगर यह बात इतनी सरल व सीधी नहीं है। यह तो उस घोड़े के किस्से जैसा हो जाएगा– कहते हैं कि एक बार एक घोड़े ने एक आदमी को अपना कुछ काम बताया। उस आदमी ने कहा 'मैं तेरा काम तो कर दूँगा, पर मुझे अपनी पीठ पर बैठाकर मेरे घर तक पहुँचाना होगा।' घोड़े ने उसकी शर्त मान ली। काम होने के बाद वह आदमी उस घोड़े की पीठ पर बैठकर घर तक गया। घोड़े ने कहा, 'अब तुम्हारा घर आ गया है, नीचे उतरो।' तब उस आदमी ने कहा, 'अरे वाह! आने-जाने के लिए तुम्हारा इतना उपयोग होता है, यह मैं जानता ही नहीं था। तुमको नहीं छोड़ूँगा।' उदाहरण मामूली है, लेकिन बहुत अर्थपूर्ण है। एक बार कोई सहायता करेगा तो वापस कैसे चला जाएगा? वह कहेगा कि और कुछ नहीं तो कम से कम थोड़ा व्यापार ही करने दो। इसी बहाने वह अपने पैर जमा लेता है। इतिहास इसकी गवाही देता है कि नहीं? किसी भी राष्ट्र का अभ्युदय बाहरी शक्तियों पर निर्भर नहीं हो सकता। उसे अपनी ताकत से ही उठना होता है। किंतु इस विचार का ऐसे लोगों में अभाव होता है।

कुछ लोगों का मत है कि आर्थिक दृष्टि से संपन्न होकर संपत्ति का ठीक वितरण करने से सब ठीक हो जाएगा। लेकिन अपने स्वार्थ के लिए एकत्र हुआ समाज धन के वितरण के आधार पर एक कैसे हो

जाएगा? वास्तविक बात तो यह है कि लोगों के जो वैयक्तिक गुण-विशेष होते हैं, उनको एकत्रित कर सामूहिक गुण-विशेष का राष्ट्र के अभ्युदय के लिए उपयोग करने के लिए आवश्यक समाज रचना के अभाव के कारण ही ये भेद उत्पन्न होते रहते हैं। गुणविशेषों का उपयोग तभी संभव है, जब उन सारे गुणों को ठीक मार्ग से नियंत्रित कर संपूर्ण समाज को धीरे-धीरे, परंतु निश्चयपूर्वक उन्नत करनेवाली एक मध्यवर्त्ती शक्ति समाज के सारे गुणविशेषों का विकास करती हुई उसे सूत्रबद्ध करती हो।

कोई पूछ सकता है कि इस राष्ट्र को चिरंजीवी, अजेय, विजयशालिनी शक्ति का साक्षात्कार कराने का दैनिक शाखा जैसी निरर्थक बात से क्या संबंध है? इन दोनों का समन्वय कैसे रह सकता है? अन्य लोगों द्वारा दिखाए हुए बड़े-बड़े मार्गों से अलग हटकर इस सामान्य कार्यक्रम पर संघ निर्माता का विचार स्थिर क्यों हुआ? शाखा का कार्यक्रम अत्यंत निरर्थक दिखाई देता है, परंतु उसका अनन्यसाधारण महत्त्व है। प्राचीन काल से ही शक्ति-जागरण के लिए सुसंस्कारों की आवश्यकता की बात दोहराई जाती रही है। जिन विद्वानों ने संस्कारों के महत्त्व को जाना था, उन्होंने भी ऐसा ही कहा था। डाक्टरजी ने भी नहीं कहा कि मैंने किसी नई बात की खोज की है। न ही उन्हें इस बात का घमंड था। नवीनता का श्रेय अपनी ओर लेने का ढोंग हम नहीं करते। क्योंकि जो चिरंतन सत्य है, वह नया या पुराना नहीं हो सकता। भारतवर्ष में तेजस्वी और शक्तिपूर्ण राष्ट्रजीवन का पुनर्निर्माण भी इस एक चिरंतन सत्य के आधार पर ही हो सकता है। यह बात ध्यान में रखना आवश्यक है।

संघ की निर्मिति के समय संघ-निर्माता ने भिन्न-भिन्न प्रणालियों का सूक्ष्म अभ्यास किया था। सब प्रकार के वायुमंडलों में स्वयं रहकर छोटे-बड़े प्रयोग करके देखे थे। उन्होंने एक बात स्पष्ट अनुभव की थी कि राष्ट्र में अजेय शक्ति खड़ी करनी है तो इस समाज को उसकी एकात्मता का ज्ञान देकर एकरस, एकरूप विचारों और संस्कारों की नितांत आवश्यकता है और व्यक्ति-व्यक्ति को ऐसे संस्कार देने के लिए दैनिक शाखा के अतिरिक्त अन्य कोई पद्धति फलदायी नहीं हो सकती।

कोई यह पूछ सकता है कि राष्ट्रजीवन संस्कारों से ही बन सकता है, यह चिरंजीव सत्य अनेक लोगों ने जानने और बताने के बाद भी अपने इस महान राष्ट्र में हिंदू समाज संगठित रूप में खड़ा क्यों नहीं हो पाया? इसका कारण एक ही है कि लक्ष्य निश्चित होने पर भी उसे प्राप्त कर

सके— ऐसा मार्ग या कार्यक्रम उनको नहीं मिल सका। संस्कार किस प्रकार किए जाने से वे राष्ट्रीय पुनर्जागरण में उपयुक्त हो सकते हैं, इसका ठीक-ठीक ज्ञान उन्हें नहीं था। इसलिए संस्कार देने के कार्य में वे असफल रहे।

केवल कुछ दिनों के संस्कार काम नहीं देते इसका हमें अनुभव है। अन्य लोगों का संस्कार करने का तरीका भी सर्वस्पर्शी था। हफ्ते में एक बार भजन करना, समय-समय पर लोगों को उपदेश कर उन पर संस्कार करने का प्रयास करना ही पर्याप्त नहीं था। क्योंकि आज अपना समाज-जीवन इतना विच्छिन्न हो चुका है, स्वार्थ भावना का इतना प्रभाव है कि एक भाई दूसरे भाई का गला घोंटकर अपना स्वार्थ साधने में कोई बुराई नहीं समझता। ऐसी अवस्था में केवल उपदेशात्मक कार्य से समाज पर संस्कार नहीं हो सकेंगे। हमें ऐसा कार्यक्रम चाहिए, जिसके कारण व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत आशा-आकांक्षाओं, क्षुद्र स्वार्थों को एक ओर रख कर, पवित्र राष्ट्रप्रेम, शुद्ध राष्ट्रभावना और राष्ट्र का उत्कर्ष— वही मेरा उत्कर्ष है, के विचारों के संस्कार प्रत्येक हृदय पर होकर वह निःस्वार्थ राष्ट्रसेवा के लिए उद्युक्त हो।

हमारे अंदर व्याप्त भेदों को नष्ट करने के लिए कितने बड़े-बड़े लोग प्रयत्नशील हुए हैं। कट्टर हिंदू, कट्टर क्रांतिवादी, कट्टर धर्माभिमानी सावरकर जी और घोर अहिंसावादी महात्मा गाँधी जैसे महापुरुष अस्पृश्योद्धार का कार्य करते रहे, परंतु उसका क्या परिणाम हुआ? अस्पृश्यता निवारण तो पूरी तरह से हुआ नहीं, उसके स्थान पर इन प्रयत्नों के कारण स्वार्थ के लिए राजनीतिक अधिकारों की अस्मिता निर्माण हुई। परिणाम यह हुआ कि वे अपने को हिंदुओं से अलग मानने में अपना हित समझने लगे। इन महापुरुषों के प्रयत्नों के कारण अस्पृश्यों में विच्छिन्नता की राष्ट्रघातक प्रवृत्ति बढ़ती गई। जिस बात की कोई रात-दिन रट लगाता है, उसे वह प्राप्त हो जाती है। जिन लोगों ने रात-दिन अस्पृश्यता की रट लगाई, उन्हें अस्पृश्यता मिल गई। जब हम अस्पृश्यता की भावना को भूलकर व्यवहार करेंगे, तभी वह दूर होगी। एक विचारक ने कहा है— 'तुम जिस चीज को समाप्त करना चाहते हो, उसकी ओर ध्यान देना छोड़ दो, उसकी रट लगाना बंद करो, वह स्वयमेव ही नष्ट हो जाएगी।'

संघ ने भी यही किया। हमने कभी भी नहीं कहा कि अपने भारत में इतनी विभिन्नताएँ, जाति, धर्म, पंथ, भाषा और अनेकानेक भेद हैं। हमने केवल इतना कहा कि यह राष्ट्र एकात्म है, इसकी एक जीवनप्रणाली

है और वह प्रतिष्ठा संपन्न जीवनप्रणाली हरेक की रहे। इसके अतिरिक्त किसी भेद के बारे में सोचने की आवश्यकता नहीं है। हमने एकात्मता लानी चाही, उसे प्राप्त करने में सफल हो रहे हैं।

जैसे संस्कार हम चाहते हैं, वैसे संस्कार किसी स्थान पर कुछ समय के लिए नियमित रूप से आने और एकत्र होकर एक दूसरे के साथ खेलने-कूदने, बैठकर विचार करने से आते हैं। संस्कार प्राप्त करने के पश्चात् उससे निर्माण होनेवाली एकात्मता की भावना के अनुसार व्यवहार करने पर संपूर्ण समाज हमारे विचारों के अनुसार सुसंगठित, सुसंस्कारित, एकात्म और एकसंघ होगा। फिर वह ब्राह्मण रहे या शूद्र, वैष्णव रहे या शैव, बुद्धिमान रहे या अनपढ़, अमीर हो या गरीब, पचासों पंथों में से किसी का भी क्यों न हो, वह स्वयंसेवक है— केवल इतना अभिमान रहे और राष्ट्र के उत्थान के लिए राष्ट्रशक्ति के एक अनिवार्य अंग के नाते खड़ा रहे। यही समाज संगठन का अर्थ है। किसी एक पेड़ की शाखोपशाखा, उसके फल-फूल सब भिन्न-भिन्न क्यों न दिखते हों, लेकिन उन सबके अंदर एक ही जीवनप्रवाह बहता है। इस महान हिंदू समाज के अंदर वैसी ही एकात्मता की अनुभूति निर्माण कर समाज जागृत कर सकेंगे— ऐसा हमें विश्वास है।

हमारे कार्यक्रम दिखने में भले ही अत्यंत साधारण होंगे, परंतु गुण में असामान्य हैं। इन्हीं कार्यक्रमों के कारण पूर्व से पश्चिम तक और कश्मीर से कन्याकुमारी तक संघ का अभिन्न स्वरूप दिखाई देता है।

राष्ट्रसेवा में कोई भी काम छोटा या बड़ा नहीं, इसके लिए कुछ भी करते समय मन में लज्जा का अनुभव न हो, ऐसी भावना से प्रत्येक स्वयंसेवक का अंतःकरण ओतप्रोत हो, ऐसा संघ के दैनिक कार्यक्रम का उद्देश्य है।

संघ-निर्माता डाक्टर हेडगेवार जी ने अपने जीवन में सोच-समझकर निरहंकारी वृत्ति से कार्य किया। आज जहाँ अपना कार्यालय भवन है, पच्चीस वर्ष पहले वहाँ निर्मनुष्य खंडहर था। दीवारों के कुछ अवशेष ही बाकी थे। भुतहा होने की ख्याति के कारण कोई उसकी ओर देखता तक नहीं था। डाक्टर जी ने अपने मित्रों के साथ वह स्थान पसंद किया। थोड़े ही दिनों में अपनी मेहनत से वहाँ इतना अच्छा खेल का मैदान बना दिया कि लोग आश्चर्यचकित रह गए। उनके पास पैसा नहीं था। सुबह का

भोजन मिला तो मिला, रात्रि के भोजन की कोई शाश्वति नहीं थी। इतनी गरीबी की अवस्था थी। किंतु अपने ध्येय के लिए चाहे जो करने में उन्हें कोई संकोच नहीं था। इस कारण स्वयं लगकर उस खंडहर को साफ कर खेल के मैदान में बदल दिया। मनुष्य के पास सबसे उत्तम द्रव्य है सुदृढ़ हृष्टपुष्ट शरीर और शुद्ध अंतःकरण।

संघ में व्यक्ति के गुण व प्रतिष्ठा को कोई स्थान नहीं है, ऐसी गलत धारणा लेकर लोग संघ से रुष्ट रहते हैं। किंतु उनका ऐसा सोचना सही नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति अपने गुणों को उच्चतम सीमा तक विकसित करे और स्वयं विकसित हो, इसमें संघ को कोई आपत्ति नहीं होती। संघ तो केवल यह कहता है कि व्यक्ति के हर एक गुण को राष्ट्र के विकास के लिए समर्पित करना, यही उन गुणों का सबसे अच्छा उपयोग हो सकता है। वैयक्तिक विकास और राष्ट्र के विकास में राष्ट्र के विकास का महत्त्व जिसको अधिक समझता है, वह अपनी व्यक्तिगत आकांक्षाओं की चिंता कभी नहीं करेगा।

राष्ट्र-कार्य के लिए अपना व्यक्तिगत अहंकार छोड़ना पहली आवश्यकता है, क्योंकि अहंकार छोड़े बिना तन-मन-धन समर्पित हो नहीं सकता। राष्ट्र की अस्मिता में अपने जीवन की अस्मिता मिलाकर जब कोई भी व्यक्ति राष्ट्र की सेवा करता है, तब वह मनुष्य-जीवन की उत्क्रांति की श्रेष्ठतम अवस्था प्राप्त करता है।

अनुशासन का अभाव अपने राष्ट्र में जितना अधिक है, उतना संसार के अन्य किसी देश में नहीं है। अनुशासन की महत्ता हमें अच्छी प्रकार से ज्ञात है। इसीलिए लोग कहते भी हैं कि संघ एक बात ध्यान में रखने की है कि अनुशासनबद्ध संगठन होने पर भी संघ सैन्य-संगठन नहीं है। अनुशासन का अर्थ 'सेना' नहीं होता। सेना में अनुशासन भंग करने पर कड़ी सजा दी जाती है। संघ के अनुशासन के पीछे जो शक्ति है, वह है अपने हृदय का प्रेमपूर्ण व्यवहार। इसी के बल पर हम अनुशासित और एकसूत्र रह पाते हैं। हमारे यहाँ अनुशासन जबरन नहीं लादा जाता। वह स्वयंस्फूर्त होता है। हमारा अनुशासन अटूट, अभंग और चिरस्थायी है। आसेतु हिमाचल एकस्वर, एकसूत्र में बद्ध व्यवहार करने के लिए जिस अनुशासित राष्ट्र सामर्थ्य की आवश्यकता है, वह सामर्थ्य इस संघ के रूप में आज खड़ा है। यह स्नेहमय मार्ग ही राष्ट्र-जागृति का एकमेव मार्ग है। एक इशारे पर चले, ऐसा परिपूर्ण अनुशासनबद्ध अजेय सामर्थ्य हमें

व्यक्ति-व्यक्ति के अंतःकरण में एकात्मता की भावना जागृत कर बढ़ाते रहना चाहिए। तभी भारतमाता का मस्तक ऊँचा होगा, कोई बाधा इसके मार्ग को रोक नहीं सकेगी।

संघ शिक्षा वर्ग, १९५२

(२)

समाज में आजकल अनेक ऐसे लोग मिल जाएंगे जो, 'हम हिंदू हैं' ऐसा कहते हैं। वे उसकी व्याख्या करने के लिए भी तत्पर रहते हैं। इस विषय में किसने कब क्या कहा और क्यों कहा – यह सब बताते हैं। ऐसा करते समय हास्यास्पद और विचित्र तर्क भी उपस्थित करते हैं। उनका इस प्रकार से बताना संभ्रम ही निर्माण करता है। इस विषय में हमने एक ही नीति अपनाई है कि हम पर सारी दुनिया भले ही हँसती रहे अथवा कुछ भी कहती रहे, फिर भी हम अपने सिद्धांत पर अटल रहेंगे। इसलिए चारों ओर की परिस्थिति और समस्याएँ देखते हुए भी उससे प्रभावित हुए बिना अपना काम करते रहने का गुण स्वयंसेवक में मुख्य रूप से होना ही चाहिए। दुनिया पूछे चाहे न पूछे, अपने मन के संकल्प पर दृढ़ रहते हुए उसके लिए सतत प्रयत्न करते रहना है। स्वयंसेवक को किसी परिभाषा की आवश्यकता नहीं रहती। वह केवल आगे बढ़ना ही जानता है। हमारे काम की सफलता ही सबसे बड़ा प्रमाण है।

कुछ वर्ष पूर्व एक प्रमुख नेता ने बातचीत के समय कहा, 'आप लोग पाकिस्तान के मुसलमानों से जो भय खाते हैं, उसी भय के कारण आपने कार्य प्रारंभ किया है।' मैंने कहा, 'हमें मुसलमानों से भय रहता तो 'हम हिंदू हैं' यह नारा नहीं लगाते। पाकिस्तान के मुसलमानों को हमारे नारे से भय हो सकता है, हमें क्यों हो?' उन दिनों कश्मीर का युद्ध चल रहा था। मैंने जब उसका उल्लेख किया तो वे बोले, 'अरे! हम सात दिनों में पाकिस्तान को ठीक कर देंगे।' मैंने उनसे कहा, 'मुझे भारत की सैन्य शक्ति पर तो पूरा विश्वास है, किंतु आपकी बात पर विश्वास नहीं है, क्योंकि यदि सेना ने कहा कि हम आक्रमण करते हैं और आपने अनुमति नहीं दी, तब सेना क्या कर लेगी? आपने सात दिन के स्थान पर साल भर में भी मामला सुलझा लिया तो हम समझेंगे कि आप में शक्ति है।' वह मामला आज तक चल रहा है।

हमारा पक्ष न्यायसंगत है। मगर अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय भी सोचता है कि किसकी ओर फैसला देने से अधिक लाभ होगा। हिंदुस्थान बड़ा देश है, लेकिन पाकिस्तान का पक्ष लेने से अधिक स्वार्थ सिद्ध हो सकता है। कहा यही जाता है कि Dynamic Neutrality है। वास्तव में यह Dynamic Neutrality क्या है इसका कुछ पता नहीं। मुझे तो लगता है कि यह Neutrality फुटबाल की तरह है। फुटबाल किसी एक पक्ष का नहीं होता। वह एकदम Neutral होता है। जिस तरफ का खिलाड़ी ताकतवर होता है, वह फुटबाल को छीनकर ले जाता है। उसी के पक्ष का वह हो जाता है। फुटबाल Neutral रहता है, किंतु इधर-उधर दौड़ता है, इसलिए Dynamic है। यह Dynamic Neutrality शब्द भी पाकिस्तान के प्रति व्यवहृत होता है। आजकल अखबारों में इस शब्द का बहुत प्रयोग होता है, लेकिन वह अर्थशून्य है। जब यह दिखाई देगा कि भारत शक्तिशाली है और आवश्यकता पड़ने पर हमारी सहायता करेगा, तब सारा मामला एकदम तय हो जाएगा। संयुक्त राष्ट्र संघ की Dynamic Neutrality याने शक्तिसंपन्न के साथ रहना है। फुटबाल की तरह लात खाकर Neutral रहनेवाले Dynamic Neutrality के गीत गाते हैं। वास्तव में Neutral कोई नहीं है। सब अपना-अपना स्वार्थ साध रहे हैं। विश्वशांति के लिए जो जितने जोर से लालायित है, वह उतनी ही ताकत से अपने स्वार्थ की सिद्धि कर रहा है।

अभी हाल ही में विश्व के सभी देशों का एक शांति सम्मेलन हुआ था। क्या उसके पीछे शांति का भाव था? इस संबंध में एक उदाहरण बहुत मनोरंजक है। एक बार एक शेर कीचड़ में फँस गया। बाहर निकलने हेतु उसने बहुत प्रयत्न किए, किंतु वह सफल न हो सका। शेर ने देखा कि एक ब्राह्मण जा रहा है। उसने उससे सहायता की गुहार की। ब्राह्मण ने कहा, 'इस समय तुम बड़ी विनय दिखा रहे हो, मगर बाहर निकलते ही तुम्हारा सारा विनय-भाव तिरोहित हो जाएगा। तुम मुझे ही खा जाओगे।' शेर ने कहा, 'नहीं, मैं तो अहिंसक शेर हूँ। जंगल में जो जानवर मर जाते हैं, केवल उनका ही भक्षण करता हूँ।' उसने ब्राह्मण को एक स्वर्ण-कंकण देने का प्रलोभन भी दिया। शेर की अहिंसात्मक बातें और स्वर्ण-कंकण के लोभ में ब्राह्मण ने शेर को कीचड़ से बाहर निकाला। बाहर निकलते ही शेर ने ब्राह्मण की वही गति की, जो होनी थी। इसी प्रकार की अहिंसा के व्रतधारी इंग्लैंड, अमरीका, रूस आज विश्वशांति की घोषणा कर रहे हैं। और हमारे राजनेता उनकी बात को सही मान रहे हैं।

हमारा देश फुटबाल की तरह Dynamic Neutrality वाला देश है। जब इधर से लात लगती है तो उधर और उधर की लात लगी तो इधर हो जाता है। Hard Reality का कोई विचार नहीं। देश की दुरवस्था को देखकर कोई दुःख नहीं। जब सब देखते हैं कि फुटबाल की तरह ठोकर खाने में हम कोई आपत्ति नहीं करते, तब वे लात क्यों न मारें? अपना स्वार्थ सिद्ध क्यों न करें?

पहले महायुद्ध के बाद सबने सोचा कि संघर्ष की स्थायी रोकथाम होनी चाहिए। तब विश्व की भलाई के लिए, विश्वशांति और अंतर्राष्ट्रीयता की दुहाई देकर 'लीग ऑफ नेशन्स' की स्थापना की गई। उस संगठन ने बड़े-बड़े राष्ट्रों की स्वार्थ-साधना ही की। दूसरे महायुद्ध के बाद भी ऐसी ही घोषणाएँ की गईं। आज भी शाब्दिक लड़ाई चालू है। अभी शीत-युद्ध अर्थात् कूटनीतिक संघर्ष चल रहा है।

संघ शिक्षा वर्ग, १९५३

(१)

अंग्रेजों ने जब अपने राज्य की स्थापना की, तब यहाँ बादशाह मुसलमान था। अतः वे अपने को यहाँ का बादशाह समझते हैं। कांग्रेस में रहकर यह संभव न होगा– ऐसा ध्यान में आते ही उन्होंने अपनी अलग संगठना बना ली। उन्होंने पंजाब में जर्मनी की सहायता से अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह किया था। वह विप्लव सफल नहीं हो सका। मुसलमानों की उस खीज का शिकार बने निर्दोष हिंदू, क्योंकि अपना दबदबा बनाए रखने के लिए उन्होंने हिंदुओं को आतंकित करना शुरू किया। मोपला विद्रोह के नाम पर सन् १९१८ से १९२३ तक कभी इस प्रांत में, तो कभी उस प्रांत में दंगे किए। उसी क्रम में नागपुर में भी सन् १९२३ से १९२७ तक प्रतिवर्ष दंगे होते रहे। इसके बाद उन पर डंडे पड़े, इसलिए वे सज्जन बनकर रहने लगे।

'काकतालीय न्याय' की उक्ति जैसे संयोग से उसी समय संघ की स्थापना हुई थी। इसीलिए सामान्य मनुष्य यही सोचता है कि मुसलमानों के दंगों के कारण संघ उत्पन्न हुआ और उसके बाद ही दंगे बंद हुए।

डाक्टर साहब के एक साथी, जो बचपन से उनके साथ रहे थे, ने

मुझे बताया कि जब डाक्टर साहब १४-१५ वर्ष की अवस्था के थे, उस समय से संघ-स्थापना की कल्पना उनके मन में थी। आगे चल कर वही प्रकट हुई। डाक्टर जी ने इतिहास का अच्छी तरह अध्ययन किया था और वर्तमान का बड़ी गहराई से अवलोकन। तिलक जी के प्रति उनकी अत्यधिक श्रद्धा थी। फिर भी उन्होंने उनके विषय में कहा कि इतने प्रतिभासंपन्न व्यक्ति, कुशल नेता, परंतु केवल तात्कालिक राजनीति में फँसे हैं। ऐतिहासिक महापुरुष शिवाजी भी तात्कालिक समस्याओं में बहुत दिनों तक व्यस्त रहे, इस कारण चिरंतन निर्माण कार्य की नींव नहीं डाल सके। वही कार्य हमें करना है। उनके कार्यों को देखने पर पता चलता है कि जिस भी कार्य को उन्होंने किया बड़ी गंभीरता से और सोच समझकर किया।

जब हम संगठन करते हैं तो लोग पूछते हैं, 'संगठन करके क्या करोगे? किसका विरोध करना है?' कुछ लोग पूछते हैं, 'तुम यदि किसी का विरोध करना नहीं चाहते, फिर संगठन क्यों कर रहे हो? क्या राज्य प्राप्त करना चाहते हो? मंत्री बनने की इच्छा है? अथवा अन्य कोई विशेष काम करना चाहते हो? आपका हेतु क्या है?' लेकिन हमारी दृष्टि से तो संघ का काम ही हमारा जीवन-कार्य है। यह काम किसी तात्कालिक लक्ष्य की प्राप्ति अथवा किसी संकट का सामना करने के लिए नहीं है। समाज को चिरंतन बनाकर रखने के वास्ते स्वचैतन्य के आधार पर इस देश में सदैव शुद्ध, सुसंगठित, अनुशासनयुक्त, सामर्थ्यसंपन्न, आत्मविश्वासपूर्ण, स्वाभिमान से ओतप्रोत जीवन का निर्माण करना ही संघ का एकमेव उद्देश्य है। यह परिस्थितिनिरपेक्ष कार्य है। किसी तात्कालिक बात के लिए संगठन होता तो वह अब तक समाप्त भी हो जाता। हम लोग किसी का विरोध करने के लिए काम नहीं करते। अपना काम तो 'सर्वेषां अविरोधेन' है।

उस समय जो हिंदूप्रेमी नेता थे, वे भी मुसलमानों का ही चिंतन करते थे। परिणाम यह हुआ कि मुसलमान-मुसलमान की रट लगाए रहने से वे स्वयं शरीर से ही केवल हिंदू रहे, लेकिन उनका मन मुसलमान बन गया। विरोधी के रूप में रावण राम का, कंस श्रीकृष्ण का और अफजलखान शिवाजी का चिंतन करते रहे। अंत में उन्हीं के हाथों मारे गए। मैं आज भी एक व्यक्ति को जानता हूँ जो अपने को कट्टर हिंदू मानते हैं। उन्होंने गोहत्या विरोधार्थ हस्ताक्षर के सिलसिले में कहा, 'क्या हुआ यदि गौ मारी जाती है? लेकिन मुसलमान मारते हैं, इसलिए गौहत्या बंद होनी चाहिए।' कोई हिंदू इस प्रकार कह सकता है क्या? लेकिन कट्टर हिंदू कहलाए

जानेवाले उन सज्जन ने कहा। उन्होंने ऐसा इसलिए कहा, क्योंकि वे दिन-रात मुसलमानों का ही चिंतन करते थे।

लोगों ने अंग्रेजों का विरोध किया। उनको देश से निकालना है, इसका ५० वर्ष तक अहोरात्र चिंतन किया। इसका परिणाम यह हुआ कि अंग्रेज तो चले गए, लेकिन उनके सतत चिंतन के कारण हृदय के अंदर अंग्रेज ही अंग्रेज भर गया और अंग्रेजियत स्थायी भाव बन गया। अंग्रेजी का तो ऐसा भूत सिर पर सवार है कि उसके बिना काम ही नहीं चल पा रहा है। ऐसा लगता है, जैसे अंग्रेजी का प्रयोग नहीं किया तो अपनी अंतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा कम हो जाएगी। संयुक्त राष्ट्र संघ में सहस्रावधि प्रतिनिधि आते हैं। वे सब अंग्रेजी में नहीं बोलते। वे लोग उनकी अपनी भाषा में बोलते हैं। अनुवाद के लिए अपने साथ दुभाषिया रखते हैं। उन्हें अंग्रेजी का इतना महत्त्व नहीं लगता। पर अपने नेताओं और अधिकारियों का तो अंग्रेजी के बिना काम ही नहीं चलता। कुछ लोग तो नींद में बड़बड़ाते भी अंग्रेजी में ही हैं। अंग्रेज तो हमें छोड़कर चले गए, लेकिन हम उन्हें नहीं छोड़ रहे। अभी भी उनके नाम का कुमकुम तिलक लगाते हैं।

लोग जिस दृष्टि अथवा जिस रंग का चश्मा लगाकर संघ को देखते हैं, संघ उनको वैसा ही दिखाई देता है। कोई संघ को सांप्रदायिक कहे तो समझ लेना चाहिए कि उसने सांप्रदायिकता का चश्मा लगा रखा है। कोई संघ को फासिस्ट कहे तो समझ लेना चाहिए कि उसने फासिस्टी चश्मा लगाया हुआ है। कोई मुसलमान या ईसाई विरोधी कहे तो समझ लेना चाहिए कि वह हिंदू विरोधी चश्मे से संघ को देख रहा है। आरोप, आक्षेप करनेवाले आक्षेपक स्वयं उस विकृति से ग्रस्त हैं।

हमारे कार्य की प्रेरणा किसी का विरोध नहीं है। हमको कार्य करने की प्रेरणा तो अपने समाज के प्रति असीम श्रद्धा और प्रेम के कारण मिलती है। हम हिंदू हैं— इसका स्वाभिमान और अपने समाज के साथ अवयव-अवयवी का संबंध होने के कारण हम उसे टूटी-फूटी, पतित अवस्था में देख नहीं सकते। इस कारण उसके लिए सर्वस्व अर्पण कर उसे संगठित करना है। यही हमारी प्रेरणा का कारण है। कोई शत्रु अथवा किसी प्रकार की समस्या नहीं रही तब भी अपने समाज को विआक्रमण और विस्मृत अवस्था से उठाने की आवश्यकता रहेगी, इसलिए कार्य करना है। जब तक हिंदू समाज रहेगा और वह हमेशा रहने ही वाला है, इसलिए सदा इस कार्य की आवश्यकता है। इस प्रकार हमारा काम परिस्थितिनिरपेक्ष है।

इस बात को समझने के बाद किसी भी अवस्था में अंतःकरण की तेजस्विता कम न होगी। परिस्थिति की भयानकता हमें विचलित नहीं कर सकेगी। इतनी बात आधार रूप में समझ लेनी चाहिए।

संघ शिक्षा वर्ग, १९५३

(२)

श्रद्धास्पद मातृभूमि

स्वयंसेवक होने के कारण हम सबको यह सौभाग्य प्राप्त है कि प्रतिदिन अपने ध्वज के सम्मुख खड़े होकर विशुद्ध भाव से भारतमाता की प्रार्थना करते हैं। प्रार्थना करते समय सर्वप्रथम अपनी मातृभूमि के प्रति श्रद्धा प्रकट करते हैं। इसी से हमारे प्राण हैं, इसी से हमने जन्म पाया है, जिसने माता के प्रेम से हमें पैदाकर बढ़ाया, उसके प्रति सबकी श्रद्धा की भावना रहे, यह स्वाभाविक ही है। मातृभूमि के प्रति प्रेम अति प्राचीन काल से हमारे रोम-रोम में समाया हुआ है। लोग कहते हैं कि Patriotism हमें पाश्चिमात्य लोगों ने सिखाया है, लेकिन यह बात सरासर गलत है। अपने पूर्वजों ने स्वाभिमान से कहा है कि अपनी मातृभूमि का चिंतन करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। प्रातःकाल भूमि पर पैर रखने के पहले इसके लिए हम उससे क्षमा माँगकर वंदन करते हैं। कोई भी कार्य प्रारंभ करने के पहले भूमि की पूजा करते हैं। यहाँ का कण-कण हमारे लिए अति पवित्र है। प्रभु रामचंद्र जी का उदाहरण बताता है कि मातृभूमि के प्रति भक्ति का विकास इससे अधिक और कहीं हो नहीं सकता। स्वामी विवेकानंद जी ने भी अमरीका में जाकर कहा कि आप में सब गुण होते हुए भी आपको इस शरीर से मुक्ति नहीं मिलेगी। भारत में जन्म लेकर उसकी सेवा में लगना होगा, तभी मुक्ति मिलेगी। भगवान पर भी बंधन है कि मोक्ष पाने के लिए उन्हें भारत में जन्म लेना पड़ता है। हमारे मातृभूमि प्रेम की तुलना Patriotism से नहीं की जा सकती।

प्रादेशिक आधार पर भूमि के टुकड़े पर प्रेम करनेवालों को Patriotic कहने के लिए कोई तात्त्विक आधार नहीं है। ऐसे लोगों को राष्ट्रीय कहने के लिए राष्ट्र की एक कृत्रिम परिभाषा बनाई गई है। खींचा-तानी कर लाया हुआ यह राष्ट्रप्रेम अपनी मातृभक्ति से भिन्न है।

संस्कृति की आकांक्षा

हमारी एक वंश-परंपरा है, समाज रचना है, धारणा है, एक धर्म है। समान सुख-दुःख, समान हितसंबंध और समान ही संकट हैं। समान संस्कारों के साँचे में सबके अंतःकरण को ढाला है। यह धारा पिछले हजारों वर्षों से बहती आई है। कभी जागते, कभी सोते उसकी अनुभूति हम करते हैं। परकीय संस्कारों के कारण कुछ आत्मग्लानि भले ही आ गई हो, फिर भी कभी-कभी एकता का स्मरण हो आता हैं।

हम समझें या न समझें, कहें या न कहें, पर एक ही आकांक्षा सबकी है कि अपने पवित्र हिंदू संस्कृति और धर्म की नीति पर आधारित सामर्थ्यशाली शक्ति द्वारा अपना धार्मिक साम्राज्य विश्व में हो। संसार भर को हम श्रेष्ठ बनाते हुए 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' के आत्मविश्वासपूर्ण उद्घोष को सार्थक करेंगे। यह आकांक्षा 'मैं हिंदू नहीं' कहनेवाले के मन में भी होती है। हमारे प्रधानमंत्री कहते हैं कि 'भारत एशिया का ही नहीं, विश्व का नेतृत्व करेगा।' हालाँकि वे यह नहीं जानते कि यह हिंदू भावना है, अन्यथा वे कहते नहीं। किसी पर राज्य करना हमारा ध्येय नहीं है। जवाहरलाल जी भी कहते हैं– 'हम राजनैतिक प्रभुत्व नहीं चाहते, विश्वबंधुत्व चाहते हैं।' यह सारा विचार हिंदुत्व का ही है। इसलिए मैंने कहा कि सबकी एक ही आकांक्षा है। किंतु आजकल 'हिंदू राष्ट्र' कहते ही झमेला खड़ा हो जाता है। अपने मन में नहीं, लोगों के मन में, क्योंकि बाहरी संस्कार का बोझ उनके मन पर है।

सरदार वल्लभभाई पटेल के बड़े भाई विट्ठलभाई पटेल और मोहम्मद अली– दोनों कांग्रेस के बड़े नेता थे। अस्वस्थ होने पर अपना इलाज कराने विदेश गए। अपनी मृत्यु को अटल देख उन्होंने अपने मृत्युपत्र बनवाए। विट्ठलभाई ने लिखा था – 'मेरे शरीर को गंगा के किनारे दहन करें और यदि संभव न हो तो मेरी अस्थियाँ प्रयाग में त्रिवेणी संगम में विसर्जित करें।' परंतु मोहम्मद अली ने लिखा था– 'मेरे शरीर को मक्का शरीफ में दफनाया जाए।' इस उदाहरण से हम समझ सकते हैं कि राष्ट्रीय कौन है? मेरी पंचभौतिक देह मातृभूमि में विलीन हो, यह धारणा राष्ट्रीय है। हिंदू के अतिरिक्त कोई भी यहाँ का राष्ट्रीय नहीं हो सकता। स्वयं पंडित जवाहरलाल जी की धर्मपत्नी का उदाहरण भी वैसा ही है। वर्तमानकालीन संस्कारों के कारण अपने को हिंदू न कहनेवाले नेहरूजी ने लिखा है– 'उस

राख को मैं कूड़े में नहीं फेंक सका, त्रिवेणी में विसर्जित किया।' लाख दबाने पर भी हिंदुत्व का भाव अंदर से निकलता ही है।

परकीय किसी राष्ट्र पर केवल शक्ति के बल पर अपना राज बनाए नहीं रख सकता। इसलिए जिनपर राज्य करना है, उनके मन में विदेशी लोगों को हटाने की भावना न उठे इसका प्रयत्न करता है। वह विजित देश का स्वाभिमान नष्ट कर और एक प्रकार का न्यूनगंड उत्पन्न कर अपनी धाक जमाता है। इसी नीति के अंतर्गत मुसलमान व अंग्रेजों ने हमारे मानचिह्नों को भ्रष्ट किया। मंदिर नष्ट कर उनके स्थान पर मस्जिदें खड़ी कीं। गौहत्या करना भी उसका एक भाग है।

साहब वाक्यं प्रमाणं

हजार वर्ष के पहले जिस प्रकार का श्रेष्ठ जीवन यहाँ था, उससे बढ़कर तो आज दिखाई नहीं देता। आज जो कुछ निर्माण हो रहा है, वह तो निर्माणकर्ता के जीवनकाल में ही नष्ट हो जाता है, किंतु उपनिषदों की ताकत तो आज भी कम नहीं हुई है। देश में संपन्नता भी प्रचुर मात्रा में थी। इसीलिए इसे 'सोने की चिड़िया' कहा जाता था। परकीय देशों से आए प्रवासियों ने लिखा है कि यहाँ कोई भूखा नहीं था। सबको पर्याप्त मात्रा में अन्न-वस्त्र मिलता था। सोमनाथ के मंदिर का ही उदाहरण लें—उसपर आघात कर आक्रामक जो संपत्ति ले गए, उसकी गणना नहीं की जा सकती थी।

निरपेक्ष सेवा

अपनी पवित्र मातृभूमि आघातों के कारण विकृत हुई है, उसके अवयव टूट गए हैं, इसलिए क्या हम उसे ठुकरा देंगे? ऐसी स्थिति में तो उसकी अधिक सेवा करनी पड़ेगी। पूर्ण वैभव के साथ उसका उत्कृष्ट और स्वस्थ शरीर सबके सम्मुख उपस्थित हो, इसके लिए प्रयत्न करना होगा। एक सज्जन ने मुझसे कहा, 'समाज की चिंता हम क्यों करें? उसने हमारे लिए क्या किया है?' यह सुनकर मुझे अत्यंत दुःख हुआ। यह तो बहुत ही हीन प्रवृत्ति है। अतः त्याज्य है। इस संदर्भ में मुझे महाभारत का एक प्रसंग याद आता है। युधिष्ठिर वनवास में थे। सब प्रकार के कष्ट थे, फिर भी भगवान की भक्ति किया करते थे। एक बार द्रौपदी क्रुद्ध होकर बोली, 'क्या दिन-रात भगवान का ध्यान करते रहते हो? उसने तुम्हारे लिए क्या किया है?' युधिष्ठिर तो शांत प्रवृत्ति के थे। आजकल के होते तो डायवोर्स ले

लेते। उन्होंने कहा, 'भगवान को पैसा या फूल चढ़ाकर पुत्र या संपत्ति माँगनेवाले लोग भगवान की भक्ति नहीं करते, व्यापार करते हैं। ठगबाजी से व्यापार करना अथवा कुछ पाने की इच्छा से उपकार करना गलत है। भगवान सुख में रखे या दुख में, पोषण करे या न करे, मैं अपनेपन के भाव से किसी भी स्थिति में उसकी सेवा ही करूँगा।' इसी प्रकार समाज से कुछ लेना तो दूर, वह अपनी पूरी ताकत चूस ले तो भी चलेगा। समाज की सेवा करते समय जीवन रहे या मिट जाए, उसकी चिंता नहीं रहनी चाहिए। वह अपना स्वामी है। इस भाव को लेकर चलने से पतन का भय नहीं रहता।

हमारा छोटा कुटुम्ब ही सर्वस्व है– ऐसा समझकर हिंदू राष्ट्र को भुला दिया। मानवता का विचार करते-करते हमारा देश खंडित कर डाला। मानवता का यह विचार भ्रम में डालनेवाला है। जब-जब हम अपनी मर्यादा के अनुसार चले हैं, हमारा राष्ट्र ऊपर उठा है। जब-जब हमने मर्यादा को छोड़ा, हमारा पतन हुआ। हमारे पूर्वजों ने यही विचार हमारे सामने रखा कि अपने पवित्र हिंदू धर्म और हिंदू समाज को सर्वस्व समझकर पुत्र के नाते मातृभूमि की सेवा करें। अपने राष्ट्र को सुसंगठित करने का कार्य याने राष्ट्रीय कार्य है, इसे छोड़कर अन्य कोई कार्य राष्ट्रीय कार्य नहीं, इस प्रकार का शुद्ध आत्मविश्वास चाहिए।

राष्ट्रीयता को तर्क द्वारा प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि केवल युक्तिवाद से कोई सिद्धांत को मानता नहीं। महर्षि वेदव्यास जी ने लिखा है कि भगवान श्रीकृष्ण जैसे ने अर्जुन को समझाने की बहुत कोशिश की, पर वह तर्क से नहीं माना। जब उन्होंने अपना विराट विश्वरूप दिखाया, तब अर्जुन माना। नमस्कार के लिए चमत्कार की आवश्यकता है।

हम अपने समाज को ऐसा सामर्थ्यशाली बनाएँगे की दुनिया अपनी ओर आँख न उठा सके। लेकिन ऐसी अजेय शक्ति जिसके बिना अपना जीवन नहीं, वह केवल राजनीति के द्वारा आ नहीं सकती। कोई-कोई कहते हैं कि जिसकी फौज, उसका राज। मेरा कहना है– जिसका राज, उसकी फौज। वास्तव में फौज में शक्ति नहीं होती। उसमें शक्ति आती है समाज की अपनी आंतरिक लालसा, आकांक्षा और राष्ट्र प्रेम की ज्योति की प्रखरता से। उसके बिना सेना दुर्बल होती है। मोहम्मद गौरी को १७ बार परास्त करने के बाद भी पृथ्वीराज चौहान हार गए। क्या उपयोग हुआ उस सैन्य-शक्ति का? प्लासी की लड़ाई में नवाब सिराजुद्दौला का सेनापति

अंग्रेजों के साथ हो गया। ऐसी फौज का क्या भरोसा? जिस पेड़ की जड़ में जीवन-रस रहता है, उसकी शाखाएँ हरी-भरी रहती हैं। जहाँ लोगों के मन में राष्ट्र के प्रति प्रेम, स्वाभिमान और श्रद्धा की दिव्य भावना रहती है, विजयशालिनी शक्ति वहीं रहती है।

युगानुकूल मार्ग

एक सज्जन ने मुझसे पूछा– 'राष्ट्रजीवन के लिए शंकराचार्य का मार्ग उपयुक्त है अथवा विक्रमादित्य का? शंकराचार्य ने स्थान-स्थान पर विद्वानों से शास्त्रार्थ कर उन्हें परास्त कर बौद्ध धर्म का ढोंग रचनेवाले भ्रष्ट राष्ट्रद्रोही व्यक्तियों को उखाड़ फेंका था। क्या आज उनके मार्ग का अनुसरण करना ठीक नहीं होगा?' मैंने कहा, 'आज वह मार्ग उचित नहीं है। उस जमाने में लोगों में बौद्धिक प्रामाणिकता थी। आज वैसी नहीं है।' अतः इस समय शंकराचार्य का मार्ग उपयोगी नहीं है।

दूसरा मार्ग विक्रमादित्य का है। परकीयों ने उसके पिता की हत्या कर उसका राज्य छीन लिया था। उसने लोगों को संगठित कर अपने पराक्रम से शत्रुओं को देश के बाहर खदेड़कर एकछत्र साम्राज्य स्थापित किया। इस युग का महामंत्र है 'संगठन करो' और यही आज का युगधर्म है। तर्कसिद्ध इतिहास यही एक मार्ग बताता है। शक्ति के द्वारा ही सर्वत्र जय-जयकार होगा। हमारे सामने संगठन ही एकमेव लक्ष्य है। संगठन करने का उद्देश्य चुनाव लड़ना या दंगे करना नहीं है, वरन् अपने राष्ट्र को चिरंतन वैभव प्राप्त करा देना है।

इसके लिए साधन हमारी दैनंदिन की शाखा है। संगठन के कार्यक्रम इसका साधन है। अतः संगठन ही साधन और संगठन ही साध्य है। विद्वानों ने कहा है– 'साधन और साध्य का तादात्म्य जहाँ हो, वहीं चिरंतन कार्य होता है। अपने राष्ट्र में सामर्थ्य का संचार शाखा के द्वारा कराने का व्रत हमने लिया है। व्यक्ति एक दूसरे के साथ रहकर 'सबका प्राण एक है' इसका संस्कार द्वारा अनुभव करें। आसेतु हिमाचल सारे बंधु एक समय, एक ही ध्वजा के सम्मुख एक भाव से, एक समय, एक ही गर्जना कर रहे हैं, इसकी अनुभूति कर, इस पवित्र कार्य के लिए सर्वस्व त्याग करने को तैयार रहे। जैसे-जैसे यह अनुभूति होगी, हमारे बीच नितांत स्नेह उत्पन्न होगा। मेरा जीवन भले ही नष्ट हो जाए, परंतु अपने भाई का बाल बाँका नहीं होने दूँगा– यह भावना निर्माण होगी। श्रीकृष्ण और

अर्जुन का मित्रत्व प्रसिद्ध है। सारथी होने पर भी वैष्णवास्त्र को अपने सीने पर झेला। देह भले ही चली जाए, परंतु मित्र को बचाऊँगा, मित्र-प्रेम का आदर्श श्रीकृष्ण ने अपने सामने रखा है। मित्रता हृदय की शुद्ध सद्भावना से निर्माण होती है, ढोंग, कपट, कृत्रिमता के नाटक से नहीं।

ॐ ॐ ॐ

संघ शिक्षा वर्ग, १९५३

(३)

परंपरा से चलती आई अपने एकात्म जीवन की अनुभूति कर उसी प्रेरणा से अपनी माता का उत्थान करने का कार्य हमने अपनाया है। उसमें आए दौर्बल्य, आत्मविकार आदि दुर्गुणों को हटाकर संपन्न जीवन उत्पन्न करना संगठन के बिना संभव नहीं, यह हमने देखा है। संगठन-कार्य के लिए तीन प्रमुख गुण चाहिए। प्रत्येक हिंदू अपना निकटतम मित्र है, इसका ज्ञान; दूसरा, कार्यसिद्धि के लिए अनुशासनबद्ध शक्ति और तीसरा, संस्कार। अपने सारे कार्यक्रम इसी के निमित्त हैं। अपना काम अच्छा है– इतने भर से काम नहीं होता। उसको कार्यरूप में परिणित करने के लिए आवश्यक संस्कार ग्रहण करने पड़ते हैं।

अपना अनुभव है कि व्यक्ति स्वयंसेवक बनता है, कुछ काल तक कार्य करता है। कोई-कोई तो प्रचारक के रूप में भी काम करता है, कोई अधिकारी के नाते काम करता है। लेकिन फिर वह काम से अलग हो जाता है अथवा शिथिल पड़ जाता है। उनको देखकर बहुत से लोग अनुमान करते हैं कि संघ के काम में ही कुछ त्रुटि है, इस कारण इतना अच्छा कार्यकर्ता अब काम नहीं कर रहा। परंतु वास्तविक बात यह है कि उसने दैनंदिन कार्यक्रम में संस्कार दूसरे को तो दिए, परंतु स्वयं नहीं लिए। उसमें कहीं कोई छिद्र रह जाता है, जिसमें से संस्कार चू जाते हैं। अपने यहाँ एक सुभाषित है– 'वितरति गुरु प्राज्ञेः,' अर्थात् गुरु सबको समान भाव से विद्या देता है, परंतु केवल मणि चमकता है और मिट्टी का गोला वैसा ही रहता है। ये स्वयंसेवक वैसे ही होते हैं। इसलिए कार्यक्रमों द्वारा संस्कार ग्रहण करने का दृष्टिकोण प्रतिक्षण होना चाहिए, अन्यथा शुष्क रहने की बारी आती है। राष्ट्र के अभ्युदय के कार्य में हम आगे बढ़ सकें– इसके लिए संस्कारों को समुचित रूप से ग्रहण करना अति आवश्यक है।

तत्त्व व्यवहार में हो

डाक्टर साहब के घर एक सज्जन ठहरे थे। वे रोज प्रातः नियम से गीता का पाठ किया करते थे। एक बार वे गीता का पाठ कर रहे थे कि डाक्टर साहब का घर आना हुआ। डाक्टर साहब ने उनसे पूछा– 'आप गीता पढ़ते हैं उसके अनुसार कुछ व्यवहार भी करते हैं क्या?' यह सुनकर वे एकदम बिगड़ गए और बोले, 'यह तो पूजा है। व्यवहार्य थोड़े ही है।' ऐसे लोग हमेशा कोरे ही रहेंगे। अपने को ऐसा नहीं होना है। हमें तो सब बातों को दिन-प्रतिदिन चरितार्थ करना होगा। उदाहरणार्थ– अपना यह हिंदू समाज विभिन्न भाषा, वेशभूषा, रीति-रिवाज, शरीर यष्टी आदि से युक्त है। कुछ लोगों की सभ्यता दर्जी और धोबी के हाथ में रहती है। जहाँ वे स्वयं नहीं पहुँच सकते, वहाँ उनकी सभ्यता कैसे पहुँचेगी?

समुद्र किनारे मछुआरों के गाँव में एक शाखा चलती थी। उस शाखा पर एक दिन एक कौपीनधारी, शरीर से हृष्टपुष्ट, रंग से काला मछुआरा आया। उसके रंग-रूप के कारण बाकी स्वयंसेवक उससे दूर रह रहे थे। लेकिन अपने ही समाज का एक अंग अपने पास आने पर यदि हृदय में धड़कन पैदा न हो तो क्या हम शाखा चला सकेंगे? स्थायी प्रेम न रहा, तो केवल बनावटी प्रेम से अपना कार्य नहीं चल सकेगा।

आत्मीयतापूर्ण सहकार

हम अपने परिवार, पड़ोसियों, सहपाठियों से इस दृष्टिकोण से मिलें। उनसे अपने अच्छे संबंध रहें। स्त्रियों को यह विश्वास होना चाहिए कि अपना भाई, पति या लड़का इसके साथ रहेगा तो अच्छा आदमी बनेगा। अपने प्रति आदर, श्रद्धा उत्पन्न होकर हम उनके आकर्षण का केंद्र बनें। प्रतिक्षण संघ-बंधुओं के प्रति अपना व्यवहार कैसा होता है, यह निरीक्षण आवश्यक है। अधिकार की, अभिमान की अत्यंत निकृष्ट भावना अपने हृदय से हटाकर, प्रेममय श्रद्धापूर्ण व्यवहार का संस्कार अपने पर करना चाहिए। मशीन में तेल से स्नेहयुक्त सहकार (Lubricant Co-operation) उत्पन्न होता है। उसे सतत बनाए रखें। यदि कोई विद्वेष या भेद उत्पन्न करने का प्रयत्न करे तो उससे साफ कहना चाहिए कि हमारे शुद्ध प्रेम में कोई खंड नहीं होगा। किसी प्रकार की स्पर्धा या संघर्ष को अपने काम में स्थान नहीं है। यदि कार्यकर्ता में इस प्रकार की भावना रही, तो कार्य में बाधा उत्पन्न नहीं होगी। इसलिए रात में सोने के पूर्व

आत्मपरीक्षण करना चाहिए कि आज मैंने क्या-क्या किया। किसी से संघर्ष तो नहीं हुआ। किसी स्पर्धा में तो नहीं पड़ा। क्रोध में आकर किसी से दुर्व्यवहार तो नहीं किया। संघकार्य की वृद्धि का आज कितना प्रयत्न किया। यदि काम किया तो वह संघ की पुण्याई के कारण संभव हुआ है और यदि कोई दोष दिखाई दे तो फिर से ऐसा नहीं होगा, इसका निश्चय करें। ऐसा करना संगठन के अनुकूल व्यवहार और वाणी निर्माण करने में सहायक होगा।

विशुद्ध चरित्र

समाज में लोकप्रिय होना है तो इसके लिए हमें अपना चारित्र्य अच्छा रखना होगा। चरित्रहीन मनुष्य सदा के लिए आकर्षण अथवा श्रद्धा का केंद्र नहीं बन सकता। चरित्र के संबंध में अपने मन में स्पष्ट कल्पना होनी चाहिए। सुबह से लेकर रात तक अति शांत स्वभाव, किसी से कोई संबंध नहीं, ऐसे व्यक्ति को क्या चरित्रवान या सज्जन कह सकते हैं? चरित्र या शील का होने का अर्थ पत्थर होना नहीं है। चैतन्य जिसके अंदर है, ऐसे व्यक्ति को ही 'जिंदा' कहा जा सकता है। दिन-रात व्यवहार में रत रहकर भी जिसके चरित्र पर कोई धब्बा न हो, ऐसा जीवन चाहिए। जो बेचारे सज्जन कहे जाते हैं, उनसे तो चोर अच्छा, क्योंकि उसमें कोई गुण या कार्यशीलता तो है, चैतन्य तो है। ऐसे व्यक्ति का दृष्टिकोण बदलकर उसे राष्ट्रकार्यार्थ चोरी करने के लिए प्रवृत्त किया जा सकता है। हमारे यहाँ भगवान श्रीकृष्ण को 'स्तेनानां पतये नमः' अर्थात् चोरों का नायक कहा है। ऐसे चोर अच्छे हैं। चेतनायुक्त कर्तव्यसंपन्न चारित्र्य हमें चाहिए। एक क्षण भी मानसिक दुर्बलता को फटकने नहीं दूँगा, ऐसी अखंड सावधानता चाहिए। निकम्मेपन का जीवन किसी काम का नहीं।

आजकल स्नान-संध्या, पूजा-पाठ व नौकरी में अपना संपूर्ण जीवन लगा देनेवाले लोगों की संख्या अधिक दिखाई देती है। रामदास ने संन्यासी होकर भी राष्ट्रीय चारित्र्य के निर्माण में अपना जीवन लगाकर, शिवाजी जैसे आदर्श राष्ट्रपुरुष का निर्माण किया। लोग ऐसे समर्थ रामदास के ग्रंथ 'दासबोध' का पाठ तो रोज करते हैं, परंतु परकीय सरकार की नौकरी करने में उन्हें लज्जा नहीं आती। ऐसे लोगों को सज्जन या चरित्रवान नहीं कहा जा सकता। ऐसे लोग तो चरित्रहीन हैं, पापी हैं। महापराक्रमी पितामह भीष्म, आचार्य द्रोणादि महान होने पर भी वध्य बने थे। जिसका एक-एक

क्षण निःस्वार्थ भाव से राष्ट्रार्थ समर्पित होता है, वही राष्ट्रीय चारित्र्य का आदर्श हो सकता है, अन्य कोई नहीं।

पथ्य-अपथ्य विचार

अपने इतिहास की घटना है। अहमदाबाद का पुराना नाम कर्णावती था। कर्ण नामक पराक्रमी राजा के कारण ही इस शहर का नाम कर्णावती है। ऐसे पराक्रमी लोगों में भी कभी-कभी विषय-वासना बस जाती है। एक दिन वह अपने सामंत की युवा लड़की को उठा लाया। दुःखी सामंत अपने प्रधान अमात्य के पास गया और आपबीती बताई। अमात्य शस्त्र-शास्त्र में पारंगत था व विशुद्ध चरित्र का स्वामी था। उसे यह सुनकर अपने राजा पर क्रोध आया। उस क्रोध में वह राज्य छोड़कर चला गया। परंतु इतने मात्र से उसे संतोष नहीं हुआ। उसने सोचा कि राजा को उसके अपराध के लिए दंड देना चाहिए। मुसलमान राजा दक्षिण पहुँचने के अभिलाषी थे ही, अविचार के कारण अमात्य ने उनकी सहायता ली और कर्ण को मृत्युदंड दिलवाया। पर इसका परिणाम यह हुआ कि दक्षिण का रास्ता परकीयों के लिए खुल गया। मुगलों के आने के बाद तो सर्वत्र ही अनाचार और भ्रष्टाचार फैला। अमात्य स्वयं तो भ्रष्ट हुआ ही, उसने सारे समाज को भी भ्रष्ट किया। केवल स्वयं का विचार करने का यह भीषण परिणाम हुआ।

ठीक दूसरा उदाहरण खंडोबल्लाल का है। उसने कहा भले ही मेरा परिवार राजा के द्वारा नष्ट हुआ है, फिर भी मैं छत्रपति शिवाजी द्वारा निर्मित स्वराज्य को नष्ट नहीं होने दूँगा। शिवाजी का पुत्र संभाजी विषयी था। खंडोबल्लाल की स्वयं की बहन पर भी कर्णावती के सामंत के समान प्रसंग आया था। परंतु उसने अपनी बहन को राष्ट्रार्थ देहत्याग करने को कहा। राजा की पापदृष्टि के कारण बहन भ्रष्ट हुई और उसे आत्महत्या करनी पड़ी, फिर भी राजा व राज्य के प्रति पूर्ण प्रामाणिक रहा। संभाजी की मृत्यु के पश्चात् शिवाजी के दूसरे पुत्र राजाराम को सिंहासन पर बैठाने के लिए उसने प्राणप्रण से चेष्टा की। उस प्रयास में उसे अपनी सारी संपत्ति और पुत्र की बलि देनी पड़ी। स्वयं का कोई स्वार्थ नहीं। शरीर की बोटी-बोटी कट जाए, परंतु राष्ट्र की उन्नति किए बिना नहीं रहूँगा, ऐसी दृढ़ता का भाव अंतःकरण में रहना चाहिए। लड़के-बच्चे और परिवार तो पशुओं के भी होते हैं। सूअर तो सबसे बड़े परिवारवाला होता है, परंतु इस कारण वह श्रेष्ठ नहीं माना जाता।

त्याग का अभिमान घातक

सामूहिक रूप से राष्ट्रीय वृत्ति लेकर दृढ़ निश्चय के साथ आगे बढ़ते समय एक सावधानी रखने की आवश्यकता होती है, क्योंकि व्यक्ति जब यह मानने लगता है कि मैं त्यागी सामाजिक कार्यकर्ता हूँ, तब वह आत्मकेंद्रित हो जाता है और उसी भ्रम में समाजसेवा का स्वप्न देखता है। सार्वजनिक कार्य करनेवाले ऐसे कार्यकर्ताओं के उदाहरण आजकल बहुत हैं। अहंकार को हटाकर सफलता के विश्वास के साथ आगे बढ़ना आवश्यक है।

विजयाकांक्षा चाहिए

कार्यकर्ता दो प्रकार के होते हैं– एक वे हैं, जो अपनी सारा अहंकार नष्ट कर 'करिष्ये वचनं तव' की वृत्ति से आगे बढ़ते हैं और दूसरे वे होते हैं, जिनका प्रयास अपनी स्वतंत्र इच्छा, आकांक्षा, कल्पना के अनुसार संघ को अपने हाथ का खिलौना बनाने का रहता है। सफलता न मिलने पर दूसरे प्रकार के लोग काम से अलग हो जाते हैं। अंतिम सफलता अनुशासित संगठन-शक्ति के लिए सर्वस्व अर्पण करने से ही प्राप्त होती है।

शिवाजी का उदाहरण अपने सामने है। अफजलखान उन्हें समाप्त करने के लिए बड़ी भारी सेना लेकर आया था। वह शिवाजी को युद्ध के लिए मैदान में लाना चाहता था, किंतु अपनी सीमित शक्ति के कारण शिवाजी मैदानी लड़ाई टालना चाहते थे। शिवाजी को उत्तेजित कर अपने जाल में फँसाने में अफजलखान ने अपनी ओर से कोई कसर नहीं रखी थी। स्त्रियों को भ्रष्ट किया, सबके आराध्य पंढरपुर के तीर्थक्षेत्र को ध्वस्त किया, शिवाजी की कुलस्वामिनी देवी तुलजापुर के मंदिर को तहस-नहस कर डाला। तब शिवाजी के सगे-संबंधियों ने उन्हें भला-बुरा कहा। किंतु शिवाजी अपनी योजना के अनुसार ही चले। अफजलखान से समझौते की बातें की, परंतु क्या करना है– इसका मन में पक्का निश्चय कर रखा था। झुकने और डरने का अभिनय कर उससे अपनी सारी शर्तें मनवा लीं। ऐसा आत्मविश्वास व विजय की आकांक्षा चाहिए।

अपनी संस्कृति की सीख विजय की आकांक्षा की ही है। वीर अर्जुन भगवान शंकर से भी नहीं डरा। ऐसा युद्ध किया कि शंकर भगवान को भी 'धन्य' कहना पड़ा। जिसे पराजय मालूम नहीं, उसी की पूजा होती है।

हमारा कार्य तत्त्व शुद्ध कार्य है। इसी से अपने राष्ट्र का उद्धार होनेवाला है। अपना यह धर्म-कार्य सफल होगा ही। दुर्बल दिखनेवाले अपने इन्हीं हाथों से अपने राष्ट्र का उत्थान होकर रहेगा।

संघ शिक्षा वर्ग, १९५३

(४)

सार्वजनिक समारोप

अपने को यहाँ छोटे रूप में संपूर्ण भारत का स्वरूप देखने को मिलता है। पंजाब में बोली जानेवाली पंजाबी से लेकर दक्षिण में बोली जाने वाली तमिल, मलयालम भाषा-भाषी स्नेह के एकसूत्र में बँधकर एक-दूसरे के साथ घुल-मिलकर रहते हैं। इनमें कुछ पढ़े-लिखे हैं, तो कुछ अपढ़; कुछ किसान हैं तो कुछ व्यापारी; कुछ कर्मचारी हैं तो कुछ मजदूर, किंतु ये सब समान भूमिका से कंधे से कंधा मिलाकर खेलना, साथ रहना, खाना-पीना करते हुए अंतःकरणपूर्वक समानता, स्नेह, बंधुता आदि का अनुभव लेते हैं। यह ठीक है कि नागपुर में गर्मी कुछ अधिक है। लेकिन हमारे लिए तो यही सर्वोत्तम 'हिल-स्टेशन' है। इस प्रकार के आनंदमय वातावरण के कारण प्रशिक्षार्थी स्वयंसेवकों को किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव नहीं होता। वे अपना शारीरिक स्वास्थ्य सुधारकर ही यहाँ से जाते हैं। हालाँकि सुबह ३.४५ से लेकर रात्रि १०.३० बजे तक सतत कार्यक्रम चलते रहते हैं। यहाँ के कार्यक्रमों में मन और बुद्धि को शिक्षा मिले, अपना काम क्या है, इसको कैसे करना है, आदि का यथायोग्य ज्ञान आपस की बातचीत के माध्यम से प्राप्त करते हैं।

संगठन की आवश्यकता

कुछ लोग कहते हैं कि यह बड़ा तानाशाही संगठन है, तो कुछ लोग कहते हैं कि संघ सत्ता प्राप्त करना चाहता है। इस प्रकार अनेक लोग अनेक बातें कहते हैं। एक बार एक अच्छे सज्जन अपने वर्ग को देखने आए। सब कुछ देखने के बाद उन्होंने कहा, 'संघ तो बहुत अच्छा है। इस संगठन से लोग इतने भयभीत क्यों हैं? अकारण भयभीत रहने वाले लोगों की बुद्धि की तारीफ ही करनी चाहिए।' सद्भावयुक्त अंतःकरण से देखनेवाले इसे आत्मप्रत्यय, आत्मविश्वास, निर्भयता और पौरुष के साथ

व्यक्तिगत अहंकार छोड़कर संपूर्ण समाज की उत्तम एकात्मता का साक्षात्कार करा देनेवाला, अनुशासन की शिक्षा देनेवाला संगठन कहते हैं।

लोगों के प्रश्नों का एक ही उत्तर है कि यह समाज अपना है, इसलिए इसे संगठित करना है। हम इसमें उत्पन्न हुए हैं, पीढ़ी दर पीढ़ी इसने हमारा पालन-पोषण किया है, समाज के हम पर अनंत उपकार हैं। समाज की जीवनधारा में संस्कारित होकर ही हम लोगों ने मनुष्यता के सद्गुण प्राप्त किए हैं। हमारे पूर्वजों ने अपनी कीर्ति, पराक्रम, ज्ञान आदि से श्रेष्ठत्व प्राप्त किया था। उस श्रेष्ठत्व के गौरव के अंशभागी होने के कारण इस समाज को पुनरपि गौरवसंपन्न बनाना अपना कर्तव्य है। उस कर्तव्य को पूर्ण करने के लिए ही हम यह संगठन करते हैं।

ईश्वर का दान

अपने को मालूम है कि हिंदू समाज में कमी किसी बात की नहीं है। हमारी यह भूमि परमात्मा की कृपा से बहुत अच्छी है, जो चाहे इससे प्राप्त किया जा सकता है। केवल लेनेवाला चाहिए। सबका पेट आकंठ भर सके, इतना यह भूमि अपने को बड़े आनंद और सुलभता के साथ दे सकती है। सब प्रकार से बुद्धिमान, शक्तिसंपन्न, रण-धुरंधर लोग यहाँ हैं। पिछले दो महायुद्धों में अपनी सेना ने रणचातुर्य और निर्भयता सब देशों के सामने प्रकट की है। विभिन्न प्रकार के संशोधन, शारीरिक श्रम करने की पात्रता अपने यहाँ मौजूद है। इतना सब होते हुए भी हिंदू इस नाते से आदरणीय जीवन प्राप्त करने के मार्ग में यदि कोई कमी है तो केवल उन्नति और वैभव प्राप्त करने के लिए जो सामर्थ्य और विश्वास चाहिए, उसकी। ईश्वर ने तो खुले हाथ से दिया है। यह नहीं है कि हमें कोई नई बात करनी है। इसी भूमि पर हमने सब कुछ प्राप्त किया था।

समाज को सुसंगठित करने का अर्थ है– उसमें जो छिन्न-विच्छिन्नता दिखाई देती है, उसे दूर करके सामर्थ्यवान बनाना, जैसे– कोई कहता है कि हमारा प्रांत अलग करो, कोई कहता है कि मैं ब्राह्मण हूँ, कोई कहता है कि मैं आर्य समाजी हूँ, कोई कहता है कि मैं सिख हूँ, मुझे अलग राष्ट्र चाहिए। एक समाज के होते हुए भी आपस में झगड़ा हो रहा है। झगड़ों के कारण दुर्बल हुए अपने समाज को खाने के लिए अन्यान्य समाज तैयार बैठे हैं। भिन्न-भिन्न प्रकार के मतभेदों के कारण दुर्बल हुआ अपना समाज दुनिया भर के विभिन्न समाजों के लिए अच्छा और सुलभ खाद्य है–

बिल्कुल मक्खन के गोले की तरह, जिसे दाँत लगाने की आवश्यकता नहीं रहती।

अहिंदू समाजों की करतूत

मुसलमान, ईसाई, कम्युनिस्ट हमारे यहाँ इसी ताक में लगे रहते हैं। मुसलमानों के कारण ही हमारी भारतमाता के टुकड़े हुए। बीसवीं शताब्दी में सोचने-समझनेवाले, पढ़े-लिखे, देश-विदेश का ज्ञान रखने वाले, अपने को आधुनिक समझनेवाले लोगों ने भारतमाता का विच्छेदन करने का अघोरी कृत्य किया और भारत के मुसलमानों ने उसका समर्थन किया। भारत के विभाजन का उन्होंने कभी भी धिक्कार नहीं किया। विभाजन के कारण लाखों भारतवासी निर्वासित हुए, उसके लिए मुसलमानों ने निषेध का एक अक्षर भी नहीं बोला।

अब रहे ईसाई। कुछ दिन पहले ही उनका एक सम्मेलन हुआ है। वहाँ पर कहा गया कि ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए यहाँ बहुत अच्छा वातावरण है। परमात्मा का ज्ञान देने के नाम पर वे अपने मत का प्रचार करते हैं। भारत में आकर धर्म की शिक्षा देना याने भरे पेट मनुष्य को आग्रह से खिलाने जैसा है। वे धर्म की शिक्षा देने की बात करते हैं, पर जो स्वयं देख नहीं सकता, वह दूसरों को दृष्टि क्या देगा। किंतु जनतंत्र के इस युग में लोकसंख्या के आधार पर प्रभुत्व प्राप्त होता है, राज्य मिलता है। इसे देखकर हिंदुस्थान में अपनी लोकसंख्या बढ़ाकर नागा पर्वत और झारखंड में ईसाई के नाते स्वतंत्र राज्य की माँग कर रहे हैं। इसके लिए वह कुछ भी करने को तैयार हैं। अभी-अभी नागा पर्वत में प्रधानमंत्री के सम्मान में एक सभा आयोजित की गई थी। सभा चल ही रही थी कि अपनी माँग के समर्थन में सभा के बीच से ३-४ हजार लोग बहिष्कार कर चले गए। इस प्रकार दहशत निर्माण कर जबरन अपनी बात मनवाना चाहते हैं। हमारे संविधान में स्वयं-निर्णय (Self-determination) का अधिकार दिया है। अर्थात् जहाँ लोग रहते हैं उनको यह अधिकार है कि वे चाहें तो भारत से अलग होकर रह सकते हैं। इस कारण उन्हें विश्वास है कि जनसंख्या बढ़ाकर सार्वमत के आधार पर वे सरकार को झुका सकते हैं, अपना अलग राज्य बना सकते हैं।

भिन्न-भिन्न मिशन हिंदुस्थान में चलते हैं जिनकी संख्या १७८ के लगभग है। इनमें से प्रत्येक के सैंकड़ों केंद्र चलते हैं, जिनमें २५००० से

अधिक पादरी ईसाई मत का प्रचार करते हैं। इसके लिए मैं उन्हें दोष नहीं देता, उसका कारण भी नहीं। सामर्थ्य के साथ चलने के लिए अनुकूल होते हुए भी हम अपने को दुर्बल बनाए हुए हैं, यह अपनी गलती है, औरों की नहीं। जो अपने घर को खुला रखकर दूसरे को चोरी करने के लिए निमंत्रण देता है, वह भी उस चोरी के पाप का भागी होता है। हम अपने को सुव्यवस्थित और संगठित कर इस पाप से बचें और दूसरों को भी बचाएँ।

सामर्थ्यहीन राजनीति निरुपयोगी

आजकल कहा जाता है कि राजनीति व आर्थिक उन्नति से सब कर लेंगे। परंतु इस तर्क में कोई तथ्य नहीं। कहते हैं कि एक जंगल में एक लोमड़ी और बिल्ली रहती थी। लोमड़ी ने बिल्ली से कहा, कि 'उसे अपनी जान बचाने के सौ हुनर आते हैं।' बिल्ली ने कहा 'मुझे तो एक ही हुनर मालूम है। संकट के समय पेड़ पर चढ़ना जानती हूँ।' इसपर लोमड़ी ने कहा, 'तेरा तो जीवन व्यर्थ है, संकट आने पर तू अपनी रक्षा कैसे करेगी?' इस प्रकार की बात चल ही रही थी, उतने में शिकारी कुत्तों की आवाज आई। बिल्ली ने लोमड़ी से कहा, 'तुम अपने सौ हुनर बताओ। मुझे तो एक ही आता है, मैं उसका प्रयोग कर रही हूँ।' इतना कहकर वह तो पेड़ पर चढ़ गई। मगर अपने राजनीतिपटु होने के अहंकार में लोमड़ी कुत्तों की पकड़ में आ गई। उसने काफी चेष्टा की, परंतु अपने प्राण न बचा सकी, क्योंकि कुत्ते तो राजनीति जानते नहीं थे, उसे फाड़कर खा गए।

शुद्ध राष्ट्रभावयुक्त, मातृभूमि के प्रेम से ओतप्रोत समाज की एकात्मता के साक्षात्कार पर आधारित उत्कृष्ट स्नेह, अनुशासन से परिपूर्ण सामर्थ्य जिसके पीछे नहीं है, वह राजनीति सफल होती ही नहीं। हमारी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के परिणाम हम देख ही रहे हैं। लंका केवल भारत से ही अलग नहीं हुआ, बल्कि एक समाज व एक वंश के होते हुए भी परस्पर कोई संबंध नहीं है। हिंदुस्थान के जो लोग वहाँ रहते हैं, उन्हें 'परकीय' कहकर बाहर निकालने का प्रयत्न हो रहा है। हमारी सरकार केवल एक कड़ा पत्र लिखकर अपना कर्तव्य पूरा कर लेती है। वहाँ के लोगों की जो दुर्गति हो रही है, उसे उसकी कोई चिंता नहीं। यदि विरोध वास्तविक रूप में कड़ा होता, उसमें गहराई होती तो परिणाम होता। अपने यहाँ से भेजे गए निषेध-पत्र की कोई कीमत नहीं है, क्योंकि उसके पीछे सामर्थ्य का अभाव है।

संघ शिक्षा वर्ग, १९५४

(१)

मुझे यह बताया गया है कि इस वर्ष अपने वर्ग में हिंदी का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हो रहा है। सब स्वयंसेवक हिंदी समझ लेते हैं। यह तो बड़ी प्रसन्नता की बात है। प्रत्येक अपनी मातृभाषा को तो जानता ही है, परंतु देश को एक सूत्र में गूँथनेवाली भाषा का ज्ञान होना भी आवश्यक है। अपनी राष्ट्रभाषा अच्छी तरह से बोलते, लिखते आना चाहिए। सब लोग इस दृष्टि से प्रयत्न कर रहे हैं, इसका अनुभव आज मुझे हिंदी में बोलने के लिए कहा गया है– इससे हो रहा है।

इतिहास का संकेत

भविष्य के लिए स्थायी कार्य का विचार करने के लिए पहले भूतकाल का अध्ययन करना पड़ता है। क्योंकि इतिहास की परंपरा जिसे मालूम है, वही अपने राष्ट्र के भविष्यकाल का विचार कर सकता है। जिसे अपना इतिहास और परंपरा मालूम नहीं, इतिहास को भुलाकर जो केवल आज का ही विचार करने का प्रयास करेगा, वह जो करेगा, वह उचित ही होगा और उससे किसी प्रकार की हानि नहीं होगी, यह कहना कठिन है।

हमें इतिहास के दो कालखंड प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। इतिहास के विद्वानों की दृष्टि से नहीं, सामान्य व्यक्ति की दृष्टि से। एक, आज से १२०० वर्ष पूर्व तक का और दूसरा, उसके बाद का। पहले खंड में अपना स्वतंत्र जीवन, अपना राज्य और अपनी जीवन धारा का वैभवयुक्त चित्र दिखाई देता है। रामायण, महाभारत आदि में यहाँ का जो वर्णन मिलता है वह अति सुसंस्कृत मानव और उसका सब प्रकार का आर्थिक विकास देखने में आता है। उस समय के वैभव के टूटे-फूटे अवशेष आज भी देखने को मिलते हैं। उससे पूर्वकाल के वैभव का अनुमान किया जा सकता है। कितनी श्रेष्ठता और कितना पराक्रम था भारत का कि 'पृथिव्यै समुद्र पर्यंताय एकराट्' के अपने उद्घोष को सत्य कर बताया। अपनी श्रेष्ठता, अपने धर्म, अपनी संस्कृति और प्रभुता को भारत के बाहर चारों ओर प्रसारित भी किया। आज भी सब ओर भारत के प्रभुत्व के अवशेष अस्तित्व में हैं। इसके स्मरण मात्र से अंतःकरण पुलकित होता है, आत्मविश्वास निर्माण होता है कि हम ऐसे पूर्वजों के पुत्र हैं, जिनके ज्ञान,

पराक्रम और श्रेष्ठता के कारण विश्व नम्र होता था। उन्हीं की परंपरा का आज तक स्मरण करते हुए, भले ही वह कुछ विकृत स्वरूप में ही क्यों न हो, आचरण करने वालों को 'हिंदू' इस नाम से पहचाना जाता है।

एक प्रश्न यह उठाया जाता है कि वेदों में 'हिंदू' शब्द का उल्लेख नहीं हैं? हमारा कहना है कि नहीं होगा। अपने को उससे क्या करना है? 'हिंदू' शब्द वेदों में नहीं था, इसलिए आज नहीं होना चाहिए ऐसा कहाँ लिखा है? इस शब्द के कारण हमारा समाज तो बदल नहीं गया। जैसे किसी ने 'गंगा' कहा, बाद में 'जाह्नवी' कहा, आगे जाकर 'भागीरथी' कहा। कोलकाता तक जाते-जाते वह 'हुबली' हो गई। नाम अलग-अलग होंगे, पर नदी तो एक ही है। गंगोत्री से लेकर समुद्र तक उसके नाम बदलते गए पर प्रवाह वही, जीवन वही, पवित्रता वही, श्रेष्ठता वही है। वह ब्रह्मवारि व पापहारी ही रहती है। ऐसे ही प्राचीन काल में हिंदू को क्या कहा होगा, भगवान जाने। शायद कुछ भी नाम न होगा। मान लो, आदमी अकेला हो, आसपास कोई न हो तो वह अपना नाम क्यों रखेगा? तब उसको नाम की जरूरत ही नहीं रहती। दूसरे से भिन्न हूँ और अपना परिचय कराना चाहिए— ऐसी आवश्यकता होती है, तब नाम रखना पड़ता है। उस समय तो केवल अपना ही समाज था। इसलिए नाम की जरूरत नहीं थी।

दूसरे कालखंड में हमें अलग ही चित्र दिखाई देता है। चारों ओर से परकीय लोग आक्रमण करने के लिए आए। उनके आक्रमण सफल हुए। विजयी होने के बाद वे यहाँ से वापस नहीं गए, यहीं रहे और अपने पर राज्य किया। अपने लोगों ने उनकी दास्यता स्वीकार कर उनका राज्य बनाए रखने व चलाने में अपनी सारी बुद्धि, शक्ति खर्च की। यह चित्र अभी तक चलता हुआ अपने को दिखता है।

पराजय का मूल कारण

प्रश्न उठता है कि विश्वविजय करनेवाला अपना समाज ऐसे लोगों, जिनके पीछे दो-तीन सौ वर्षों का इतिहास भी नहीं है, से परास्त क्यों हुआ? उनका दास बनने के लिए क्यों प्रस्तुत हुआ? कोई कहेगा कि आक्रमणकारी बड़े पराक्रमी थे, इसलिए विजयी हुए। पूर्वकाल में भी अपने पर शक, हूण, चीन, ग्रीक ने आक्रमण किए थे, परंतु उनको ऐसी मार मिली थी कि फिर भारत की ओर मुँह करने का साहस नहीं किया। शत्रुओं

से इस प्रकार का व्यवहार करनेवाले अपने समाज को ऐसा क्या हो गया कि उसकी इतनी दुर्गति हुई?

विचार करने पर ध्यान में आएगा कि अपना वैभवपूर्ण जीवन और बाहरी आक्रमण कोई नहीं, ऐसी प्रशांत अवस्था के कारण सबको अपनी मातृभूमि, अपने राष्ट्र इत्यादि बातों का विस्मरण हो गया। भूल गए कि आसेतु हिमाचल एक राष्ट्र, एक परिवार है। इस कारण छोटे-छोटे स्वार्थ, छोटे-छोटे राज्य निर्माण हुए और उसमें से उत्पन्न हुआ आपसी संघर्ष, ईर्ष्या, स्पर्धा और शत्रुता। फिर इन सबकी पूर्ति के लिए सुक्तासुक्त मार्ग का अवलंबन करने से न हिचकिचाने की अधम प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। उसी समय परकीय आक्रमणकारी आया। आपस के संघर्ष में लगे हुए लोगों ने सोचा कि अपने पड़ोसी को सबक सिखाने का यह अच्छा अवसर है। उन्होंने बिना सोचे परकीय को आमंत्रित किया, उसकी सहायता की और अपने बंधु को नष्ट करवाते-करवाते स्वयं भी नष्ट हो गए। तब परकीयों के अधीन रहकर दास्यता करने का भीषण प्रसंग भुगतना पड़ा। यही अपने विनाश का मूल कारण है।

दोष हटाना होगा

उक्त दास्यता जिस कारण आई है, पहले उसे दूर करने की आवश्यकता है। संघ के प्रारंभ-काल में लोग कहते थे कि संगठन वगैरह बाद में होता रहेगा, पहले स्वातंत्र्य मिलने दो। ऐसा कहनेवालों में से अभी भी बहुत से जीवित हैं। अब उनका कहना है कि वे जिसे 'स्वतंत्रता' कहते थे, वह मिल गई है। हालाँकि यह एक प्रश्न ही है कि स्वतंत्रता मिली है क्या? यदि यह मान भी लें कि स्वतंत्रता मिल गई है, तब भी इन वर्षों में संगठन करने की ओर एक कदम भी बढ़ा है क्या? दिखाई यह देता है कि संगठन तो दूर, चारों ओर विघटन का ही बोलबाला है। पंथ एक दूसरे का गला घोंट रहे हैं, भाषा को लेकर अलगाव है। केवल स्वतंत्रता मिलने से संगठन नहीं होता। संगठन करने से संगठन होता है। आज का जो हिंदू समाज है, जो भारत के प्राचीनतम काल से चलते आए राष्ट्रजीवन का अवशेष है, उसे अपने प्राचीन वैभव से भी अधिक उत्कृष्ट वैभव का अनुभव अपनी इस मातृभूमि में होना चाहिए। इसके लिए जो असंगठितता, राष्ट्रहीनता आई है, उसे दूर करना होगा। संगठन करने की आवश्यकता नहीं है– ऐसा कहनेवाले लोग पहले थे, अभी हैं और आगे भी रहेंगे। उन्हें जो कहना है, वह कहने दें। उनकी चिंता करने की आवश्यकता नहीं।

संगठन करने में लोगों को अधिक आपत्ति नहीं है, पर केवल हिंदुओं के संगठन के औचित्य का प्रश्न उठाया जाता है। लेकिन राष्ट्रीयत्व का जागरण करना है तो किसका जागरण करेंगे? अंग्रेजों से संघर्ष करते समय सद्यःकालीन परिस्थिति में अंग्रेज और नॉन-अंग्रेज का ही विचार रह गया था। इसलिए अंग्रेज को छोड़कर और बाकी सबको मिलाकर अपना राष्ट्र बनता है, ऐसी विचित्र बात तत्कालीन नेताओं ने बताई। राष्ट्र के संबंध में खिचड़ी कल्पना उनके मन में घर कर गई। राष्ट्र में परंपरायुक्त एक व्यवस्थित जीवन है, उसका समष्टि संस्कार है, ये सब बातें हृदय से निकल गईं।

इस खिचड़ी का प्रभाव हम पर इतना है कि उसके बिना कोई कल्पना ही नहीं कर सकते। मिलने पर लोग पहला प्रश्न यही करते हैं कि 'तुम्हारे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ में मुसलमान कितने हैं?' याने बिना मुसलमान के किसी काम या संस्था में राष्ट्रीयत्व होता ही नहीं। दिखावे के लिए Show Boy के रूप में क्यों न हो, पर मुसलमान होना ही चाहिए।

भारतीय जीवन : हिन्दू जीवन

यहाँ अति प्राचीन काल से राष्ट्रजीवन है। राष्ट्रजीवन के लिए जितने गुण चाहिए, वे सब इसमें विद्यमान है। परिपूर्णता से भरा हुआ यह समाज, जिसने अपने स्वयं के बल पर स्वतंत्र सार्वभौम राज्य और चक्रवर्ती निर्माण किए हैं। इस भूमि में इसके अतिरिक्त कोई राष्ट्रीय हो ही नहीं सकता। लेकिन लोग पूछते हैं कि 'बाकी लोगों का क्या होगा?' हमारा कहना है– 'पहले अपना देखो, बाकी का विचार बाद में कर लेंगे। पहले अपनी शक्ति बढ़ाएँ, अपनी भूमि पर अपना सार्वभौम स्वामित्व स्थापित करें, अपना राष्ट्र बनाएँ। बाकी लोगों की उस समय की प्रवृत्ति को देखकर निर्णय करेंगे। आज उसका विचार करने की आवश्यकता नहीं है।' यह कहनेवाले लोग भी मिल जाएँगे कि 'मुसलमान और ईसाई ये सभी पहले हिंदू ही थे। ये लोग फिलिस्तीन या अरबस्थान से तो आए नहीं हैं। उन्होंने अपनी पूजा पद्धति बदली है, इससे उनका राष्ट्र और राष्ट्रजीवन से संबंध टूट जाएगा क्या? कोई देवी का भक्त विष्णु की पूजा करने लगे वैष्णव हो जाए तब वह बदल जाता है क्या?' यह विचार सुनने में बहुत अच्छा व युक्तियुक्त लगता है। लेकिन जरा इतिहास देखें, क्योंकि इतिहास का योग्य रूप से आधार लेना चाहिए। उसमें से सही निष्कर्ष निकलते हैं।

धर्मांतरण नहीं, राष्ट्रांतरण

लेकिन जिन्होंने अपना धर्म बदला और ईसाई या मुसलमान हो गए, उन्होंने केवल पूजा-पद्धति नहीं बदली। उन्होंने अपने धर्म को छोड़ा, समाज को छोड़ा, राष्ट्रजीवन को छोड़ा। केवल इतना ही नहीं, वे शत्रु के साथ हो गए और उनके साथ मिलकर अपने समाज-बंधुओं पर सब प्रकार के अत्याचार किए। अर्थात् सब प्रकार से राष्ट्र भाव से दूर हो अराष्ट्रीय बन देश के शत्रु बने। जिनका ऐसा इतिहास रहा है, जो देश के शत्रुओं से प्रेम व संबंध रखते हों, उन्हें 'बंधु' कहकर आलिंगन कैसे दिया जा सकता है। मुसलमानों ने धर्म के आधार पर अपने लिए अलग देश माँग लिया और ईसाई अलग राज्य की माँग कर रहे हैं। इसे देशप्रेम तो नहीं कहा जा सकता? जो राष्ट्र के विरुद्ध काम करे, उसे तो राष्ट्र का शत्रु मानना चाहिए। एक बड़े नेता ने अपने भाषण में कहा कि They have proved traitors. इस भाषण के बाद की बात है। हम सब लोग डाक्टर जी के पास बैठे हुए थे। उन्होंने अपनी पद्धति के अनुसार चर्चा के दौरान पूछा कि 'अपने देश में Traitor (शत्रुसेवी) किसे कहेंगे?' चर्चा का समारोप करते हुए उन्होंने बताया– 'कोई हिंदू, हिंदू होते हुए अपने भारतीय राष्ट्रजीवन के विरुद्ध जाता हो उसे 'शत्रुसेवी' कहेंगे। अपने यहाँ जयचंद, मानसिंह जैसे हुए हैं, उन्हें शत्रुसेवी कह सकते हैं। परंतु जो जानबूझकर, खुद को परकीय समझकर इस देश पर आक्रमण करे, हमारे विरुद्ध जाए, उसे 'शत्रुसेवी' नहीं 'शत्रु' ही कहना चाहिए। मुसलमान और ईसाई अपने देश में इसी भूमिका में रहते हैं। स्वतंत्रता के बाद नया कुछ हुआ है क्या? अतः वे शत्रुसेवी या राष्ट्रद्रोही नहीं, शत्रु ही हैं। अतः उनका विचार करने की आवश्यकता नहीं। वे भी अंग्रेज जैसे ही हैं। वे अपने राष्ट्र के घटक कैसे हो सकते हैं? वे पहले अच्छे थे, इसलिए उनको राष्ट्रीय कहना योग्य नहीं।' अतः यह सोचने की आवश्यकता नहीं कि वे पहले तो हिंदू ही थे। मान लो, कोई व्यक्ति जन्म से लेकर बीस वर्ष की आयु का होने तक बहुत सज्जनता से रहे, बाद में डकैती करे तो उसे क्या कहेंगे? ऐसा कहना कि उसने बीस साल तक कुछ नहीं किया था, अब उस बेचारे को डाकू क्यों कहते हो, ठीक है क्या? पूर्वकाल में जिस समय वे हिंदू थे, उनको पूरी तरह से इस राष्ट्र का घटक माना जाता था। अब उन्होंने अपनी इच्छा या अनिच्छा से हमारा राष्ट्र छोड़ कर शत्रु के शिविर में अपने को दाखिल कर लिया है। इसलिए उनके साथ व्यवहार भी वही होना चाहिए जो शत्रु के साथ होता है।

राष्ट्र की सुप्त भावना

हम कहते हैं कि यह हमारा राष्ट्र है, यह हमारी मातृभूमि है, यहाँ हमारा प्रभुत्वसंपन्न जीवन होना चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं है कि हमारे पहले किसी के मन में यह विचार नहीं रहा। मुझे स्मरण है कि सन् १९४२ में 'भारत छोड़ो आंदोलन' चल रहा था। उसका उग्र स्वरूप पश्चिम उत्तरप्रदेश में था। उसी समय उधर के प्रवास पर मेरा जाना हुआ था। तब वहाँ 'भारत छोड़ो आंदोलन' चलानेवाले एक सज्जन मिले। मैंने उनसे पूछा, 'इस आंदोलन से क्या होगा?' वे बोले, 'हमें स्वतंत्रता मिलेगी।' मैंने पूछा, 'हम याने कौन?' उनके सामने प्रश्न खड़ा हो गया कि क्या जवाब दें। इस बारे में उन्होंने कभी सोचा ही नहीं था। फिर मैंने कहा, 'स्वतंत्र होने के बाद मुसलमान कहेंगे कि हम यहाँ के बादशाह थे, ईसाई कहेंगे कि हम यहाँ के शासक थे, हमें हमारा अधिकार चाहिए, यह तुम्हें मान्य है क्या?' वे एकदम से क्रोधित और उत्तेजित होकर बोले, 'उनका यहाँ क्या अधिकार, वे सब तो चोर हैं? यहाँ के असली मालिक तो हिंदू हैं।' अर्थात् यह भाव सुप्त रूप में क्यों न हो, परंतु प्रत्येक के मन में विद्यमान है। अपने को इसी सुप्त भाव को जागृत करना है।

आजकल लोग हर बात में 'इंडियन' शब्द का प्रयोग करते हैं। इंडियन नेशन, इंडियन फिलॉसफी, इंडियन कल्चर, इंडियन आर्ट आदि। अब इंडियन फिलॉसफी याने क्या? वेद और उपनिषद् ही तो इंडियन फिलॉसफी है। इंडियन आर्ट देखना हो तो कहाँ जाएँगे? अजंता या ऐलोरा ही तो जाएँगे। ऐसे ही इंडियन नेशन का मतलब क्या होगा? किंतु हिंदू-राष्ट्र कहने में जबान लड़खड़ाती है। दिमाग चक्कर खाने लगता है। हमें लोगों के मन की इसी लज्जा को दूर करना है।

संघ शिक्षा वर्ग, १९५४

(२)

संघ का क्रमिक विकास

संघ की स्थापना बड़े ही विचित्र तरीके से हुई है। बहुत वाद-विवाद, प्रचार-प्रसार, संविधान बनाकर व नामकरण कर शोर-शराबे के साथ नहीं हुई। केवल कुछ इने-गिने लोग एकत्र हुए थे। उनके साथ बैठकर बातचीत

की और सामान्यतः लोगों को अभ्यास है ऐसे 'स्टडी सर्कल', 'डिबेटिंग सोसायटी' के रूप में काम शुरू हुआ। काम चला परंतु जितने भी प्रयोग हो रहे थे, वे समाधानकारक नहीं थे। इस बात का संघ-निर्माता को पता था, परंतु उन्होंने ऐसा कुछ बताया नहीं कि अपने को किसी नए ढंग से काम करना है। फिर धीरे-धीरे साप्ताहिक एकत्रीकरण के स्थान पर दैनिक एकत्रीकरण और भिन्न-भिन्न प्रकार के शारीरिक कार्यक्रम में से शाखा का स्वरूप प्रकट हुआ। तब भी लोग ऐसा ही समझते रहे कि अखाड़े या व्यायामशाला जैसा ही इसका स्वरूप है। कुछ लोगों ने माना कि उपकारक कार्य करने हेतु कोई स्वयंसेवक दल तैयार हो रहा है। कुछ ने माना कि सर्वसामान्य मिलिटरी संगठन है। उनके इस सोच का निराकरण कभी किसी ने नहीं किया। संघ ने अपने बारे में निराकरण करने का बहुत कम प्रयास किया है। जो जिस भावना से संघ में आया, उसे आने दिया। अपने काम के बारे में ज्यादा वाद-विवाद करना भी नहीं चाहिए। कार्य की प्रगति से सारे विवाद अपने आप दूर हो जाते हैं। अब लोग इतना मानने लगे हैं कि संघ भारत में उत्पन्न हुई एक शक्ति है। अपने बड़े-बड़े नेता भी संघ को संदेह की दृष्टि से देखते हैं। उनको शक्ति दिखती है, उत्साह दिखता है, परंतु संघ वाले करते क्या हैं? क्या करेंगे? इसका कुछ पता नहीं चलता ऐसा वे कहते हैं। अपनी-अपनी दृष्टि से सब सोचते हैं। किंतु संघ वास्तव में क्या है? यह समझने या जानने का प्रयास कोई नहीं करता। अपना काम स्पष्ट नहीं है– ऐसी बात नहीं है, किंतु स्पष्ट बात भी समझनी तो चाहिए। मान लो, सामने पत्थर पड़ा है और आँखे बंद रखकर कहेंगे कि यह पत्थर कोई गुप्त काम कर रहा है। यह तो मूर्खता की बात है।

हम लोगों ने सोच रखा है कि अपना कार्य ही सारे प्रश्नों के उत्तर देगा। जैसे पहले लोगों ने सोचा कि संघ का काम नागपुर के लिए मर्यादित है। पर बाद में उन्हें पता चला कि नागपुर के चारों ओर शाखाएँ शुरू हो गई हैं। तब लोगों ने कयास लगाया कि महाराष्ट्र के लिए होगा। वाराणसी में एक प्राध्यापक मिले थे। उन्होंने कहा, 'तुम्हारे संघ का भगवा झंडा देखकर स्पष्ट हो जाता है कि छत्रपति शिवाजी को आदर्श मानते हो और फिर से मराठा साम्राज्य का निर्माण करने का प्रयत्न चल रहा है।' बाद में अपना काम अन्यान्य प्रांतों में भी प्रारंभ हुआ। तब लोगों ने कहा कि महाराष्ट्र तक तो ठीक था। इधर तुम्हारा काम चलेगा नहीं, तुम तो महाराष्ट्रीय हो। लेकिन सारे देश में अपना काम चल रहा है। अपना काम

इसलिए चला क्योंकि इसके अंदर से जो व्यक्त हो रहा था, वह हिंदू संगठन राष्ट्रीय संगठन इस नाते से था। कुछ वर्षों के बाद उन्हीं सज्जन ने मुझसे कहा, 'उस समय मैंने जो कहा था, वह मेरी गलती थी।' आज भी भिन्न-भिन्न प्रकार से लोगों के आक्षेप या संदेह अपने काम को लेकर रहते हैं। हम उनका उत्तर भी काम से ही देते हैं।

तर्क नहीं सामर्थ्य

लोग किसी बात को बुद्धि से ही मानते हैं, आजकल यह कहना गलत है। भले ही लोगों का ऐसा मानना हो कि हम लोग बहुत बुद्धिमान हो गए हैं। भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में शास्त्रीय संशोधनों में प्रगति हो गई है। बुद्धिमत्ता का युग आ गया है, परंतु यह सत्य नहीं है। केवल बुद्धि से मान रहे होते तो अभी तक सब बातें ठीक हो जातीं।

अपना यह राष्ट्र हिंदूराष्ट्र है– इस विषय में एक सज्जन की चर्चा वीर सावरकर जी से हुई। खिचड़ी संस्कृति के समर्थक वे सज्जन बड़े देशभक्त और बुद्धिमान हैं। हिंदूराष्ट्र के प्रबल समर्थक सावरकर जी तो अति बुद्धिमान हैं ही। शांत चित्त से एक-एक बिंदु पर चर्चा हुई। दोनों की चर्चा में कुछ बातों में सहमति होकर उस निर्णय को लिखित में प्रकट किया जाए– यह निश्चित हुआ। लिखित वक्तव्य पर दूसरे दिन हस्ताक्षर होने थे। इन सज्जन ने चर्चा के बारे में अपने सहयोगियों को बताया। उनके सहयोगियों ने कहा, 'हम लोग आपके कहने पर इतने दिन तक खिचड़ी का समर्थन करते रहे हैं। अब हिंदूराष्ट्र की बात करेंगे तो गड़बड़ हो जाएगी। आज तक किए हुए पर पानी फिर जाएगा। लोग हमको मूर्ख कहेंगे।' दूसरे दिन वे सज्जन बिना हस्ताक्षर किए ही प्रवास पर चले गए। जाते-जाते यह कहने की व्यवस्था भी कर गए कि सावरकर जी के सामने मैंने कुछ निश्चय किया ही नहीं। इसका अर्थ क्या हुआ? सौजन्य से वादविवाद किया, समझ लिया, किंतु सत्य को माना नहीं।

केवल अपने देश में ही नहीं संपूर्ण पृथ्वी पर भी यही दिखाई देगा कि किसी बात को तब तक नहीं माना जाता, जब तक कि माने बिना चलता नहीं। दूसरा कोई मार्ग बचता नहीं, तभी मानते हैं। इसका अर्थ यही है कि लोगों को अपना कहना मानना ही पड़ेगा ऐसी स्थिति निर्माण करनी पड़ेगी। ऐसी परिस्थिति तभी निर्माण होती है, जब अपनी बात के पीछे शक्ति दिखाई देती है। ऐसी शक्ति जिसे मानने से भला और न मानने से हानि होगी, ऐसा अनुभव हो। केवल यही एक पर्याय है। राष्ट्र खड़ा होता

है उसका आधार केवल तत्त्वज्ञान नहीं, ग्रंथ नहीं, अच्छी आर्थिक स्थिति नहीं, इसके पीछे खड़ी शक्ति होती है।

अपने सामने रूस एक ऐसा देश है, जिसमें बड़ी संपन्नता है, ऐसी बात नहीं। सर्वसामान्य आदमी बहुत विद्वान है, ऐसा भी नहीं है। उन्होंने बहुत बड़ा तत्त्वज्ञान प्रकट कर उसके आधार पर जीवन का अच्छा चित्र खड़ा किया है, ऐसा भी दिखता नहीं। भौतिकतावाद कोई दर्शन नहीं है। फिर भी जगत् में उसको मान्यता है। यह मान्यता इसलिए है, क्योंकि पिछले महायुद्ध में उसने जर्मनी को परास्त कर बड़ा सैनिक सामर्थ्य प्रकट किया था। हालाँकि यह धारणा भी गलत है। जैसी गलत धारणा हमारे यहाँ है कि हमने लड़कर स्वराज्य प्राप्त किया है। बहुत से कारणों के चलते जर्मनी हारा, पर मान लिया गया कि रूस ने उसका पराभव किया। इस प्रकार की धारणा, जो शक्ति के सामर्थ्य के चमत्कार में से प्रकट हुई है, अपने यहाँ यह माना जाने लगा कि उनकी विचार-प्रणाली आदरणीय है। उनके अनुसार हमारा जीवन बनाया जाना चाहिए, जैसी विचित्र बातें दिखाई देती हैं।

अपने संघ का ही उदाहरण है। दिल्ली की संघ शाखा का वार्षिक उत्सव था। कुछ सहस्र स्वयंसेवक गणवेश में उपस्थित थे। कार्यक्रम को देखने जनता भी बड़ी संख्या में उपस्थित थी। कार्यक्रम के अध्यक्ष के नाते भारत के गृहमंत्री श्री कैलाशनाथ काटजू को हम लोगों ने बुलाया था। बहुतों ने उनको कार्यक्रम में न आने की सलाह भी दी, फिर भी वे आए। ध्वजारोहण, शारीरिक का प्रात्यक्षिक, गीत आदि के पश्चात् मैंने प्रास्ताविक भाषण किया, जिसमें अध्यक्ष महोदय का परिचय और अपने कार्य के बारे में जानकारी दी। मैंने ऐसा भी कहा कि अध्यक्ष महोदय निःसंकोच भाव से स्वतंत्रतापूर्वक अपने विचार प्रस्तुत करें। उन्होंने जो भाषण दिया, उसमें कहा, 'हिंदुस्थान हिंदुओं का है, कहना अनुचित है– ऐसा कौन कहता है? वास्तव में तो ऐसा कहना ही उचित है। यह देश हिंदुओं के अलावा और किसका हो सकता है? इस देश में राष्ट्र कहने के बाद वह हिंदुओं का नहीं, तो दुनिया के अन्य लोगों का राष्ट्र है क्या? यह हिंदू राष्ट्र था और आज भी है। जो यह कहता है कि यह हिंदू राष्ट्र नहीं है, वह मुझसे मिले। मैं उसे समझा दूँगा।' उनका यह वक्तव्य दूसरे दिन वृत्तपत्र में छपा। खूब बावेला मचा। उनके कांग्रेसी कार्यकर्ताओं ने कहा, 'संघ के कार्यक्रम में आपने यह क्या कह दिया?' उसपर डा. काटजू का उत्तर था– 'यदि आप

मेरे स्थान पर होते तो आप भी यही कहते। वहाँ मैं इतना प्रभावित हुआ कि दूसरी बात मुँह से निकलना असंभव था।'

उन्होंने जो कहा था वही सत्य है। शक्ति के परिचायक इतने स्वयंसेवकों के दर्शन से उन्हें विश्वास हो गया कि समाज सामर्थ्यसंपन्न रह सकता है। ऐसा अनुभव होते ही मन के अंदर दबी सुप्त भावना कि 'यह मेरा राष्ट्र है'– झट से जग पड़ी।

अपने कार्यक्रमों में हम लोग विरोधी विचार के लोगों को भी बुलाते हैं। उनको अपनी बात कहने की पूरी छूट रहती है। क्योंकि हम सिक्के के दोनों पहलू देखना चाहते हैं। ऐसे ही एक बार विरोधी विचार के एक सज्जन अपने कार्यक्रम में अध्यक्ष के नाते आए थे। उन्होंने कहा भी कि मैं संघ के विरुद्ध बोलनेवाला हूँ। आपको शांतचित्त से सुनना पड़ेगा। उन्होंने यह कहा तो परंतु अपने भाषण में विषय सारा संघ का ही रखा। बाद में उनसे पूछा, 'आप तो संघ के विरुद्ध बोलनेवाले थे।' उन्होंने उत्तर दिया, 'पता नहीं, मुझे क्या हो गया था।' अन्य कुछ नहीं हुआ, हुआ यही कि उनके मन की जो सुप्त भावनाएँ थीं, जिन्हें प्रकट करने में लज्जा व संकोच का अनुभव होता था, सामने का ध्येयनिष्ठ, राष्ट्रभक्ति से परिपूर्ण, अनुशासनबद्ध दृश्य, जिसका उन्होंने कभी अनुमान भी नहीं किया था, स्वप्न में नहीं सोचा होगा, देखकर जाग पड़ी। ऐसा होता है शक्ति का परिणाम। वही शक्ति हमें प्राप्त करनी है।

जो निर्बल है, उसका सत्कार कौन करेगा? मुझे पता है, नागपुर के एक बड़े कट्टर मुस्लिम लीगी, जो दो-चार बार हुई मारपीट के सूत्रधार थे, एक बार रेल से कहीं जा रहे थे। उन्होंने अपने डाक्टर साहब को देखा। देखते ही अपने स्थान से उठकर बड़ी आत्मीयता से उनका स्वागत किया। रेल में बैठाने आए लोगों में से एक ने उनके कान में कहा, 'इनको आप पहचानते हैं? ये तो हम मुसलमानों के दुश्मन हैं?' उन्होंने कहा, 'हाँ। अच्छी तरह जानता हूँ। अपने नागपुर के हैं, पड़ोसी हैं। वे हमारे दुश्मन नहीं, उनकी वजह से ही हम यहाँ अच्छी तरह से रह सकेंगे।' उनको मालूम था कि डाक्टर साहब एक चैतन्य हैं, एक जागृत शक्ति का केंद्र हैं।

हमने प्रार्थना में 'देहीश शक्तिम्' कहा है। ईश्वर से हमने प्रार्थना की तो ईश्वर आकर हमको शक्ति देगा और हम घर में 'हरि-हरि गोविंद' करते बैठें, इससे बात नहीं बनेगी। समर्थ रामदास स्वामी ने कहा है 'यत्न तो देव जाणावा।' अपना ईश्वर याने यत्न, पुरुषार्थ है। अपने स्वतः पर पूर्ण

निर्भर रहते हुए प्रयत्न करना, क्योंकि ईश्वर कोई इधर-उधर बैठी हुई चीज नहीं है कि जो अपने को शक्ति देगा। अपने अंदर से ही शक्ति उत्पन्न होनी चाहिए। दूसरी दृष्टि से देखें तो यह जनता रूपी जनार्दन है। इसका आह्वान करने मात्र से शक्ति आएगी। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को बताया कि तुम्हारे सामने चतुर्वर्णात्मक समाज के रूप में प्रत्यक्ष परमात्मा खड़ा है। ऐसा ही वर्णन यजुर्वेद में भी है– 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यकृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽअजायत। पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँऽअकल्पयन्।' (यजुर्वेद ३१–११,१३) इसी व्यक्त परमात्मा से शक्ति मिलेगी। इसी का आह्वान करें। इसी शक्ति के आधार पर हमने भूतकाल में विश्वविजय की है। भविष्यकाल में विश्वविजय करने की पात्रता भी इसमें ही है। समाज महान सामार्थ्य से ओतप्रोत है।

आंतरिक समानता

संगठन केवल बातचीत से या किसी संस्था का सदस्य बन जाने से नहीं होता। गोली के भय से उत्पन्न एकता से भी काम नहीं होता। ऐसे समूहवादी देश भी हैं, जहाँ इस प्रकार का प्रयास हो रहा हैं। लेकिन इस प्रकार की जबरन उत्पन्न की गई एकता उपयोगी नहीं होती। जब तक हृदय से हृदय एकरूप होकर परस्पर एकात्मता का साक्षात्कार नहीं होता, दिन-प्रतिदिन परिश्रम कर अपनी बुद्धि और शरीर को अनुशासित जीवन का अभ्यास नहीं होता, समान भाव, समान विचार, समान उच्चार, समान आचरण और हृदय एकरूप हो जाने के कारण उत्पन्न होनेवाली समानता निर्माण नहीं होती, तब तक संगठित शक्ति का निर्माण नहीं होता।

मनुष्य में बुद्धि, मन और भावना होती है। उसका समाधान और शरीर को काम मिलना चाहिए। यह होने से वह व्यावहारिक जगत् में ठीक से रहता है। शरीर को समान काम मिलने से, एक साथ बैठने से, एक साथ चलने से मन पर अनुशासित जीवन के संस्कार होते हैं। मन पर संस्कार और परस्पर प्रेम के कारण तादात्म्य बनता है। मनुष्य का मन, प्रेम का भूखा होता है। उसे सदैव प्रेम चाहिए। उसे जहाँ प्रेम मिलेगा, वह उधर जाता है। प्रेम के अतिरिक्त उसे किसी चीज की अपेक्षा नहीं रहती। लेकिन प्रेम निःस्वार्थ होना चाहिए। आजकल के नाटक-सिनेमा में दिखाया जाता है, वैसा प्रेम नहीं। ऐसा प्रेम, जिसमें किसी प्रकार का स्वार्थ, वैषयिकता अथवा पशुभाव का स्पर्श न होता हो, श्रेष्ठ है। एक दूसरे के गुणावगुणों

को समझते हुए सबका उत्कर्ष सुव्यवस्थित रूप से हो, इसकी व्यवस्था करनी चाहिए। जहाँ विचारों का समाधान होकर शरीर, मन व बुद्धि साथ-साथ चलती है, वहीं पर संगठन होता है।

संघ शिक्षा वर्ग, १९५४

(४)

तत्त्वानुसार आचरण

तत्त्व को तो कई लोग समझ लेते हैं, परंतु कठिनाई तब खड़ी होती है, जब उस तत्त्व के अनुसार आचरण करने का मौका आता है। राजनैतिक क्षेत्र में काम करनेवाले नेता कहते हैं कि जगत् में हम बंधुभाव देखें। यह बड़े आनंद की बात है। मगर अपने घर के पास कोई बंगाली, पंजाबी, सिंधी या दूसरे प्रांत का रहता हो तो कहते हैं कि हमें ऐसा पड़ोस नहीं चाहिए। ऐसे बड़े-बड़े नेता अपने देश में विद्यमान हैं जो दुनिया के बंधुत्व की चिंता करते हैं, परंतु अपने ही रक्त-मांस के बंधुओं से घृणा करते हैं। ऐसा इसलिए होता है, क्योंकि तत्त्व बोलना बड़ा सुलभ है। बड़े-बड़े शब्द बोलने में पैसा थोड़े ही लगता है। लेकिन हम लोग केवल 'गपोड़बाजी' करनेवाले लोग नहीं हैं। हमारा व्यवहार अपने वचन, अपने ध्येय, अपने कार्यक्रम के अनुकूल होना चाहिए। जो विपरीत है, उसका त्याग और जो अनुकूल है, उसको ग्रहण करना, इसका दृढ़ निश्चय मन में लेकर चलने से कार्यसिद्धि होती है। दूसरे शब्दों में कहना हो तो जिससे अपने देश की भलाई हो, उसे करना और जिससे नुकसान होने की संभावना हो उसका त्याग करना। इस आचरण का एक भाग स्वदेशी का आग्रह भी है। इसलिए हमें कठोरता से स्वदेशी वस्तुओं को ग्रहण करना चाहिए। बाजार में जाने के बाद मोहक वस्तुओं को देखकर जब मन लालायित हो, तब अपना विवेक नहीं खोना चाहिए। इस दृष्टि से सदैव जागृत रहें। अंततः वह अपना स्वभाव ही बनना चाहिए। अपने व्यवहार के प्रति सावधान रहें, उसमें कोई त्रुटि उत्पन्न न हो।

अपवादात्मक आपद्धर्म

आपद्धर्म के रूप में कुछ स्वीकार करना पड़े तो अलग बात है। लेकिन अपनी इच्छापूर्ति के लिए आपद्धर्म का उपयोग उसकी आड़ लेने

के लिए न हो। उसकी मर्यादा ध्यान में रखें। एक कथा है कि एक बार चारों ओर भीषण अकाल पड़ा हुआ था। कहीं खाने को कुछ मिलता नहीं था। एक अच्छा तपस्वी और उसकी पत्नी अन्न की खोज में भटक रहे थे। भूख के मारे उसका दम निकला जा रहा था। एक-एक कदम बढ़ाना कठिन हो रहा था। मार्ग में उन्होंने देखा कि एक महावत अपने हाथी को चने खिला रहा था। लाड़ में आकर हाथी अपने मुँह का चना सूंड से महावत को दे रहा था। महावत उस चने को अलग रखता जा रहा था। तपस्वी की पत्नी महावत के पास गई और उससे कहा कि मेरे पति बहुत भूखे हैं, उनको खाने के लिए कुछ मिलेगा क्या? महावत ने कहा, 'मेरे पास हाथी द्वारा छोड़े हुए चने बचे हैं। चाहो तो वह दे सकता हूँ।' उसने वह ले लिया और अपने पति को लाकर दिया। यह ज्ञान रहते हुए भी कि वह चना हाथी का झूठा है और सब प्रकार से त्याज्य है, अत्यधिक बुभुक्षित होने के कारण उसने वह खा लिया। चना खाने के बाद तपस्वी जाने लगा तब महावत ने कहा, 'भाई, थोड़ा पानी पीते जाओ।' तपस्वी ने कहा कि पानी नहीं पिऊँगा। वह तुम्हारा झूठा है। उसने कहा कि चने खाते समय कुछ नहीं हुआ, अब पानी झूठा कैसे हो गया? तपस्वी ने कहा, 'आपद्धर्म की भी मर्यादा होती है। धर्म का आधार प्राण होने के कारण प्राणरक्षा के लिए धर्म के नियम शिथिल कर सकते हैं। अब मेरे शरीर में कुछ दम आ गया है। मैं पानी की खोज में जा सकता हूँ। इसलिए झूठा पानी नहीं पिऊँगा।' अर्थात् केवल अपने जीवन के अंतिम क्षणों में प्राण रक्षार्थ ही छूट है, यह ध्यान में रखें।

मिथ्याचार से बचें

सर्वसामान्य जनता में किसी तत्त्व के प्रति घृणा केवल इसी कारण होती है कि लोग जो बोलते हैं, उसके अनुसार व्यवहार नहीं करते। ऐसे तत्त्व की कीमत फूटी कौड़ी के बराबर भी नहीं रहती। भारत के सर्वश्रेष्ठ तत्त्वज्ञान के प्रति अपनी ही उपेक्षा है। फिर, संसार के लोग उस तत्त्वज्ञान का आदर क्योंकर करने लगे। ऊपर से एक और अंदर से एक– ऐसा मिथ्याचार अपने देश में चलता हुआ दिखाई देता है। एक बार एक सज्जन के यहाँ जाने का अवसर आया। किसी देशभक्त ने जिस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए, ऐसा ही उनका व्यवहार था। वे सदैव हाथ से कते-बुने सूत के कपड़े पहनते थे। उनके घर जाने पर देखा कि फ्रांस व इटली की बनी वस्तुएँ ही सब ओर थीं। जिस तख्त पर मैं बैठा था, उसपर खादी की

चादर बिछाई गई थी। लेकिन एक बार मेरे पैर से जरा चादर ऊपर उठी तो देखा कि उसके नीचे आयातित कपड़े की चादर थी। कोने में एक चरखा रखा हुआ था। उसको देखकर लगता था कि बाजार से लाने के बाद से उसे छुआ भी नहीं गया था। केवल दिखाने के लिए रखा गया था। इस प्रकार का ढोंग बहुत जगह दिखाई देता है। ऐसे ढोंग के लिए अपने संघ में कोई स्थान नहीं है। स्वयंसेवक का आचरण एकदम शुद्ध होना चाहिए। उसके शब्द और कृति में सामंजस्य होना चाहिए। तभी वह प्रभावकारी होगा।

समाज से संबंध

संगठन करते समय यह ध्यान में रखने की आवश्यकता है कि समाज के साथ अपना संबंध रहे। बिना संबंध रहे संगठन नहीं हो सकता। इसलिए हम लोगों को अपने समाज के साथ घुल-मिलकर रहते हुए ही संगठन करना है। समाज में अपना सर्वप्रथम संबंध आता है अपने परिवार से। दूसरा संबंध आता है अपने अड़ोस-पड़ोस से। फिर शिक्षा पाने जिस विद्यालय या महाविद्यालय में जाते हैं, उसके अध्यापकों व सहपाठियों से। जरा बड़ा होने पर समाज के भिन्न-भिन्न लोगों के साथ संबंध आता है। सब जगह हमारा व्यवहार प्रेमपूर्ण, आदरयुक्त, निरपेक्ष और निःस्वार्थ होना चाहिए। अपने उत्कृष्ट व्यवहार तथा चारित्र्य द्वारा उत्तम रीति से जीवन निर्वाह कर सबका आशीर्वाद प्राप्त करना चाहिए।

कोई कहेगा कि संघ का कार्य करते समय कभी-कभी घर के लोगों के साथ संघर्ष आता है। बिल्कुल ठीक है कि आता है, परंतु उसकी भी कुछ मर्यादा होती है। जीवन की उत्कटता से जब सब बातें रसहीन हो जाती हैं, खान-पीना, कपड़े-लत्ते, सुख-दुख, शरीर की किसी वेदना या कष्ट की कोई परवाह न रहे, अपने को सर्वस्वार्पण कर कार्य करने की एकमात्र अभिलाषा शेष रह जाती है, तब यह बात ठीक है। अन्यथा किसी की परवाह न करने की बात कहना ठीक नहीं। पहले उस स्थिति को प्राप्त करें। मीराबाई ने तुलसीदासजी को पत्र लिखा– 'मेरे घर के लोग भक्ति नहीं करने देते।' उन्होंने उत्तर दिया– 'जाको न प्रिय राम वैदेही तजिये ताहि, कोटि बैरी सम यद्यपि परम सनेही।'

कभी-कभी लोग कहते हैं कि ये संघवाले लड़के को बिगाड़ते हैं। आजकल लोगों को अपने बच्चे अच्छे तब लगते हैं, जब वे अभारतीय हो

जाते हैं। फिर वे बड़े गर्व के साथ कहते हैं– 'देखो, अपना छोकरा कैसा अच्छा है। बिल्कुल साहब जैसा लगता है।' यह उनकी अच्छा होने की कसौटी है। भारतीय जीवन, याने पिछड़े हुओं का जीवन है। ऐसा उनके अविचार और संस्कार सुप्त हो जाने के कारण होता है। उनकी दृष्टि से जो प्रगति है, उसके विपरीत भारतीय बनाकर हम उसको बिगाड़ रहे हैं।

सादापन, याने अव्यवस्था नहीं

सादा रहने का अर्थ यह नहीं है कि अव्यवस्थित रहें। स्कूल से आए कि किताब कहीं, जूते कहीं और कपड़े कहीं फेंकें। कोई पूछे तो कहना कि मैं इनकी सबकी फिकर नहीं करता। सादा रहने का अर्थ इस प्रकार से अनुशासनहीन या अव्यवस्था से रहना नहीं है। तड़क-भड़क नहीं चाहिए। उसके प्रति कोई आसक्ति न हो। पर जैसे भी रहें, व्यवस्थित रहें। स्वामी विवेकानंदजी के जीवन का प्रसंग है। अमरीका में उनके भाषण प्रतिदिन हो रहे थे। एक भाषण के पूर्व एक सज्जन उनसे मिलने आए। स्वामीजी उनसे बात करते हुए कफनी पहने हुए बड़े आराम व निश्चिंतता से बैठे थे। उनके भाषण का समय हुआ। पहली घंटी होते ही उन्होंने उस सज्जन से कहा, 'भाषण का समय हो गया है, आप अपने स्थान पर जाकर बैठिए।' वे सज्जन उठकर हाल में चले गए। केवल डेढ़ या दो मिनिट ही बीते होंगे कि स्वामी जी कपड़े बदल, बाल व्यवस्थित कर साफा बाँध मंच पर पहुँच गए। उस सज्जन ने आश्चर्यचकित हो कहा, 'आप तो अपने कपड़ों की बहुत चिंता करते हैं।' उन्होंने लापरवाही से कहा, 'इसकी कोई आसक्ति या मोह नहीं है।' किंतु आसक्ति या मोह नहीं, इसलिए हम अयोग्य रीति से बर्ताव करें, यह उसका अर्थ नहीं है।

आकर्षण का केंद्र बनें

विद्यालय में, अड़ोस-पड़ोस में अपना व्यवहार स्नेह व आदर्श का रहना चाहिए। उत्तम रीति से मित्रता निभाने के लिए जितने गुण चाहिए, उनके अनुसार चलने का उत्साह, दूसरों को सब प्रकार से सहायता देने की तैयारी, दूसरों से अच्छे गुण सीखने की तत्परता और अपने अंतःकरण में जो ध्येयनिष्ठा है, उसके कारण उत्पन्न होनेवाला धैर्य चाहिए। यह ध्यान रहे कि विद्यालय में छात्र के रूप में अध्ययन करने जाते हैं, दिल बहलाने या मौज करने नहीं। अध्ययन पूरी लगन के साथ करें। यह कहने से काम नहीं चलेगा कि संघकार्य में लगे रहने के कारण पढ़ने के लिए समय ही

नहीं मिलता। यह बिल्कुल झूठ बात है। इसमें मेरा कतई विश्वास नहीं। मेरा अनुभव इसके बिल्कुल विपरीत है। हमारे कार्यकर्ता तो परीक्षा को अपने हाथ का मैल समझकर हँसते-खेलते हुए पास होते हैं। अपने भाऊराव जी देवरस हैं। नागपुर से स्नातक होकर आगे की पढ़ाई के लिए लखनऊ गए। वहाँ उन्होंने एक ही समय में बी.कॉम. तथा लॉ किया। लखनऊ जैसा नया स्थान। परिचय किसी से नहीं। अत्यंत विपरीत परिस्थिति में भी लॉ की परीक्षा प्रथम श्रेणी तथा बी.कॉम. की स्वर्ण पदक प्राप्त कर उत्तीर्ण की। अब भगवान ने सारी बुद्धि उन्हीं को दी और हम लोगों को खाली रखा है, ऐसी बात तो नहीं है। जो व्यक्ति इस विश्वास के साथ आगे बढ़ता है कि जीवन के किसी भी क्षेत्र में असफल नहीं रहूँगा, निकम्मा सिद्ध नहीं हूँगा, वही सफल होता है।

सर्वसामान्य तरुण के जीवन में मोह का, उच्छृंखलता का, असंयम का आकर्षण रहता है। इन सबसे अपने को निवृत्त कर कर्तव्यनिष्ठ बनना पड़ेगा, अन्यथा आजकल का विद्यार्थी जीवन तो सबको मालूम ही है। ३५ करोड़ की आबादी का इतना बड़ा विशाल देश है। हजारों कालेज चलते हैं, परंतु मौलिक विचार करने वाले कितने हैं? इसका कारण यही है कि पात्रता कम हो गई है। जीवन एक प्रश्न है, उसपर हँसते-हँसते सफलता प्राप्त करूँगा, इस प्रकार की वीरश्री से युक्त भावना होनी चाहिए, वह आजकल नहीं है। जीवन ऐसे चल रहा है, जैसे नदी के प्रवाह में शुष्क पत्र की तरह बहते चले जा रहे हों।

विकास मनुष्य का स्वाभाविक लक्षण है। एकत्व के बाद विस्तार की इच्छा से वह अपना परिवार बनाता है। उसी विस्तार की इच्छा से अपने समान वातावरण उत्पन्न करने के लिए समाज बनाने का प्रयत्न करता है। इसी प्रकार अपने जीवन का विस्तार करने में उसे सुख प्राप्त होता है।

स्वार्थ व अभिमान अपने शत्रु

इस प्रकार समाज के संपर्क में रहते हुए लोगों को आत्मसात करेंगे, तब दिखाई देगा कि हम अपने कार्य में सफल हो रहे हैं। कार्य करते-करते सफलता तो प्राप्त होती ही है, लेकिन काम करते समय व्यक्तिगत विचार को न जीता तो अनेक प्रकार के स्वार्थ उत्पन्न होते हैं। केवल द्रव्य प्राप्त करना ही स्वार्थ नहीं होता। सम्मान, पद प्राप्त करने की इच्छा होना भी स्वार्थ ही है। स्वार्थ काम का व्यावर्तक है। एक आया तो दूसरा निकल गया। राष्ट्र की अवनति के लिए जो दुर्गुण कारणीभूत हुए हैं, उनमें मनुष्य

का स्वार्थ एक बड़ा कारण है। स्वार्थ के कारण मनुष्य के अधःपतन की परिसीमा हो जाती है।

शत्रु ऐसे स्वार्थियों की खोज में रहता है। उनके स्वार्थ की पूर्ति कर वह अपना मतलब सिद्ध करता है। इसलिए ध्येयपूर्ति ही अपना स्वार्थ होना चाहिए। फिर अपना नाम नष्ट हो जाए, तब भी चलेगा। समर्थ रामदास ने कहा है– 'मरावे परी कीर्तीरूपे उरावे।' मैं कहूँगा कि राष्ट्र की कीर्ति रहे, अपना नाम गया, तब भी चिंता की कोई बात नहीं। अस्तित्व कार्य रूप में रहना चाहिए। जैसे नमक का टुकड़ा पानी में गिरने के बाद अपना अस्तित्व खो देता है, केवल उसका स्वाद शेष रह जाता है। ऐसे ही, राष्ट्र जीवन में व्यक्ति ने घुल जाना चाहिए।

ध्यान में रखने की दूसरी बात यह है कि कार्य में सफलता के साथ अभिमान आता है। उसको भी जीतना पड़ेगा। सब प्रकार के काम करते हुए किसी प्रकार के अभिमान को पास नहीं फटकने देना चाहिए। प्रभु रामचंद्र ने त्रैलोक्य को कष्ट देनेवाले रावण को मारा, धर्म की प्रतिष्ठा बढ़ाई और संसार को सुख दिया। लेकिन जब स्तुति करने के लिए देवता आए तब कहा, 'आप मेरी स्तुति क्यों कर रहे हैं? मैं तो 'आत्मानं मानुषं मन्ये रामं दशरथात्मजम्' हूँ।' उन्होंने स्वयं ही सब देवताओं को प्रणाम किया। इसी प्रकार भगवान श्रीकृष्ण ने सब कुछ किया। शिशु अवस्था से दैत्यों को विनष्ट करते रहे। कंस को मारकर भी मथुरा का राज्य स्वयं नहीं लिया। महाराज उग्रसेन ने कहा भी कि मैं बूढ़ा हो गया हूँ, राज्य नहीं चला सकता। श्रीकृष्ण ने आश्वासन देते हुए कहा, 'सिंहासन पर आप बैठिए। मैं अपने बाहुबल से आपका राज चला चलाऊँगा। आपकी सेवा करूँगा।' महाभारत युद्ध में अपनी बुद्धि से विजय दिलवाई, किंतु सिंहासन पर युधिष्ठिर को बैठाया। उन्हें राजा मानकर सदैव प्रणाम ही करते रहे। मन में किसी प्रकार का अहंकार नहीं था।

किसी को कोई सामान्य-सा अधिकार मिल जाता है तो वह अपने को सहकारियों से श्रेष्ठ समझने लगता है। उनसे बात करने में उसे छोटेपन का अनुभव होने लगता है। श्रीकृष्ण ने सब कुछ करने के बाद भी अर्जुन से मित्रता नहीं छोड़ी। अपने बाल्यकाल के सहपाठी निर्धन ब्राह्मण सुदामा को नहीं भूले, क्योंकि वे निरहंकारी थे। हमने राष्ट्रसेवा का यह प्रखर श्रेष्ठ व्रत ग्रहण किया है, उसे निभाएँगे, फिर भी जीवन भर स्वयंसेवक बने रहेंगे। मुख्य शिक्षक बनें, सरसंघचालक बनें, पर स्वयंसेवक बने रहें। ❦ ❦ ❦

संघ शिक्षा वर्ग, १९५५

(१)

यह समाज तथा राष्ट्र अपना होने के कारण संगठन कार्य अतीव आवश्यक है। सब प्रकार से श्रेष्ठ ऐसे काम को सुचारु रूप से करने के लिए सूत्रबद्ध कार्यक्रम की रचना की गई है। देश के भिन्न-भिन्न स्थानों में शाखाओं पर अपने स्वयंसेवक लगभग एक ही समय समान कार्यक्रम, एक ही स्वर से एक ही प्रार्थना कर रहे हैं। यह विचार ही अपने अंतःकरण में बड़ी एकात्मता की भावना जागृत करनेवाला है। अपने से कुछ भिन्न जीवन, रहन-सहन, भाषा-भिन्नता के कारण भेद भले ही दिखाई देते हों, परंतु ऐसे स्थानों पर भी राष्ट्र के प्रति वही श्रद्धा, वही एकसूत्र सामने रहता है। इस प्रकार की एकात्मता उत्पन्न होना एक संगठित राष्ट्र के निर्माण की सर्वप्रथम आवश्यकता है।

प्रत्येक पुर्जा ठीक हो

इसके पूर्व अपने को स्वयं के बारे में विचार करने की आवश्यकता है। क्योंकि जब संगठन-यंत्र का प्रत्येक पुर्जा ठीक होगा तभी इस विशाल संगठन में कोई दोष नहीं रहेगा। राष्ट्र पुनरुत्थान में चरित्रहीनता के बावजूद सामाजिक कार्य किया जा सकता है, ऐसा विचार आज अपने देश में चलता है। कुछ लोगों का मानना है कि सार्वजनिक जीवन ठीक होना चाहिए, व्यक्तिगत जीवन में हम क्या करते हैं, इसकी ओर ध्यान देने की जरूरत नहीं। एक दृष्टि से यह विचार ठीक है, क्योंकि जो वैयक्तिक चरित्र की ओर ध्यान नहीं देता तथा राष्ट्र की सेवा भी नहीं करता उससे, कम से कम वैयक्तिक चरित्र का दोषी, पर राष्ट्रसेवा करनेवाला व्यक्ति अच्छा है। परंतु यह आदर्श नहीं माना जा सकता। अपने राष्ट्र में इसे मान्यता नहीं है। राष्ट्र को सारी आपत्तियों से मुक्त कर, उत्कृष्ट राज्य करनेवाले प्रभु रामचंद्र इतने चारित्र्यसंपन्न थे कि उन्हें 'मर्यादा पुरुषोत्तम' कहा जाता है। उनकी पूजा की जाती है। वे ही अपने आदर्श हैं।

व्यक्तिगत चारित्र्य ठीक रखने के लिए पौरुष व धैर्य चाहिए। इनके अभाव में व्यक्ति भीरु होता है, दुर्बल बनता है। यदि ऐसा व्यक्ति समाजसेवा के क्षेत्र में उतरता है, तो उसका दुष्परिणाम अधिक घातक होता है। सद्गुणों के प्रति घृणा व तिरस्कार निर्माण होता है, जो सामान्य जन को सद्कार्यों से निवृत्त करता है। इसलिए सामाजिक कार्यकर्ता के जीवन में

किसी प्रकार की विकृति नहीं होनी चाहिए। ऐसे सामाजिक कार्यकर्ता के शत्रु की कुटिल चालों का भक्ष्य बनने की संभावना अधिक रहती है। इसके उदाहरण हमारे इतिहास में भरपूर हैं। इस कारण अपने यहाँ व्यक्ति के शुद्ध जीवन का ही विचार हुआ है। सब प्रकार के काम करते हुए भी अपने में दुर्बलता प्रवेश न करे, इसकी सावधानता रखनी चाहिए।

एक ही धुन

कार्य का चिंतन कितनी मात्रा में अपने अंतःकरण में जागृत है, यह बात महत्त्व की है। हमें अपने संगठन के निर्माता का उदाहरण ज्ञात है। वे खाने-पीने के कार्यक्रम में जाते थे, तो उसमें भी संघ का विषय निकालते थे। किसी के साथ घूम रहे हों, उस समय भी संघ का विषय निकालने की चेष्टा करते थे। वे सदैव अपने कार्य के प्रति जागृत रहते थे। वे एक बार कराची हिंदू महासभा की युवा शाखा के अखिल भारतीय अधिवेशन के लिए गए थे। वहाँ जाकर हिंदू महासभा के बड़े नेता के रूप में लंबे-चौड़े भाषण देकर वापस नहीं लौटे। वहाँ कई लोगों से मिलकर संघ के काम की संभावना खोजी और अत्यंत अपरिचित स्थान पर भी शाखा की स्थापना करने में सफल हुए। उस अधिवेशन में पंजाब के कई स्थानों के लोग आए थे। उनसे दृढ़ परिचय कर शाखा-स्थापना हो सके– ऐसी पूर्व सिद्धता कर शाखा शुरू होने की परिस्थिति निर्माण की। कार्यकर्ता की दृष्टि ऐसी होनी चाहिए।

स्वतंत्रता के लिए आंदोलन चल रहा था, उस समय की बात है। नागपुर के कुछ जवान वकील जोश में आ गए। वे एक प्रतिनिधि-मंडल बनाकर डाक्टरजी के पास आए। उन्होंने कहा कि इस समय ऐसा लग रहा है कि आंदोलन तीव्र किया तो स्वतंत्रता मिल सकती है। हमें स्वतंत्रता-आंदोलन में भाग लेना चाहिए। डाक्टरजी ने कहा, 'इस प्रकार की बात करना अच्छा है, परंतु तुमने पूरा विचार किया है क्या? कितने समय की सजा मिलेगी? कुछ अर्थदंड भी हो सकता है। जेल में बैठकर परिवार का विचार आएगा। घर की परेशानी देखकर माफी माँगने की इच्छा उत्पन्न हो सकती है। इतना विचार करके तैयारी की है क्या?' एक ने कहा, 'पूरा विचार किया है। दो वर्ष तक घर आसानी से चल सके, इतनी व्यवस्था की है।' इस पर डाक्टरजी ने कहा, 'इसका मतलब है कि तुम दो वर्ष तक घर के बाहर रह सकते हो। तब ऐसा करो कि सत्याग्रह की बात छोड़ो और संघकार्य के विस्तार के लिए चलो।'

स्वतंत्रता-आंदोलन में उन्होंने स्वयं भाग लिया था। आंदोलन के दौरान जब जेल जाने का प्रसंग आया, तब नागपुर के स्थान पर बैरार जाकर सत्याग्रह किया और जेल गए। लोगों को आश्चर्य हुआ। दूसरों को संघ के कार्य का आग्रह करनेवाले स्वयं कारागार में गए। लोगों को लगा कि अपने ही वचन के विरुद्ध उन्होंने बर्ताव किया है। लेकिन अपने वचन को छोड़कर चलनेवालों में वे नहीं थे। इस बारे में पूछने पर उन्होंने बताया कि बैरार अपने निकट है, वहाँ संघ का काम होना चाहिए। बैरार क्षेत्र के देशभक्त वहाँ आएँगे, साथ रहकर उनके हृदय में संघ भरने का उससे अच्छा स्थान तथा समय और कहाँ मिलेगा? जेल में अन्य कोई काम तो रहता नहीं। कुछ अच्छे संस्कार करने के लिए अनुकूल स्थान मानकर संघ का आधार निर्माण करने के विचार से ही जेल गए थे। जेल से बाहर आते ही उधर का प्रवास किया और जेल में हुए घनिष्ठ परिचय के आधार पर बैरार भर में शाखा का काम प्रारंभ किया। प्रत्येक बात में ऐसी दृष्टि थी उनकी। अर्थात् किसी भी स्थिति में राष्ट्रकार्य होना चाहिए।

उनका कहना था कि स्वयंसेवक के मन की अवस्था ऐसी बनानी चाहिए कि अपना घर-बार, परिवार, खाना-पीना, नौकरी-चाकरी, उद्योग-धंधा- जो कुछ करना हो, वह अपने कार्य के अनुकूल होगा, तो ही करूँगा। कम से कम प्रतिकूल नहीं हो- इसका ध्यान रखूँगा। बाधाओं के रूप में हो तब वह सर्वथा त्याज्य है, ऐसी दृढ़ धारणा लेकर उसकी ओर देखूँगा तक नहीं। कार्य के प्रति दृढ़ धारणा तथा विशुद्ध चारित्र्य होने पर ऐसी अवस्था बनेगी। ऐसा स्वयंसेवक ही इस राष्ट्र के उत्थान का कार्य कर सकेगा।

सैद्धांतिक विकृति

चारों ओर का वायुमंडल प्रचंड मोह उत्पन्न करने वाला है। अनेक प्रकार के सिद्धांत भी मोह के रूप में मार्ग में खड़े हैं। एक सज्जन ने कहा कि 'अपनी इस भारतभूमि के राष्ट्रजीवन में बड़े-बड़े त्यागी, तपस्वी, ज्ञानी पुरुष हो गए हैं, जिन्होंने संन्यास स्वीकार कर संपूर्ण देश का नाश कर डाला। उनका कहना था कि शंकराचार्य, विवेकानंद जैसे प्रचंड बुद्धिमान व कर्तृत्वशील लोगों ने विवाह न कर प्रजनन शास्त्र के अनुसार अच्छी संतति निर्माण की संभावना को समाप्त कर दिया।' सामान्य रूप से उनकी बात ठीक लगती है। लेकिन संभव है कि विवेकानंद ने यदि विवाह किया होता उस स्थिति में उनका पुत्र उनसे अच्छा होता, किंतु तब विवेकानंद कहाँ होते? उनसे अच्छा क्या होता? उसके अच्छे होने के लिए कोई न कोई पूर्ण

श्रेष्ठत्व के आदर्श के रूप में होना चाहिए। अपने देश की परंपरा में पिछले पचास-साठ वर्षों में अनेक देशभक्त तथा असामान्य ऐसे अनेक बड़े-बड़े लोग उत्पन्न हुए हैं। उनके बाल-बच्चों के बारे में मुझे कहने की आवश्यकता नहीं, सबको सब मालूम है। इस प्रकार की सैद्धांतिक विकृति मन में आ सकती है।

इसी तरह कोई कहते हैं कि 'घर बसाना, परिवार चलाना यह तो नैसर्गिक व स्वाभाविक है।' यह कहना ठीक है कि नैसर्गिक है, किंतु नैसर्गिक रहने में किसी प्रकार की कोई श्रेष्ठता या शक्ति उत्पन्न होती है– यह सिद्ध होना चाहिए। केवल नैसर्गिक प्रवृत्तियों के अनुसार चलने में श्रेष्ठता है– ऐसा अनुभव नहीं है। निसर्ग पर संयम रखने में ही श्रेष्ठता दिखाई देती है। ऊँचा उठने वाले को निसर्ग के विरुद्ध ही जाना पड़ता है। मरण नैसर्गिक है। फिर भी हम डाक्टर बुलाकर निसर्ग को मात देने का प्रयत्न करते हैं कि नहीं? निसर्ग के विरुद्ध जाने पर हर बार विजय मिलती ही है– यह आवश्यक नहीं। फिर भी उसे काबू में करने के प्रयत्न होते हैं। यही पुरुषत्व तथा मनुष्यत्व है। उसी में मानव की प्रगति है। अपनी कमजोरी को छिपाने के लिए निसर्ग का बहाना लेना उचित नहीं।

दर्पहीन दृष्टिकोण

कार्य करने से कर्तृत्व उत्पन्न होता है। लोग अपनी बात को मानने लगते हैं। तब अपने मन में यह भाव आता है कि राष्ट्र-निर्माण का महान कार्य मैंने अपने कंधे पर लिया है। अपने व्यक्तिगत दोषों को काबू में रखकर सद्गुणों का प्रकर्ष करने के लिए कटिबद्ध हूँ। मैं श्रेष्ठ व सद्गुणी, दुर्गुणों पर विजय प्राप्त करने की शक्ति रखनेवाला कार्यकर्ता हूँ– इस प्रकार की अनुभूति होने लगती है। तब इस अनुभूति में से दर्प उत्पन्न होता है। इस दर्प में से व्यवहार में त्रुटि उत्पन्न होती है। ऐसा कार्यकर्ता अत्यंत कर्तव्यकठोर, अर्थात् अति शुद्धतावादी हो जाता है। किसी के पान खाकर अपने होंठ रंगाकर आनेपर ऐसा तपस्वी उसका तिरस्कार करने लगता है। उसे निकम्मा मान लेता है। किसी ने बड़ा अपराध किया तो वह क्या करेगा, कहा नहीं जा सकता।

दूसरे को निकृष्ट समझकर घृणा और स्वयं को श्रेष्ठ समझकर दर्प करना उसके अधःपतन का कारण बनता है। अपने यहाँ तो कहा गया है कि दूसरे की बुराई मत देखो। देखना है तो दूसरे के गुण देखो। दूसरे में

थोड़ा भी गुण दिखाई दे तो उसका संवर्धन हो– ऐसा प्रोत्साहनवर्द्धक व्यवहार करना चाहिए। वास्तव में यह संगठन का नियम ही है। अतः दर्प से अपने को सुरक्षित रखने की नितांत आवश्यकता है। इसी प्रकार दूसरों की श्रेष्ठता देखकर अपने में कुछ गुण कम हैं, ऐसा हीनता या ईर्ष्या का भाव आने का भी कोई कारण नहीं है। किसी भी स्थिति में सबके साथ अत्यंत स्नेहपूर्ण व्यवहार और बराबरी का आदर-भाव अपने हृदय में रखना चाहिए।

अब प्रश्न यह आता है कि आसक्तिरहित और सब प्रकार से निर्दोष रहने का कोई उपाय है क्या? और है तो कौन सा? अपना राष्ट्र अपना स्वामी और हम उसके दास हैं। उसके लिए हमें चातुर्य से काम करना है। हमारी सारी शक्ति, हमारा शरीर, हमारा मन व हमारी बुद्धि आदि जो कुछ भगवान ने अपने को दिया है, वह सब इसके लिए किसी भी क्षण छोड़ने के लिए तैयार हैं, ऐसी भावना तथा मन की धारणा रहे, तब पतन की संभावना नहीं रहती।

मैं समाज के लिए

अपने देश में धर्मांतरण का दुष्कृत्य भी बड़ी तेजी से चल रहा है। कुछ वर्ष पहले अपने देश में जिन्हें अस्पृश्य कहा जाता था, आजकल 'हरिजन' कहते हैं, उनके कुछ लोगों ने कहा कि हम धर्मांतरण कर मुसलमान बनेंगे। कुछ ने कहा कि हम बौद्ध बनेंगे। इसपर एक सज्जन ने उनके बचाव में कहा, 'समाज ने उनके लिए क्या किया है जो वे हिंदू समाज में रहें?' मेरे मन में विचार आया कि उनका यह कहना ठीक है क्या? मन में विचार तो यह आना चाहिए कि मैंने समाज के लिए क्या किया है। अपना विचार करने की जरूरत नहीं। वह अपने लिए अच्छा करे अथवा बुरा, यह उसका अधिकार है। कोई कितना भी बड़ा हो, किसी भी पद पर हो या कितना भी प्रतिष्ठित क्यों न हो, उसे इस प्रकार से सोचने का अधिकार नहीं। मुझे तो राष्ट्र के लिए केवल कर्तव्य करने का, कष्ट करने का ही अधिकार है। हमें राष्ट्र की सेवा करनी है या उस सेवा का व्यापार करना है। व्यापार करना तो एक प्रकार की स्वार्थपूर्ति ही है। हमें बदले में कुछ नहीं चाहिए। कोई मर गया, उसके बाद उसके शरीर को कुत्ते फाड़कर खाएँ अथवा योग्य रूप से अग्नि-संस्कार हो, उससे अपने को क्या करना है। यही विचार मन में स्थायी रूप से रहना चाहिए।

मन में केवल एक ही आकांक्षा रहनी चाहिए कि राष्ट्रकार्य के व्रत का अखंड स्मरण हृदय में जागृत रहे और उस व्रत का आचरण आजीवन होता रहे। इस भाव से कार्य करने पर सफलता अवश्यमेव प्राप्त होगी। किसी प्रकार की बाधा या कठिनाई मार्ग रोक नहीं सकेगी। इसका विचार और चिंतन करते-करते अपने वैयक्तिक जीवन को राष्ट्र-पूजा के लिए योग्य बनाना ही सच्ची राष्ट्रसेवा है।

संघ शिक्षा वर्ग, १९५५

(२)

सहजीवन हिंदू की प्रकृति

सहजीवन का सिद्धांत हिंदुओं के लिए नया नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने मार्ग से जाए, इसके लिए आपस में झगड़ने का कोई कारण नहीं है। पृथ्वी विशाल है और सबका पोषण करने में समर्थ है। सहिष्णुता का मूल स्रोत अपना देश ही है। इसी कारण देश के भिन्न-भिन्न भाग में भिन्न-भिन्न प्रकार की समाज-रचना होने के बाद भी कभी विरोध नहीं हुआ। दक्षिण में मातृसावर्ण्य पद्धति थी, माता सब संपत्ति की स्वामिनी होती थी। तिरुवनन्तपुरम् के उत्तर में स्त्री शासित राज्य था। उत्तर में व्यवस्था अलग प्रकार की रही है। फिर भी किसी प्रकार का संघर्ष नहीं। अपने-अपने दृष्टिकोण से, परंतु समाज कल्याण के लिए कोई प्रयत्न करता है, तो उसका स्वागत ही होना चाहिए। उससे मानव का कल्याण ही होगा। परंतु जब अपने विचार किसी पर जबरन लादे जाते हैं, तब संघर्ष प्रारंभ होता है।

संघ शिक्षा वर्ग, १९५६

(१)

जीवन का अंतिम लक्ष्य

हिंदुओं के सभी संप्रदायों में एक ही ध्येय का वर्णन है। उसमें से यही प्रकट होता है कि दुनिया में अनेक सत्ताधीश हुए हैं, जिनके पास सुखोपभोग के अपरिमित साधन रहे हैं। उसका उन्होंने भरपूर उपभोग

किया। फिर भी उनकी विषय-वासना भोगने की अभिलाषा पूरी नहीं हुई। अनुभव तो यह है कि वासनाओं का उपभोग करने से वासना नष्ट होने के स्थान पर अधिक बढ़ती जाती हैं। जब तक मन में विभिन्न प्रकार की वासनाएँ विद्यमान रहती हैं, तब तक वासना पूर्ति का सुख या दुख रहता ही है। हमारे पूर्वज इसका सम्यक् विचार करके इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ऐहिक वस्तुओं के उपभोग से सुख का अनुभव होता प्रतीत होता है, परंतु अंत में वह दुःख का ही कारण बनता है। इसलिए सुखोपभोग में संयम रखना हितावह है। यदि स्वयं को जानने का प्रयास किया कि मैं कौन हूँ? और इस 'मैं' को पूर्ण सुख प्राप्त हो– इसके लिए क्या करना आवश्यक है? तब एक ही उत्तर प्राप्त होता है कि इस ऐहिक जगत् से परे श्रेष्ठ, उच्च, दिव्य स्थिति, जिसे आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान, निर्वाण, मोक्ष अथवा शून्य कहते हैं, प्राप्त होती है। उसके बाद जीवन में दुःख के लिए कोई स्थान नहीं रहता। चिरंतन सुख की स्थिति को सभी भारतीय पंथों, संप्रदायों ने मान्य किया है। इस स्थिति की प्राप्ति ही सभी संप्रदायों की अंतिम अपेक्षा भी है। यही हिंदुओं का वैशिष्ट्य है। अधिक से अधिक ऐहिक सुख प्राप्त करनेवाला व्यक्ति अन्यत्र श्रेष्ठ माना जाता है। किंतु हमारे यहाँ इतने से पूर्णता नहीं मानी जाती, क्योंकि अंतिम लक्ष्य चिरंतन सुख की अवस्था प्राप्त करना है। इसी कारण भौतिक गुणों के मुकाबले आध्यात्मिक गुणों पर व्यक्ति की श्रेष्ठता निर्भर मानी गई है। हमारे यहाँ सार्वभौम सम्राट के बनिस्बत आत्मज्ञान प्राप्त व्यक्ति श्रेष्ठ माना जाता है।

हम गुणोपासक हैं

इसीलिए भारत में जीवन के आदर्श राजा-महाराजा न होकर शंकराचार्य, ज्ञानेश्वर, तुकाराम आदि माने गए हैं, क्योंकि उन्होंने गुणशील जीवन व्यतीत कर लोगों के सामने अपना आदर्श प्रस्तुत किया। ऐसे त्यागी, विरागी, संतों की कीर्ति का गुणगान हमारे यहाँ होता है। रावण श्रेष्ठ ब्राह्मण कुल में जन्मा था। विद्वान व ज्ञानी था। साथ ही अतिशय बलवान व अत्यंत पराक्रमी था। उसने केवल मनुष्य ही नहीं, देवताओं पर भी विजय प्राप्त की थी। त्रैलोक्य की संपति उसके पास थी। उसके पापाचरण को छोड़ा तो वह सर्वगुणसंपन्न था। किसी प्रकार की कमी उसमें नहीं थी। फिर भी कीर्ति गाई जाती है श्रीराम की, रावण की नहीं, क्योंकि हम गुणोपासक हैं।

एक तपस्वी था। अभी उसकी आयु काफी कम थी। फिर भी सारी विद्याओं का अध्ययन कर उसने ज्ञान-संपादन किया था। ज्ञानसंपन्न होने के कारण अच्छे-अच्छे विद्वान व ऋषि-मुनि भी शंका समाधान के लिए उसके पास आते थे। एक बार कुछ वृद्ध विद्वान उसके पास बैठे थे। चर्चा के दौरान उस युवा तपस्वी ने सबको 'बालक' कहकर संबोधित किया। बाल सफेद हो गए हैं– ऐसे वृद्ध विद्वानों को एक युवा तपस्वी द्वारा 'बालक' कहा जाना अच्छा नहीं लगा। उनको लगा कि यह बच्चा हमको 'बालक' कहता है। उन्होंने इसकी शिकायत राजा के पास की। राजा से समाधान न मिलने पर वे लोग देवताओं के पास गए और सारी हकीकत उन्हें सुनाई। देवराज इंद्र ने देवताओं की सभा में इस समस्या को रखा। उस सभा ने विचार कर निर्णय दिया कि जो 'ज्ञानसंपन्न' है, वही वृद्ध है। अपने यहाँ वृद्धों के कई प्रकार बताए गए हैं, उनमें एक प्रकार 'ज्ञानवृद्ध' भी है। ज्ञान की दृष्टि से जो अभी अपरिपक्व है, वह ऐसे ज्ञानवृद्ध के सामने बालक ही हैं। इसलिए युवा तपस्वी द्वारा 'बालक' कहा जाना उचित ही है। वृद्धपन केशराशि के सफेद हो जाने पर निर्भर नहीं है। इसका अर्थ यही है कि जिसने ज्ञान को आत्मसात किया है, गुणवान है, वह व्यक्ति ही श्रेष्ठ है। ऐसे सर्वगुणसंपन्न व्यक्ति ही हमारे आदर्श हैं।

पुनर्जन्म संकल्पना

मन में यह प्रश्न आ सकता है कि सर्वगुणसंपन्नता प्राप्त करने में कितना समय लगेगा। मनुष्य की आयु तो केवल १०० वर्ष की होती है। एक जन्म में तो सर्वगुणसंपन्न होना कठिन लगता है और यदि ऐसा है, तब ऐसे आदर्श का उपयोग क्या है? चिरंतन सुख की प्राप्ति के लिए ऐहिक सुख पर पानी छोड़ना और चिरंतन सुख भी प्राप्त न हो, तब तो मनुष्य त्रिशंकु बन जाएगा। इधर का रहेगा न उधर का। इस विचार में से ही 'ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्' का चार्वाक-दर्शन उत्पन्न हुआ है। कुछ लोगों का कहना है कि चिरंतन सुख ऐसे बैंक का कोरा चेक है, जिसका कोई अस्तित्व नहीं है। ऐसे प्रश्न मन में उठना स्वाभाविक ही है। परंतु वास्तव में ऐसा है नहीं। असंख्य ऋषि-मुनियों, संतों, तपस्वियों को सत्य का दर्शन हुआ है। अपने अनुभव के आधार पर ही उन्होंने उसका वर्णन किया है। उन्होंने ही बताया कि इस जन्म की कमाई व्यर्थ नहीं जाती। जिस प्रकार एक बार परीक्षा में असफल हुए विद्यार्थी को फिर से परीक्षा में बैठने की अनुमति दी जाती है, उसी प्रकार इस जन्म में किए गए प्रयत्न पूर्ण न होने

पर उसे करने का अवसर अगले जन्म में पुनः प्राप्त होता है। इस प्रकार प्रयत्न करने की संधि बार-बार मिलती है। यही पुनर्जन्म का आधार है। पुनर्जन्म का विचार केवल कपोल-कल्पना न होकर प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर स्थापित सत्य है। पुनर्जन्म की धारणा हिंदुओं का दूसरा वैशिष्ट्य है।

इसी धारणा के आधार पर हिंदू अपना जीवन चलाते हैं। केवल इस जीवन को मर्यादित मानकर व्यवहार नहीं किया जा सकता। आगे भी जन्म लेने पड़ सकते हैं या पड़ेंगे, उसका विचार भी सामने रखकर अपने व्यवहार का निर्धारण करना जरूरी है। इसलिए जीवन-लक्ष्य प्राप्ति के लिए अपना सर्वस्व लगाकर प्रयत्न करूँगा। लक्ष्य प्राप्त नहीं हुआ, तब भी निराशा का कोई कारण नहीं है। इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में अपने लक्ष्य की प्राप्ति होगी। इस करण हिंदू को जीवन में निराश होने की आवश्यकता नहीं है। जीवन में आशा-निराशा का द्वंद हमें लक्ष्य प्राप्ति से दूर ले जाता है। इसलिए निरालस, निरासक्त और निःस्वार्थ भाव से अपना कर्तव्य करें। इस प्रकार से प्रयत्न करने पर सफलता तो मिलनी ही है।

जिस कार्य को स्वार्थरहित होकर किया जाता है, वह कार्य योग्य ही होता है। हमारे यहाँ कानून में भी इस तत्त्व को मान्य किया गया है। यदि किसी व्यक्ति के हाथ से खून हो गया हो, किंतु उस खून करने के पीछे उसका कोई स्वार्थ न हो अथवा परोपकार के निमित्त उसने यह कृत्य किया हो, उस स्थिति में ऐसे खून करनेवाले को अपराधी नहीं माना जाता और न ही उसे किसी प्रकार की सजा दी जाती है।

श्रेष्ठ समाज-रचना

वर्तमान में हमारे देश में पाश्चिमात्य जीवन-शैली का प्रभाव है। उनके पास भौतिक साधनों की प्रचुरता को देखकर उसे प्रगति माना जा रहा है, किंतु उनकी जीवन पद्धति अभी प्रयोगाधीन है। उस पद्धत्ति से मनुष्य सुखी होगा ही यह सिद्ध होना अभी शेष है। वे नैतिक, बौद्धिक, सामाजिक दृष्टि से जीवन-प्रणाली पर प्रयोग कर रहे हैं। अभी तक प्राप्त अनुभवों के आधार पर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि व्यक्ति को केवल ऐहिक सुख प्राप्त कर ही संतुष्टि नहीं होती, उसे और भी कुछ चाहिए होता है। किंतु हम लोग पहले ही इस स्थिति से गुजर चुके हैं। भौतिक समृद्धि का अनुभव लेने के पश्चात् समाज को सुस्थिर करने के लिए हिंदू ने जो

समाज-व्यवस्था अपनाई, वह अपने-आप में परिपूर्ण है। उसको सहस्रों वर्षों से हमने अंगीकार किया है। इस ओर ध्यान न होने के कारण हम अपनी अनुभवसिद्ध जीवन-पद्धति को छोड़ उनकी प्रयोगाधीन प्रणाली की ओर भाग रहे हैं। हम भले ही अपने वैशिष्ट्य को भूल रहे हों, किंतु भौतिक सुखों से परितृप्त विदेशियों को हमारी वही जीवन-प्रणाली आकर्षित कर रही है।

हमारे समाज पर हुए निरंतर आघातों के बाद भी हम जीवित हैं, उसका मूल कारण हमारी समाज-रचना ही है, जो आज भी विश्व को शांति का मार्ग बताने में समर्थ है। युद्ध न हो, विश्व में शांति हो, सब लोग सुखी हों, परस्पर वैमनस्य न हो, यह हमारी संस्कृति की ही कल्पना है। 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' हमारे पूर्वजों ने ही कहा और उसे आचरण में भी उतारकर दिखाया। अपनी ऐसी श्रेष्ठ संस्कृति को त्याज्य समझना ठीक नहीं। हमारे में अभी भी मनुष्यता को व्यवस्थित करने का सामर्थ्य है। आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्येक के अंतरंग में इसकी विशिष्टता का साक्षात्कार हो। एक बार इसका साक्षात्कार हो गया, फिर अपने यहाँ कितने भी पंथ रहे, कितने भी संप्रदाय हो, जातियाँ १८ के स्थान पर १८०० पगड़ रही, तब भी चलेगा।

संघ शिक्षा वर्ग, १९५६

(२)

मातृभूति हमारा श्रद्धा-केंद्र

संघ केवल हिंदू समाज का संगठन करता है, फिर इसे 'राष्ट्रीय' क्यों कहते हैं? क्योंकि हिंदुस्थान में हिंदू और राष्ट्रीय दोनों एक ही अर्थ के शब्द हैं। अभी-अभी एक नाई ने अपनी दुकान का नाम 'राष्ट्रीय केश कर्तनालय' रखा है। इसी प्रकार कोई बड़ा अथवा अच्छा नाम होना चाहिए, इस दृष्टि से संघ का नामकरण नहीं किया गया। विचारपूर्वक इसका नाम 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ' रखा है। 'देव निर्मितं देशं' ऐसा समुद्रवलयांकित और हिमालय से रक्षित प्राचीनकाल से चला आया पृथ्वी पर हमारा एक निश्चित भू-भाग है, जिसे हमने अत्यंत पूजनीय मानकर माता का अभिधान दिया है। वह भी केवल ग्रंथों या वचन में नहीं। ऐसी भावना हमारे

कण-कण में व्याप्त है। प्रातःकाल पहला कदम भूमि से क्षमा माँगकर वंदन करते हुए रखते हैं। हमारा कोई भी काम भूमि पूजन किए बिना प्रारंभ नहीं होता। भवन का निर्माण करना हो या यज्ञ-वेदी बनानी हो, विवाह जैसा पारिवारिक कार्यक्रम हो अथवा सार्वजनिक समारोह, भूमिपूजन के साथ ही शुरू होता है। किसी विशेष जाति, पंथ या समुदाय की नहीं, वरन् संपूर्ण हिंदू समाज की ही यह भावना है। अब तो विदेशियों पर भी हमारे सोच का परिणाम हो रहा है। उन्होंने भी इस बात को स्वीकार किया है कि यदि परमात्मा का साक्षात्कार करना हो, तो उसे भारतभूमि पर आना होगा। अंग्रेजों का श्रेष्ठत्व स्थापित करने के लिए भारत का मनगढ़न्त इतिहास लिखकर हिंदुओं की निंदा कर ईसाई मत को अच्छा बतानेवाले मैक्समूलर ने भी इस बात को स्वीकार किया है। अंग्रेज सरकार ने उसे भारत आने का निमंत्रण दिया था, उसके प्रत्युत्तर में मैक्समूलर ने लिखा था— 'इस अपवित्र शरीर से मुझे परमपावन भारत में आना उपयुक्त नहीं लगता। वहाँ आने के लिए मुझे उस मंगलभूमि पर जन्म लेना होगा।'

ऐसी महिमामयी अपनी भारतभूमि, जिसके बारे में इतनी उच्च धारणा प्रत्येक के मन में थी। वह भावना आज भी होनी चाहिए। किंतु वर्तमान स्थिति क्या है? कोई कहता है— मेरा बंगाल, कोई कहता है— मेरा पंजाब, तो कोई बृहन्महाराष्ट्र की बात कर रहा है। हमारे महापुरुष क्या किसी एक प्रांत के थे? क्या उन्होंने किसी एक समाज के उत्थान के लिए काम किया? वे तो पूरे भारत के थे। भगवान श्रीराम उत्तर दिशा के राज्य कोसल के अधिपति थे। लेकिन उनका कार्यक्षेत्र तो हिंदुस्थान के उत्तर से लेकर दक्षिण तक रहा। दक्षिण के शंकराचार्य ने केवल केरल को ही नहीं तो संपूर्ण हिंदुस्थान को एकसूत्र में बाँधा। ऐसी परमपवित्र भरतभूमि को अखंड, अभग्न अवस्था में लाने के लिए, मैं शरीर का कण-कण लगाऊँगा— यह भावना प्रत्येक हिंदू के मन में होना आवश्यक है।

भारतभूमि को परकीयों ने पदाक्रांत कर इसके अवयवों को भ्रष्ट और नष्ट किया। हिंदू भी ऐसा दुष्कृत्य करने में पीछे नहीं रहे। सोमनाथ पर पहला आक्रमण करनेवाला हिंदू ही था। परकीयों का राज्य अपने देश में स्थापित करने और चलाने में सहायता करनेवाले भी हिंदू ही थे। स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए और उसके पश्चात् भी हमारी मातृभूमि का दान पितार्जित संपत्ति की तरह किया गया। मन की विशिष्ट विकृति का यह परिणाम है।

भिन्नता निसर्ग का स्वभाव

हम सब इस मातृभूमि के पुत्र हैं। उसकी पावन परंपरा में वृद्धिंगत हुए एक ही रक्त के, एक माँ का दूध पिये हम सब एक हैं। हममें किसी प्रकार का भेद नहीं है। जो बाहरी भेद दिखाई देते हैं, वह भेद न होकर भिन्नता है। भिन्नता तो सृष्टि का नियम है। वनस्पति, पशु, पक्षी सब आकार में, रंग-रूप, वजन में भिन्नता लिए उत्पन्न होते हैं। एक ही समय, एक ही माँ की कोख से जन्म लिए जुड़वाँ बच्चे भी एक समान नहीं होते। तब भारत माता के हम पुत्रों में भिन्नता हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। किंतु आश्चर्य की बात दूसरी है। वह यह कि हमारे में भिन्नता न होते हुए भी हम यह मानने लगे हैं कि हमारे में भिन्नता है। हमारे में चाहे जितनी भिन्नता दिखाई दे, परंतु हम सबकी आशा, आकांक्षा एक ही हैं।

अभी-अभी एक तथाकथित विद्वान ने 'संस्कृति के चार अध्याय' नामक एक पुस्तक लिखी है। इतिहास में जो हुआ है। उन्होंने केवल वह ही नहीं लिखा, अपितु जो घटित नहीं हुआ, उसका वर्णन भी किया है। दक्षिण और उत्तर के बीच झगड़े के कारणों की मीमांसा करते हुए वे लिखते हैं– 'पहले से उत्तर में आर्य और दक्षिण में द्रविड़ों का वास्तव्य रहा है। जब अंग्रेज इस देश में आए, तब उन्होंने ईसाई मत का प्रचार प्रारंभ किया। ईसाई मत के प्रसार के विरोध में प्रतिक्रियास्वरूप वेदों का महत्त्व बढ़ा। तब आर्यों को लगने लगा कि हम कुछ विशिष्ट जाति के हैं और द्रविड़ों को अनुभव हुआ कि वे आर्यों से हीन जाति के हैं। इस कारण आर्य और द्रविड़ों के बीच संघर्ष प्रारंभ हुआ।' इस प्रकार का विचित्र इतिहास 'संस्कृति के चार अध्याय' में उन्होंने लिखा है। वर्तमान राजनीतिज्ञों को तो ऐसा कुछ चाहिए ही। इसलिए ऐसे विद्वानों को मान-सम्मान भी खूब मिलता है। मान-सम्मान के लोभ में अच्छे-अच्छे लोग ऐसे काम करने को प्रवृत्त हो जाते हैं।

दक्षिण के अपने प्रवास में मैंने व्यंग करते हुए कहा– 'आप दक्षिणवालों ने ही उत्तर पर हमला कर आर्यों को भ्रष्ट किया है।' मेरी बात सुनकर सबको आश्चर्य हुआ। लेकिन इसमें गलत क्या है? न ही यह कोई नया संशोधन है। जगद्गुरु शंकराचार्य दक्षिण के थे। उन्होंने उत्तर में जाकर दिग्विजय की। वल्लभाचार्य, रामानुजाचार्य, निंबार्काचार्य भी दक्षिण के ही थे, जिन्होंने अपनी विद्वत्ता से सबको प्रभावित किया। यहाँ तक कि धुर उत्तर के सिख संप्रदाय के गुरुग्रंथसाहब में स्थान पाने वाले संत नामदेव व

संत एकनाथ महाराष्ट्र के ही थे। इसका अर्थ यह हुआ कि दक्षिण के संतो ने ही उत्तरवालों को धर्मतत्त्व सिखा कर अपना अनुगत बनाया। इसमें झूठ क्या है? ऐसा कहा जाता है कि ठेठ उत्तर, विशेषकर पंजाब के लोग बिल्कुल शुद्ध आर्य वंश के हैं। वहाँ जाने पर मैंने कहा 'आप शुद्ध आर्य कहे जाते हो, 'जरा संस्कृत बोलकर बताइए।' संस्कृत तो दूर उन्हें 'स्पष्ट' शब्द का 'स्पष्ट' उच्चारण करना भी कठिन है।' ऐसी मान्यताओं के आधार पर उन्होंने 'संस्कृति के चार अध्याय' लिखे हैं। आज अपने देश में ऐसे लेखक बड़ी संख्या में हैं। वे बड़े विद्वान माने जाते हैं। लेकिन क्या करें? लोगों में भ्रम तो निर्माण करते ही हैं।

अपनत्व चाहिए

संघकार्य करने की इच्छा से एक स्वयंसेवक प्रचारक के रूप में काम करने के लिए निकला। अपने तब तक के जीवन में वह शहर में ही रहा था। उसी जीवन का उसे अनुभव था। प्रचारक बनने के बाद उसे जो कार्यक्षेत्र मिला, उसका काफी भाग ग्रामीण था। उसे वहाँ अच्छा नहीं लगता था। गाँववालों का बोलना, रहन-सहन, पहनावा, रीति-रिवाज देखकर वह उकता जाता था। उसे लगता था कि यह भी कोई जीवन है। मन की उब के चलते वह वहाँ रहने में असुविधा अनुभव करता था। मन की बात उसने अपने एक मित्र से कही। मित्र ने उस प्रचारक की मनःस्थिति के बारे में मुझे बताया। मैंने उसे बुलाकर कहा कि हिंदू कैसा भी हो वह अपना है। उसकी स्थिति में सुधार करना चाहिए- इस भावना से काम करना यदि तुम्हें जमता न हो तो प्रसन्न मन से तुम घर जा सकते हो। उस प्रचारक का आगे क्या हुआ, यह अलग विषय है। किंतु ऐसे विचार हमारे मन में आते क्यों हैं? यदि कोई पिछड़ गया है, असभ्य है तो इसमें उसका क्या दोष? दोष अपना ही है। क्योंकि हमने अब तक अपने समाज-बंधु की चिंता नहीं की।

आज हिंदू का अर्थ हो गया है वैमनस्य, झगड़े, डरपोक, मारखानेवाला आदि-आदि। वातावरण प्रतिकूल है। परंतु यह कहकर कि वातावरण प्रतिकूल है, हमें स्वस्थ बैठना चाहिए क्या? इसके स्थान पर यह मेरा राष्ट्र है, मैं हिंदू यहाँ का राष्ट्रीय हूँ, अपने अंदर की सारी दुर्बलता दूर कर समर्थ, वैभवशाली व पराक्रमी राष्ट्र बनाने के लिए अपना सर्वस्व अर्पण करूँगा- ऐसी प्रत्येक स्वयंसेवक के मन की धारणा व निष्ठा होनी चाहिए।

हमें यह ध्यान रखने की आवश्यकता है कि संघ का काम करते समय संघ व समाज एकरूप हो जाना चाहिए। संघ का विकास करते-करते संपूर्ण समाज को व्याप ले, ऐसी स्थिति निर्माण करनी है।

संघ शिक्षा वर्ग, १९५६

(३)

विभ्रांतिग्रस्तता

यह दुर्भाग्य की बात है कि हमें यह सिद्ध करना पड़ता है कि यह हमारा राष्ट्र है, जबकि वह तो स्वयंसिद्ध है। परंतु आज 'राष्ट्र' बोलते ही विभ्रम दिखाई देता है। यदि कोई भ्रम खड़ा होता है तो उसमें दोष 'राष्ट्र' शब्द का नहीं, अर्थ निकालनेवाले का है। वास्तव में पिछले कुछ सौ वर्षों से अपने देश में गड़बड़ हो गई है। अभी-अभी तक अंग्रेज राज्य करते थे। उसके पहले मुसलमानों का शासन था। उन्होंने प्रलोभन अथवा भय दिखाकर हमारे बांधवों का मत-परिवर्तन कर अपनी संख्या बढ़ा ली। हमारी ओर से परकीयों की सत्ता हटाने के प्रयास निरंतर होते रहे। बीच में ऐसा अवसर भी आया जब हमारे प्रयास सफल होते दिखाई दिए थे। छत्रपति शिवाजी महाराज ने प्रबल हिंदवी स्वराज्य खड़ा किया। उनके बाद वालों ने हिंदवी स्वराज्य की सीमाएँ सिंधु नदी के पार काबुल तक पहुँचाई थी। सारे प्रयास असफल सिद्ध हुए, फिर भी कभी पूरी तरह से रुके नहीं।

अंग्रेजों की चालाकी

इसी प्रकार के प्रयत्न अंग्रेजों की सत्ता उखाड़ने के भी हुए। अंग्रेज अधिक चतुर थे। जब अंग्रेजों ने देखा कि वायुमंडल दूषित हो रहा है, तब उन्होंने आंदोलनों की उग्रता कम करने के लिए एक राजनीतिक संस्था बना दी जिसे हम 'कांग्रेस' के नाम से जानते हैं। कांग्रेस का निर्माण रेलवे इंजन में भाप का अतिरिक्त दबाव निकालनेवाले सेफ्टी वाल्व के समान था। जिसे बातचीत द्वारा उग्र भावनाओं की तेजस्विता कम करने के उद्देश्य से निर्माण किया गया था। उन्होंने हमारे नेताओं को बताया कि वे स्वयं ही यहाँ से जाना चाहते हैं, लेकिन भारतवर्ष के लोग अभी राज्य सँभालने के योग्य नहीं हैं। वह समय आने तक और भारतीयों को योग्य बनाने की दृष्टि से

इस संस्था द्वारा प्रशिक्षण देने का हमारा प्रयास है। इस प्रलोभन में अच्छे-अच्छे विचारवान लोग भी आ गए।

अंग्रेजों ने यह कहा, परंतु उनकी वास्तविक भावना अलग ही थी। इधर राज्य सौंपने का स्वप्न दिखाते रहे, उधर अपना राज्य स्थायी हो, इसके लिए यहाँ की विविधता को विभिन्नता और विभेद में बदलकर हमेशा के लिए झगड़े खड़े कर दिए। 'भेद खड़े करो, बाँटो और राज्य करो' की नीति पर चलकर ही उन्होंने दुनिया पर राज्य किया। हमारे यहाँ हिंदू-मुसलमान, हिंदू-सिख, आर्य-द्रविड़ जैसे झगड़े खड़े किए। वर्तमान शासनकर्ता वास्तव में बड़े ईमानदार नौकर की तरह उसी नीति पर चल रहे हैं। उनका पढ़ाया हुआ पाठ कि यह राष्ट्र नहीं था, यहाँ का जीवन अंधकारमय था, को याद रखे हुए हैं। इसलिए हमें एक नया राष्ट्र बनाना है, इस विचार के साथ आगे बढ़ने का प्रयास किया। नवराष्ट्र की कल्पना के पीछे किसी सांस्कृतिक अधिष्ठान का आधार नहीं था। इसका अधिष्ठान तो अंग्रेजों के विरुद्ध उठा तात्कालिक क्षोभ और अज्ञान था। इसका परिणाम बड़ों-बड़ों पर हुआ। यह हिंदू राष्ट्र है और हिंदू यहाँ का राष्ट्रीय है – कहते ही उन्हें चोट पहुँचती है। हिंदू राष्ट्रवादी, नवराष्ट्र को उखाड़नेवाले प्रतीत होते हैं। इस प्रकार का विभ्रम आज तक फैला हुआ है।

वास्तविक राष्ट्रीय भावना

तात्कालिक परिस्थितियों के आधार पर राष्ट्र का निर्माण नहीं हुआ करता, ऐसा विचार करने के लिए वे तैयार नहीं हैं। यदि राष्ट्र में विस्मृति निर्माण हो गई हो, कुछ शिथिलता आ गई हो, स्नेहसूत्र कुछ ढीला पड़ गया हो, वह राष्ट्रभावना के उद्दीप्त होने पर पुनः खड़ा हो जाता है, परंतु किसी संकट के कारण नवीन राष्ट्र नहीं बना करते, किंतु अपने यहाँ खिचड़ी राष्ट्र की भावना इस कदर व्याप्त हो गई है कि उसके अतिरिक्त मन में कुछ आता ही नहीं।

इस देश का समाज हिंदू-समाज है, यहाँ की भूमि हिंदू-भूमि है, यहाँ का दृष्टिकोण हिंदू-दृष्टिकोण है, यहाँ का धर्म हिंदू-धर्म है। हमारा विचार सत्य पर आधारित है फिर सच कहने में डरने का क्या कारण है? यह ज्ञान जागृत होना चाहिए। पहले अपना राष्ट्र खड़ा कर लें, उसे सुदृढ़ बना लें। क्योंकि अपना हिंदू-समाज पिछले डेढ़ हजार वर्ष से विघटित अवस्था में है। स्वाभिमान और गौरव को भूलकर अपनी अस्मिता को

बनाए रखने में असमर्थ हो गया है। अंतरराष्ट्रीयता के चश्मे के कारण दुनिया भले ही हिंदूराष्ट्र के हमारे विचार को संकुचित समझे, हमें उसकी चिंता करने की जरूरत नहीं है। सामर्थ्य होने पर सब अपने आप हमारी बात मानने लगेंगे।

संघ शिक्षा वर्ग, १९५७

(१)

अपना राष्ट्र-जीवन उन्नत कैसे होगा? इसके मार्ग में किसी प्रकार की बाधाएँ हैं क्या? इस राष्ट्रीय कर्तव्य की जिम्मेदारी हमारे पर ही है क्या? कार्य करते समय ऐसे अनेक प्रश्न हमारे मन में आ सकते हैं। इन प्रश्नों का समाधान कार्य की सफलता की दृष्टि से आवश्यक है। पहला प्रश्न बाधाओं के बारे में है। हमें बाधाओं का विचार नहीं करना चाहिए। बाधाएँ तो आती रहेंगी। उत्कर्ष करने की इच्छा होने पर बाधाओं का सामना तो करना ही पड़ेगा। बाहरी बाधाओं की अपेक्षा आंतरिक बाधाएँ कठिन होती हैं। आंतरिक बाधाओं पर विजय प्राप्त कर लेने पर बाहरी बाधाओं की ताकत विघ्न डालने की नहीं रहती।

यदि किसी राष्ट्र का भवितव्य उज्ज्वल करना है तो वह राष्ट्र जिनका है, उनको पता होना चाहिए कि हमारा राष्ट्र-जीवन क्या है। इसका ज्ञान न रहने पर उत्कर्ष की आशा करना व्यर्थ है। क्या हमारे देश में प्रत्येक व्यक्ति को यह ज्ञान है कि 'यह मेरा राष्ट्र है और मैं उसका घटक हूँ।' हमारे यहाँ तो बड़े-बड़े लोग भी राष्ट्र के सत्यस्वरूप के बारे में पर्याप्त ज्ञान नहीं रखते। बहुत से लोगों के मन में तो राष्ट्र के स्वरूप के संबंध में ही भ्रम है। कई तो 'राष्ट्र' नाम की वस्तु पहचानने को भी तैयार नहीं हैं। ऐसे लोगों से राष्ट्र के उत्कर्ष की अपेक्षा रखना व्यर्थ है। वे कहते हैं कि राष्ट्र बेकार की कल्पना है। यह मानव जाति के लिए हानिकारक है।

विविधतायुक्त एकात्मता

जब हम हिंदू की बात करते हैं, तब लोगों के मन में प्रश्न उत्पन्न होता है कि हिंदू याने कौन? यहाँ अनेक दर्शन, अनेक उपासना-पद्धतियाँ, एक-दूसरे के विपरीत विचार या मत को मानने वाले हैं। परमेश्वर के अस्तित्व के बारे में जिनका मतैक्य नहीं है, ऐसे लोग एक कैसे हो सकते

हैं? लोगों को ईसाई और मुस्लिम समाजों में समानता दिखाई देती है। वहीं हमारे समाज में असमानता ही असमानता दिखाई देती है। भ्रम का मूल कारण भी यही है, किंतु यह असमानता न होकर विभिन्नता है, जो हमारी वैचारिक परिपक्वता का द्योतक है। बालक जब चित्र बनाता है, तब एक ही रंग से बनाता है। परंतु जब कुशल चित्रकार चित्र बनाता है, वह अनेक रंगों का प्रयोग करता है। रंगों की विविधता होते हुए भी वह एक सुंदर कलाकृति होती है। इसी प्रकार हमारे समाज की विविधता एकात्मतायुक्त है। हमारी विविधता का स्रोत एक है, सूत्र एक है। भिन्न-भिन्न प्रकृति के लोगों के लिए अलग-अलग प्रकार का भोजन होता है, चिकित्सालय में बीमारी के अनुसार प्रत्येक बीमार के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की औषधि होती है; सबको एक जैसी औषधि नहीं दी जाती, देना उचित भी नहीं होगा। हिंदुस्थान मनुष्य के भवरोग-निवारण का एक महान चिकित्सालय है, जहाँ अनेकविध औषधियाँ और पथ्य हैं। हिंदू के इस आयोजन में वैज्ञानिकता के साथ पूर्ण एकात्मता है। सरल शब्दों में कहना हो तो हिन्दू समाज में बहुरूपता है, किंतु एकात्मता भी है।

भय का भूत

वास्तविकता न समझने और उसे समझने की इच्छा न होने के कारण अनर्गल बातें की जाती हैं। एकता के लिए मुसलमानों और ईसाइयों को खुश रखना चाहिए, यह बात इतने अंदर तक पैठ गई है कि उसके लिए कुछ भी करने को तैयार हैं, भले ही उसमें युक्तियुक्तता न हो, उससे हमारा कितना भी अनिष्ट क्यों न होता हो। यह विकृति यहाँ तक पहुँची है कि– एक सज्जन ने मुझसे कहा, 'एकता के लिए हम सबको मुसलमान बन जाना चाहिए।' ४ करोड़ मुसलमानों को देखकर हमारे नेताओं को पसीना आ जाता है। लोग हमें कहते हैं कि 'तुम मुसलमानों के डर के कारण हिंदुओं का संगठन करते हो।' किंतु मै कहता हूँ कि डरपोक तो हमारे नेता हैं, जो मुसलमानों के डर से उनकी राष्ट्रद्रोही गतिविधियों को सहन करते हैं।'

मुसलमानों के पूर्व के व्यवहार के कारण हिंदुओं के मन में इतना भय समाया हुआ है कि आज भी मुसलमानों का कोई जलसा चल रहा हो, वहाँ से गुजरने में हिंदू को डर लगता है। यदि किसी ने हिम्मत की भी तो अपने बुजुर्ग उसे समझाने लगते हैं। आज प्रत्यक्ष विरोध न होते हुए भी

पुराने संस्कार मन पर इतने घर कर गए हैं कि संकट का डर बना रहता है। यह स्पष्ट कल्पना प्रत्येक के मन में चाहिए कि यहाँ वही रह सकता है, जो इस देश का बनकर रहना चाहे, अन्यथा उसके लिए यहाँ स्थान नहीं है।

आत्मघातक संधि

महाभारत में पांडवों की एक कथा है। लाक्षागृह में हुए अग्निकांड के पश्चात् वे अज्ञात रहकर जीवनयापन कर रहे थे। उस दौरान वे लोग एक ग्राम में एक ब्राह्मण के घर ठहरे हुए थे। अचानक शोरगुल सुनकर माता कुंती ने पूछताछ की। घर की ब्राह्मणी ने बताया कि 'गाँव के पास एक राक्षस रहता है। वह ग्रामवासियों को कष्ट दिया करता था। गाँव का विनाश न हो– इसलिए गाँववालों ने उससे एक समझौता किया है। उस समझौते में रोज एक बैलगाड़ी अन्न, भैंस के दो पाड़े और यह सारा सामान लेकर जानेवाला आदमी, उसके खाने के निमित्त भेंट करना होता है। क्रम से प्रत्येक घर की बारी आती है। आज हमारी बारी है।' यह सुनकर कुंती ने कहा, 'आज मेरा पुत्र जाएगा।' ब्राह्मणी ने कहा, 'यह कैसे हो सकता है? आप तो हमारे मेहमान हैं।' कुंती ने कहा, 'जिसके यहाँ आश्रय लिया है, उस परिवार पर आया संकट, हमारा संकट है।' ब्राह्मणी के काफी मना करने पर भी कुंती ने आग्रहपूर्वक भीम को भेजा। भीम सारी सामग्री ले, बैलगाड़ी हाँकता हुआ जंगल गया। पहले तो राक्षस के सामने ही उसके लिए लाया गया सारा अन्न भीम ने स्वयं खाया। राक्षस ऐसे विचित्र आदमी को देखकर आश्चर्यचकित रह गया। अभी तक जो आता था, रोते हुए, दया की भीख माँगते हुए आता था। परंतु उसने पहली बार ऐसा आदमी देखा जो रोना-गिड़गिड़ाना तो दूर रहा, उसके लिए लाया गया भोजन ही खा गया। ऐसे निश्चिंत, निर्भय तथा विचित्र आदमी को देख वह स्वयं भयभीत हुआ। भोजनोपरान्त भीम ने युद्ध कर उसे यमसदन भेजा और प्रेत को बैलगाड़ी में लादकर बड़े मजे से वापस लौटा।

राक्षस से जिस प्रकार की संधि हुई थी, वैसी प्रवृत्ति आज अपने देश में भी विद्यमान है। पंजाब का, कश्मीर का, बंगाल का क्षेत्र ले लो, महिलाएँ उठा ले जाओ, जो चाहिए वह लो, परंतु हमको मित्र मानो। इसके विपरीत पांडवों का आदर्श अपने सामने है। आपत्ति आने पर अपने सामर्थ्य से, पराक्रम से उसका सामना करना चाहिए, परंतु आजकल विपत्ति का सामना करने का तरीका अलग ही है। अहिंसा के नाम पर हिंसा का समर्थन करने में भी कोई संकोच नहीं होता।

सम्मान के पात्र बनें

संसार में आज अपने देश को सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा जाता। ठीक भी है। हम कौन-सा ऐसा पराक्रम करते है कि विश्व हमारी माने, हमारा सम्मान करे? वास्तव में समृद्ध राष्ट्र के बच्चे का भी विदेश जाने पर सम्मान होना चाहिए। हमारी स्थिति इसके विपरीत है। रवींद्रनाथ टैगोर जापान गए थे। वहाँ के विश्वविद्यालय में भारतीय तत्त्वज्ञान पर उनके व्याख्यान होने थे। पर्याप्त प्रचार व सूचना के बावजूद व्याख्यान के समय आयोजकों के अलावा अन्य श्रोतृवर्ग नहीं था। विद्यार्थी व प्राध्यापक विश्वविद्यालय आए, किंतु अपनी-अपनी कक्षाओं में चले गए। आयोजकों के आग्रह के बावजूद कोई व्याख्यान सुनने नहीं आया। सबने लगभग एक ही उत्तर दिया, 'पराभूत जाति का तत्त्वज्ञान सुनने की हमारी कोई इच्छा नहीं है।

आत्मविश्वासयुक्त स्वाभिमान

जब तक हम आत्मविश्वासयुक्त स्वाभिमान से सामर्थ्यवान नहीं बनेंगे, तब तक प्रभावशाली नहीं हो सकेंगे। हाँ, स्वार्थ से प्रेरित होकर कोई हमारी स्तुति करे, अलग बात है। एशिया के शांतिदूत आदि कहकर हमारे नेताओं की स्तुति की जाती है। परंतु इससे अपना सम्मान बढ़ा है– ऐसा सोचने का कोई कारण नहीं। कसौटी पर कई बार यह सिद्ध हो चुका है कि अपनी बात कोई मानता नहीं। कश्मीर व गोवा के मामले में आया अनुभव हमें मालूम ही है। चीन के सैनिक अपनी भूमि में मानसरोवर पर खड़े हैं, सामान्य विरोध करने तक की हमारी शक्ति नहीं है।

ओतप्रोत राष्ट्रभक्ति

राष्ट्र अपनी स्वयं की ताकत पर खड़ा होता है, किसी के सहारे या कृपादृष्टि पर नहीं। राष्ट्र हमारा सर्वस्व है– यह भावना जब तक नहीं होती, तब तक कैसी भी बलशाली सेना हो अथवा अमाप वैभव हो, राष्ट्र सुरक्षित नहीं रहता। राष्ट्र प्रत्येक व्यक्ति के कण-कण में काया-वाचा-मनसा व्याप्त होना चाहिए। प्रत्येक व्यवहार राष्ट्र की शुद्ध भावना मन में रखकर होना चाहिए। देवर्षि नारद भक्ति के आचार्य कहे जाते हैं। द्वापर युग की बात है। त्रैलोक्य में भ्रमण करते हुए वे द्वारिका पहुँचे। उस समय स्वयं भगवान श्रीकृष्ण अपने सखा अर्जुन के लंबे बाल सुखा रहे थे। अर्जुन आराम से उनकी सेवा ले रहा था। नारद जी को अपने भक्त होने का

अहंकार था। वे अपने को भगवान के अधिक निकट मानते थे, उनपर अपना अधिकार समझते थे। भगवान अर्जुन की सेवा कर रहे हैं, यह देखकर उन्हें ईर्ष्या हुई। अंतर्यामी भगवान से यह बात कहाँ छुप सकती थी। कुछ समय बाद अर्जुन के बाल नारद जी के हाथ में थमाते हुए कहा 'बाल सूखने तक इन्हें सँभालिए, मैं अभी आता हूँ।' अब तो नारद जी के गुस्से का पारा अधिक चढ़ा, लेकिन क्या करते, भगवान की आज्ञा का पालन तो करना ही था। बाल सूखने के इंतजार में उन्हें थामे बैठे रहे। थोड़ी देर बाद सहज ही उनके कान अर्जुन के बाल से छू गए। बाल छूते ही नारद आश्चर्यचकित हो भौचक्के रह गए। अर्जुन के प्रत्येक बाल से कृष्ण-कृष्ण की ध्वनि आ रही थी। इसी तरह स्वयंसेवक के रोम-रोम से, प्रत्येक व्यवहार से 'यह राष्ट्र मेरा है, मैं राष्ट्र का हूँ' प्रकट होना चाहिए।

भूलें न दोहराएँ

'यह मेरा राष्ट्र है' यह भावना जनसामान्य में पहले से ही थी। किंतु बीच का कालखंड ऐसा गया, जब यह विस्मृति हो गई कि यह हिंदूराष्ट्र है। दक्षिण में कुछ ऐसे लोग खड़े हो गए हैं जिनका कहना है कि 'भगवान श्रीराम हमारे कोई नहीं थे। हम तो रावण को भगवान मानेंगे।' वास्तव में इस विचार के पीछे दूसरी ही भावना छुपी हुई है। दबे-छुपे सही, पर 'हमारी संस्कृति अलग है, हम अलग राष्ट्र हैं', ऐसे स्वर उठने लगे हैं। आंध्रप्रदेश में रूस के सहयोग से अपना अस्तित्व स्थापित करने के प्रयत्न हो रहे हैं। पुणे में दीवारों पर पोस्टर चिपका कर आह्वान किया जा रहा है– 'बौद्ध धर्म अपनाइए'। लोग बौद्ध धर्म स्वीकार करें, इसमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। यह तो आनंद की बात है, लेकिन इस प्रकार का आह्वान करनेवाले नेताओं में से एक नेता ने पुणे की एक सभा में दिए अपने भाषण में कहा कि 'अब इस हिंदू समाज से हमारा कोई संबंध नहीं। हमारा संबंध चीन, तिब्बत, रूस, जापान में रहनेवाले बौद्ध धर्मियों से हैं। हमें अपने लिए बौद्धस्थान का निर्माण करना है।' परकीयों को निमंत्रण देने की वृत्ति पिछले १२०० वर्षों से वैसी ही चली आ रही है। वर्तमान में कुछ अधिक ही बढ़ी है। अपने देश की अब तक हुई दुर्दशा के इतिहास से हम कुछ भी सीखने को तैयार नहीं हैं। इस स्थिति में राष्ट्र का उत्कर्ष होगा, समृद्धि आएगी, सम्मान प्राप्त होगा आदि की कल्पना कैसे की जा सकती है?

प्रखर राष्ट्रभाव चाहिए

राष्ट्र का निर्माण तो एकात्मता से ही हो सकता है, क्योंकि एकता में ही शक्ति समाई हुई है। एकता के लिए समाज में राष्ट्र के प्रति श्रद्धा जगाने की आवश्यकता है। कोई पूछ सकता है कि यह श्रद्धा कौन सी है? वह है अपनी मातृभूमि। मातृभूमि अपने जीवन का अधिष्ठान होना चाहिए। यहूदियों का उदाहरण अपने सामने है। पराधीनता और अनन्वित अत्याचारों के कारण उन्हें अपनी मातृभूमि छोड़कर दुनिया भर में जाना पड़ा। दुनिया ने उनकी निंदा व अत्याचार करने में कोई कमी नहीं की। उन्होंने जीवनभर नाना प्रकार के कष्ट व अपमान सहे, परंतु परंपरा, संस्कृति तथा मातृभूमि के प्रति अपनी भावना को यत्किंचित कम न होने देते हुए, उसका संरक्षण व संवर्धन किया। मैं अपनी मातृभूमि प्राप्त करके रहूँगा, यह भावना जागृत रखते हुए वे १८०० वर्षों तक विश्व के विभिन्न देशों में रहे। अपनी बुद्धि व पराक्रम के बल पर धन-संपत्ति प्राप्त की। युद्ध के समय अमरीका व इंग्लैंड की भरपूर सहायता कर बदले में अपनी मातृभूमि प्राप्त कर ली। आज वे दुनिया के सामने एक सशक्त, समर्थ और उन्नत राष्ट्र के रूप में अपना सिर ऊँचा किए खड़े हैं।

संस्कारों द्वारा राष्ट्रभाव

इसके विपरीत मातृभूमि के प्रति वास्तविक निष्ठा न होने के कारण अपने हाथ से अपनी मातृभूमि के विभाजन का घोर पाप हमने किया। अभी भी निरंतर कुछ न कुछ खोते जा रहे हैं। इसलिए पहली आवश्यकता मातृभूमि के प्रति श्रद्धा जागृत करने की है।

नित्यप्रति के संस्कारों से इस प्रकार का परिवर्तन करना संभव है। रोज के संस्कारों का परिणाम तो पत्थर पर भी होता है। बताते हैं कि एक विद्यार्थी अत्यंत जड़मति था। संस्कृत व्याकरण के सूत्र उसकी समझ में नहीं आते थे। साथी लोग आगे बढ़ गए। पढ़ाई में प्रगति न होने से सब उसका उपहास करते थे। उसे स्वयं लज्जा का बोध होता था। एक दिन गुरु ने कहा, 'तुम जन्म व्यर्थ क्यों गँवाते हो? पढ़ नहीं सकोगे। अच्छा होगा, यदि हमाली कर अपना जीवनयापन करो।' यह सुनकर वह विद्यार्थी जीवन के प्रति निराश हो आत्महत्या करने निकला। डूबकर प्राण देने की इच्छा से वह एक कुएँ पर गया। उसने देखा कि पानी खींचते समय रस्सी की रगड़ से जगत के पत्थर पर निशान पड़ गए हैं। यह देख उसके मन में विचार आया

कि रोज की रगड़ से निर्जीव पत्थर पर निशान पड़ सकते हैं, फिर मैं तो चेतन हूँ। मेरे लिए पढ़ना असंभव क्यों है? वह नए उत्साह के साथ गुरुगृह आया। सारी हकीकत गुरुजी को बताकर पढ़ाई में जुटा। आगे चलकर वही विद्यार्थी जिसका नाम बोपदेव था, विख्यात संस्कृत वैयाकरणी बना।

प्रतिदिन एक निश्चित समय पर प्रयत्न करने से जीवन में परिवर्तन होता है। इसी तत्त्व को ध्यान में रखकर अपने कार्य की रचना हुई है। योग्य संस्कार के अभाव में मन स्वैराचारी हो जाता है। स्वैराचारी की दुर्गति अवश्यंभावी है।

हम कहते हैं कि हमें समाज को संघरूप करना है। यह तभी संभव है, जब प्रत्येक की प्रेरणा राष्ट्र ही हो। जैसे पानी की एक बूँद का अस्तित्व नहीं होता। उसका अस्तित्व समुद्र के साथ मिल जाने में ही है। उसी प्रकार मनुष्य का संपूर्ण अस्तित्व समाज में विलीन हो जाना चाहिए। तभी वह सारी विच्छेदकारी भावनाओं से मुक्त हो सकेगा, सारे व्यामोहों से बच सकेगा।

संघ शिक्षा वर्ग, १९५७

(२)

प्रभावी सामर्थ्य चाहिए

आज जगत् में विभिन्न प्रकार के मानव-समाज अपने-अपने राष्ट्रजीवन को लेकर खड़े हैं, मगर वे सब अपने-अपने स्वार्थ से प्रेरित हैं। अपने राष्ट्र के उत्कर्ष, राज्य की सीमाओं को बढ़ाने और अपना प्रभुत्व फैलाने में प्रयत्नशील हैं। बलवान दुर्बल को खाकर अपना पोषण करते हैं। संपूर्ण जगत् की स्थिति ऐसी ही है। इस अवस्था में किसी भी समाज को आत्मविश्वास, स्वाभिमान और सुख से जीना हो और कोई अपने पर आघात करने का साहस न कर सके, ऐसी अवस्था प्राप्त करनी हो तो स्वयं की रक्षा करने का सामर्थ्य अपने अंदर उत्पन्न करना होगा।

अपने इतिहास में हम देखते हैं कि स्वातंत्र्य, संपत्ति, सुख-साधन तथा शस्त्रास्त्रयुक्त सेना रहते हुए भी हमने राष्ट्रजीवन में पराभव का अनुभव किया। शक्ति, बुद्धि, धन आदि अपने देश में विद्यमान थे, फिर भी परकीय, जो संख्या में हमसे काफी कम थे, असंस्कृत थे, हम पर विजयी

हुए। इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि राष्ट्र में सच्ची शक्ति नहीं थी। राष्ट्र जिस समाज का बनता है, उस समाज के व्यक्ति-व्यक्ति का राष्ट्र के लिए समर्पण-भाव, अपने राष्ट्र की एकता की अनुभूति से होनेवाला स्नेहपूर्ण व्यवहार तथा एकसूत्र में रहकर समय-समय पर केंद्रिभूत होने की पात्रता तथा उसके अनुसार समाज की रचना, इसमें ही सच्ची शक्ति सन्निहित है। इस प्रकार की शक्ति का निर्माण अत्यंत आवश्यक है– इस बात को हम ठीक ढंग से समझ लें। इस प्रकार के भावों से निर्मित शक्ति न रही तो राष्ट्र पराभव को प्राप्त होता है।

सक्रिय सहभाग आवश्यक

संघ को केवल समझ लेने से काम नहीं होता। कई लोग कहते हैं कि हमको तुम्हारी बात मंजूर है। आपको जब भी आवश्यकता हो, हमें बुलाना। किसी भी समय बुलाओ, हम तैयार हैं। आपकी बात समझ ली है, अब रोज शाखा आने की क्या जरूरत है। मान लो ऐसा कहकर मैं घर बैठूँ तो चलेगा क्या? आप सब भी इसी प्रकार का विचार कर घर बैठ जाएँगे, उससे चलेगा क्या? क्योंकि बुलाने के लिए भी तो कोई न कोई चाहिए। संकट आने पर बुलानेवाला ही कोई न रहा, तब समाज का क्या होगा? आज समाज को बुलानेवाले, मार्गदर्शन करनेवाले, अपने चारित्र्य के प्रभाव से समाज के अंदर आत्मविश्वास उत्पन्न करनेवाले लोग चाहिए। जो समाज को अपने साथ आगे ले जा सके, अहोरात्र जागृत– ऐसा संगठन हमें निर्माण करना है।

लोग खुद कुछ करना नहीं चाहते। कोई पकी-पकाई व्यवस्था मिल जाए अथवा दूसरा आकर उनके संकट का निवारण करे, ऐसी उनकी अपेक्षा रहती है। इस संबंध में एक प्रसंग याद आता है। प्रवास के दौरान मैं जिस कार्यकर्ता के घर ठहरा था, वहाँ कुछ सज्जन मिलने आए। उनके नगर में मारपीट चल रही थी। मुसलमानों ने हिंदुओं पर हमला किया था। उन सज्जनों की शिकायत थी कि स्वयंसेवक हमारी रक्षा नहीं करते। उनका कहना था कि मैं वहाँ के स्वयंसेवकों को इसके लिए आदेश दूँ। मैंने पूछा– 'स्वयंसेवकों से आपकी क्या अपेक्षा है, उन्हें क्या करना चाहिए?' उन्होंने कहा, 'वे रात-दिन पहरा दें।' मैंने पूछा, 'अभी आप लोग पहरा देते हैं क्या?' उनका उत्तर 'नहीं' में था। तब मैंने कहा, 'स्वयंसेवकों को ऐसा करने का आदेश मैं नहीं दे सकता।' वे बोले, 'तब हमारा क्या होगा?' मैंने कहा, 'मरोगे और क्या होगा।' वे मेरे उत्तर से बहुत क्रोधित हुए और

कहने लगे, 'आप हिंदू समाज की रक्षा करने की बात बोलते हो, मगर हमसे कहते हो कि मरोगे।' मैंने कहा, 'क्रोध मत कीजिए। आप जैसे रोते हुए, भीरु, निकम्मे लोग हिंदू समाज में न रहें तो ही अच्छा है। पहले स्वयं हिम्मत से काम लो। खुद तो आराम से बिस्तर पर नींद लोगे और संघ के स्वयंसेवकों से अपेक्षा करोगे कि वे तुम्हारी रक्षा करें। डाक्टर हेडगेवार ने संघ इसके लिए शुरू नहीं किया था।'

हमें हिन्दू समाज की इस मनोवृत्ति को दूर करना है। प्रत्येक व्यक्ति के अंदर यह भाव निर्माण करना है कि मैं इस राष्ट्र का घटक हूँ। राष्ट्र के लिए ही मेरा जीवन है। मैं जो कुछ करूँगा, राष्ट्र के लिए ही करूँगा। ऐसा विचार और तदनुसार आचरण होने पर ही सामर्थ्य निर्माण होता है।

दाताराम बनें

संस्कार प्राप्त करने के लिए हमें संघस्थान पर एकत्रित आना आवश्यक है। प्रारंभ में स्वयंसेवक के मन में यह धारणा हो सकती है कि एक घंटे के लिए शाखा जाएँगे, खेलेंगे-कूदेंगे, फिर वापस आएँगे। परंतु संघ एक घंटे के लिए नहीं है। संघ हमारा घर बनना चाहिए। डाक्टर साहब के समय शाखा के पश्चात् चाय-पानी, चंदन आदि अनेक प्रकार के कार्यक्रम चलते रहते थे। निरंतर चिंतन से वृत्ति बनती है। हमारा उपास्य देवता यह राष्ट्र है। इस विषय में हम किसी प्रकार की व्यापार-वृत्ति नहीं रखेंगे, ऐसी हमारी दृढ़ धारणा रहनी चाहिए। इस देवता की उपासना प्राप्तव्य की दृष्टि से नहीं करेंगे। संघ में तो व्यक्तिगत कार्यों को, पारिवारिक आवश्यकताओं को, जीवन के सुखों को ठोकर मारकर काम करना पड़ता है। समय देना पड़ता है, गुरुदक्षिणा के रूप में धन देना पड़ता है। शिविर जाना हो तो शुल्क देना होता है, अपने पैसे से गणवेश बनवाना होता है। इसके लिए घर-बाहर की गालियाँ खानी पड़ती हैं। बदले में मिलता है कष्ट करने का आनंद, अन्य कुछ नहीं। केवल एक घंटा संघस्थान पर आकर राष्ट्रचिंतन और बाद के २३ घंटे उसके अनुसार व्यवहार अपेक्षित है। कुछ लोग कहते हैं कि यहाँ तो बड़ी भारी कीमत चुकानी पड़ती है। हमारे यहाँ तो 'दो' का नारा चलता है। समय दो, पैसा दो, जो भी आवश्यक है, वह दो। जब तक संघ के लिए हम अपना पूरा जीवन नहीं देते, तब तक 'कुछ दो'— यह चलने ही वाला है। तब तक उससे छुट्टी नहीं। यह कार्य आसान नहीं, बहुत कष्टकारक है। अपने कार्य में कुछ मिलता नहीं सब देना ही पड़ता है, क्योंकि कुछ मोल लेना होता है तो कीमत देनी पड़ती है। यह तो व्यवहार

का नियम है। वैसे ही राष्ट्र के पुनरुत्थान के लिए भी कीमत चुकानी पड़ेगी। वह जब तक चुकाएँगे नहीं, तब तक वैभव, सम्मान, श्रेष्ठता और चिरंतन राष्ट्र-जीवन प्राप्त नहीं होगा, अन्यथा हमारी बातें कोरी कल्पना ही रहेंगी।

वैसे भी, यहाँ पर अपना कुछ भी नहीं है। एक बार एक फकीर एक महल में घुस गया। रक्षकों ने उसे बाहर निकालने का बहुत प्रयास किया, परंतु वह टस से मस नहीं हुआ। आखिर में राजा आया। राजा ने उससे बात की। फकीर ने राजा से पूछा, 'बता, तेरे पहले यहाँ कौन रहता था? राजा ने अपने पूर्वजों के नाम बताए। फकीर बोला, 'तब तो यह धर्मशाला है। यहाँ कोई भी रह सकता है। मैं भी रहूँगा, अर्थ यह कि यहाँ अपना कुछ भी नहीं है। सब यहीं पर मिला है। इसलिए अपने जीवन का सदुपयोग यहाँ के लिए ही करना चाहिए।

हम सब निश्चय करें कि इस तपस्या में भाग लेकर उसकी अग्नि में शुद्ध होकर काम करेंगे।

चारित्र्यपूर्ण शुद्ध जीवन

हमारी परंपरा में यही आग्रह रहा है कि व्यक्ति अतीव शुद्ध हो। कारण स्पष्ट है। जो अशुद्ध है, वह अच्छा कार्य कैसे कर सकेगा। राम और कृष्ण का कैसा पावित्र्यपूर्ण विशुद्ध चारित्र्ययुक्त जीवन रहा है। श्रीकृष्ण के जीवन पर अनेक लोग आक्षेप उठाते हैं। अश्वत्थामा ने अभिमन्यु-पत्नी उत्तरा के गर्भ को नष्ट करके पांडव परंपरा को समाप्त करने के उद्देश्य से ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया था। तब श्रीकृष्ण ने यह कहकर कि 'यदि मैं आजीवन शुद्ध हूँ तो यह बच्चा जीवित हो जाए', बच्चे को जीवित कर दिया। इस प्रसंग से उनके जीवन की शुद्धता स्पष्ट हो जाती है।

हम राष्ट्रकार्य करने चले हैं, तब हमें तो शुद्ध होना ही चाहिए। प्रथम महायुद्ध के समय की घटना है। मित्र राष्ट्रों की ओर से जर्मनी को हराने के लिए बहुत योजनाएँ चलीं, परंतु जर्मनी को इन योजनाओं का पता पहले ही चल जाता था। मित्र राष्ट्र परेशान थे। खोज करने पर पता चला कि सेना विभाग में सेनापतियों के साथ माताहारी नाम की एक स्त्री रहा करती है। उसका सबके साथ घनिष्ठ संबंध और व्यवहार है। उसे तत्काल हटा दिया गया। उसके बाद से जर्मनी को समाचार मिलने बंद हो गए और मित्र राष्ट्रों की विजय हुई। सेनापतियों के स्त्री-मोह के कारण उन्हें युद्ध में हार प्राप्त होनेवाली थी।

जीवन में ऐसे अनेक मोह होते हैं। मान, सम्मान, धन, स्तुति आदि के मोह मार्ग से विचलित करते हैं। चारित्र्यहीन लोग कुछ भी कर सकते हैं। किंतु जो संस्कारयुक्त है, परपंरागत आदर्शों के अनुसार अपने जीवन को ढालने का यत्न करता है, वह विचलित कैसे होगा? इस राष्ट्रस्वरूप देवता का अर्चन हम गंदे हाथों से कैसे कर सकेंगे? भगवान की सेवा हमें विशुद्ध स्वरूप में ही करनी पड़ेगी। इसलिए दत्तचित्त होकर जागृत भाव से कर्तव्यकठोर होकर रहे तो ही विशुद्ध और प्रदीप्त तेजपूर्ण राष्ट्रजीवन का स्वरूप सारे दुर्गुणों को जलाकर आनेवाले सारी आपत्तियों का नाश कर शुद्ध सुवर्ण रूपी समाज तेजस्विता के साथ निर्माण होगा। किंतु उसके लिए हमें हमारा जीवन अग्नि-स्फुल्लिंगवत् कर तेजस्वी बनाना होगा। उसके लिए अविरत परिश्रम, अंतःकरण की कठोरता, राष्ट्र का अहोरात्र चिंतन, समाज के प्रति निःस्सीम स्नेहभाव मन में रखने का दृढ़ अविचल निर्धार करना पड़ेगा।

संघ शिक्षा वर्ग, १९५७

(३)

बहुत बार ऐसा अनुभव आता है कि अपने स्वयंसेवक का कार्य के प्रति असीम विश्वास होता है। कार्य करने की हृदय की उत्कट विलक्षणता के फलस्वरूप शुद्ध व्यवहार के कारण वह सफलता पा जाता है। वैसे, हमें कोरी विद्वत्ता तो चाहिए नहीं। उसका लाभ भी क्या? केवल लगन के कारण वे शुद्ध भावना और अंतःकरण की तीव्रता का निर्माण करते हैं। इसका अर्थ यह है कि आनेवाली सारी आपत्तियों को हम केवल दृढ़ विश्वास से हटा सकते हैं।

हिम्मत न हारें

कार्य करते समय हमारे ध्यान में आएगा कि अपना यह भारत कितना विशाल है और उसके मुकाबले अपना कार्य कितना कम है? अपनी शाखा कैसी है? अपने अनुकूल कौन हैं? संघ से सहानुभूति रखनेवाले कौन हैं? हमें कितना परिश्रम करने की जरूरत है? आसमान फट जाए तो उसमें थिगला लगाने की स्थिति है क्या? ऐसी भयाकुल अवस्था और आशंका मन में निर्माण होना बहुत स्वाभाविक है। इतिहास का अध्ययन करने और अपने महापुरुषों के जीवन की ओर देखने पर हमें ज्ञात होगा कि नानाविध

संकट अथवा कष्टों के उपस्थित होने पर उन्होंने बड़े साहस के साथ उनका सामना किया। वे ही तो हमारे आदर्श हैं।

भगवान रामचंद्र वनवास के कष्टों को, धर्म के विनाश को, दैत्यों के अत्याचारों को देखने के बाद निराश व हताश होकर बैठ गए थे क्या? नहीं, उन्होंने तो अपने स्वयं के पराक्रम से आक्रमणकारियों का पूर्ण निर्दलन किया। आपत्तियों को ठोकर मारकर धर्म की रक्षा की और अपने अपमान को धोकर विजय प्राप्त की। साधनों की उपलब्धता न होने पर भी अंतःकरण दृढ़ और पौरुषयुक्त रहा तो विजय मिलती ही है। वही बात भगवान श्रीकृष्ण की भी रही, किंतु अपना समाज दुर्भागी और अकर्मण्य है। सब श्रेष्ठ पुरुषों को भगवान के अवतार मानकर 'न देवचरितं चरेत्' कहकर स्वस्थ बैठा रहा। यह भ्रममूलक स्थिति है। विशुद्ध गुणों के आचरण ने ही तो उन्हें देवता बनाया, परंतु हम उनकी पूजा कर संतोष मानने लगे। अभी-अभी हमारे सामने जिनका कार्यकाल रहा, ऐसे लोकमान्य तिलक का भी हमने चतुर्भुज चित्र बना लिया है। ऐसी विलक्षण स्थिति है।

स्वयंसेवकों ने महापुरुषों का स्मरण कर कार्य करना चाहिए। इतिहास की ओर दृष्टिक्षेप करेंगे तो एक-एक महापुरुष कहता दिखाई देगा कि परिस्थिति से डरना नहीं। छत्रपति शिवाजी के समय अनेक धनिक व चतुर योद्धा थे, लेकिन सब ऐसी दासता से ग्रस्त थे कि परकीयों की चाकरी में ही प्रसन्न रहते थे। उनके स्वयं के पिताजी सद्गुणी होने पर भी मुगलों की नौकरी कर रहे थे। सबको अपनी इच्छानुसार उपासना का भी स्वातंत्र्य नहीं था। जीवन की सुरक्षितता खतरे में थी। ऐसी विलक्षण अवस्था थी, लेकिन कोई माई का लाल इस स्थिति में साहस से खड़ा होने को तैयार नहीं था। बादशाह की मर्जी संपादन करने में धन्यता मानी जाती थी। शाहजी ने शिवाजी को भी बादशाह के सामने खड़ा किया था, किंतु शिवाजी ने उसे सलाम करने से मना कर दिया। जब उन्होंने अपनी माँ और गुरु दादोजी कोंडदेव के मार्गदर्शन में काम शुरू किया, तब अपने ही लोग मुगल शासन की ईमानदारी का वास्ता देकर विरोध करते थे। अनेक कठिन प्रसंगों से उन्हें गुजरना पड़ा। अफजलखान-वध और औरंगजेब के कारावास से मुक्ति का प्रसंग तो मार्गदर्शक प्रसंग हैं। किसी भी परिस्थिति में विचलित न होते हुए, लोगों की टीका-टिप्पणी से प्रभावित व क्षुब्ध न होते हुए, बड़े निर्धारपूर्वक चतुराई व साहस से अपने शत्रु का सामना किया और सफल हुए।

हम गीतों में कहते हैं— हम तुम्हारे समान बनेंगे। किंतु उसके लिए अति कर्तव्यकठोर उत्कट ध्येयनिष्ठा और संघ ही मेरे जीवन का सर्वस्व है— ऐसा भाव निर्माण करना होगा, तब सफलता मिलेगी। यदि अपने डाक्टर साहब ने उन अनेक लोगों की बातों को माना होता, जिन्होंने उन्हें संघ छोड़ने के लिए कहा था, तब क्या दिन-प्रतिदिन अरुणोदय के समान तेजस्वी बननेवाला अपना संघकार्य दिखाई देता? यह दृढ़ अनुभूति चाहिए कि मैं एक स्वयंसेवक हूँ— तब सफलता मिलेगी। 'घृतं च मे, मधुं च मे'— ऐसी अवस्था किस काम की?

सज्जनता का विकृत रूप

अपने समाज में कितना विच्छेद है। कितना टूटा-फूटा जीवन है। कहीं भी एक दूसरे के साथ मेल दिखता नहीं। लोग एक दूसरे के साथ बैठने को तैयार नहीं हैं। हर व्यक्ति व्यक्तिवाद का शिकार है। अपने पड़ोसी की ओर देखने तक की किसी को फुरसत नहीं है। मेरा अपना अनुभव है। एक बार मैं मुंबई में मित्र के उपचार के लिए गया था। कई दिन तक वहाँ रहना पड़ा। वहाँ की निवास-व्यवस्था 'चाल' कहलाती है। एक मकान में एक साथ कई परिवार रहते हैं। सामान्यतः उनका आपस में संबंध बहुत ही कम रहता है। हमारे से एक कमरा छोड़कर एक परिवार रहता था। स्नान-शौचादि के लिए सबके दरवाजे के सामने से होकर जाना पड़ता था। मैं स्नानादि के पश्चात् अड़ोस-पड़ोस के लोगों के हालचाल पूछता था। वहाँ का हमारा मित्र कहता, 'तुमको इससे क्या मतलब? इस प्रकार से पूछताछ करना यहाँ अशिष्टता मानी जाती है। तुम नागपुरवासी जंगली हो।' कुछ दिन ऐसे ही बीते। एक बार देखा कि मेरे दरवाजे से तीसरे क्रमांक पर रहनेवाला तरुण मनुष्य कुछ दिन से दिखाई नहीं दे रहा है। उसकी स्त्री अनेक बार दिखाई देती थी। मैंने अपने मित्र से पूछा, 'यह लड़की दिखाई देती है, इसका पति कहाँ गया?' वे नाराज होकर बोले, 'कहीं गया होगा, तुम्हें क्या करना है?' ८-१० दिन बीत गए। एक दिन सुबह देखा कि उनका दरवाजा तब तक बंद था। मैंने मित्र से कहा, 'सात बज गया है। मुंबई वाले खूब हैं, अभी तक सोते हैं।' वह बोला, 'तुम रहने दो। बेकार की चिंता क्यों करते हो?' मैंने कहा, 'मान लो अगर किसी को कुछ हो गया हो, कोई जरूरत हो तो पड़ोसी के नाते कुछ करना चाहिए।' उन्होंने कहा, 'यहाँ अड़ोसी-पड़ोसी कुछ नहीं होता।' एक घंटे के बाद देखा कि दरवाजा अभी भी बंद है। अब मुझसे रहा न गया। मित्र के रोकने पर भी

मैं गया। दरवाजा ढकेल कर देखा, वह खुला हुआ था। अंदर का दृश्य देखकर मैं अवाक रह गया। पलंग पर उस युवक का शव पड़ा हुआ था और पास बैठी हुई उसकी स्त्री रो रही थी। उसका कोई रिश्तेदार भी पास में नहीं था। उसको हिम्मत बँधाकर रिश्तेदारों के फोन-नंबर, पते आदि पूछकर उन्हें सूचना की। इधर चाल के लोगों को एकत्र कर अंत्येष्टि की व्यवस्था भी की। प्रगति और शिष्टाचार के नाम पर अपने समाज की ऐसी स्थिति होती जा रही है।

लोग कहते हैं कि भाई, हम तो भले आदमी हैं, न किसी के लेने में है और न किसी के देने में। सुबह उठे, पत्नी के साथ घर के कुछ काम किए, नजर जमीन पर गड़ाए सीधे काम पर गए और वहाँ से वैसे ही गर्दन लटकाए सीधे अपने घर आए, रोटी खाई, बत्ती बुझाई और सो गए। पास में कौन रहता है, उसके क्या हाल-चाल हैं, इससे उनका कोई संबंध नहीं। पेड़ और ऐसे आदमी में कोई अंतर नहीं होता। ऐसे लोगों को अतिशय सज्जन माना जाता है। इस प्रकार की गलत धारणा समाज में बढ़ती जा रही है।

कितने भिन्न-भिन्न स्वभाव व भिन्न-भिन्न प्रकार के लोग मिलते हैं। एक स्वयंसेवक प्रचारक निकला तो उसके पिता ने मुझपर दावा कर दिया, परंतु एक दूसरे प्रचारक के पिता बहुत बीमार थे। वे संघ-जीवन के महत्त्व को समझते थे। अपने अधिकारियों ने उसे (पुत्र को) पिता से मिलने के लिए बुलाया। पिता ने कहा, 'इसे क्यों बुलाया? इसे अपना काम करने दो।' लोग प्रचारक के काम को बेकार का काम समझते हैं। घर में कोई काम हो, किसी के साथ यात्रा पर जाना हो, घर में कोई बीमार हो तो उसे सेवा के लिए बुला लेते हैं। नौकरी करनेवाला, व्यवसाय करनेवाला तो अपने काम में व्यस्त रहता है। अपना प्रचारक ही उन्हें खाली आदमी दिखाई देता है। अरे भाई, अपनी नींद कम करो, मेहनत करो। संघकार्य पर आक्षेप क्यों करते हो?

मन के साधे सब सधे

सफलता मिलती नहीं, यह बात गलत है। अपने ध्येय के सामने सारी दुनिया नगण्य बन जानी चाहिए। हमारे अंतःकरण की जितनी तीव्रता व अग्रता रहेगी, उतना ही कार्य अधिक होगा। जिस प्रकार पानी का सामर्थ्य उसकी एकता में है, उसी प्रकार मन का भी है। मन की अस्थिरता

काम नहीं करने देती। हम नित्य कहते हैं कि यह 'कंटकाकीर्ण' मार्ग है। किसी प्रकार की परवाह नहीं, कोई भय नहीं। पैर में काँटा गड़ जाए, पर हमारा पैर दुखेगा नहीं। काम से हटना तो सर्वस्वी असंभव है। इस प्रकार हमने सर्वस्व दिया, तब सफलता हाथ जोड़कर खड़ी हो जाएगी।

ॐ ॐ ॐ

संघ शिक्षा वर्ग, १९५७

(४)

यह राष्ट्र अपना है– यदि इस भाव का अभाव हो गया, मातृभूमि-प्रेम ढीला हो गया, तो बाधाएँ उत्पन्न होती हैं और यदि मातृभूमि के प्रति प्रेम है तो अनेक प्रकार की विपत्तियों के आने पर भी अनुकूलता प्राप्त कर वह पुनरपि प्रस्थापित हो जाता है। जैसे कोई बीज हवा के झकोरों से उड़कर कहीं पहाड़ पर या रेगिस्तान में गिर जाए और ऐसा लगे, मानो वह सूख गया है। फिर भी यदि उसके अंदर का चैतन्य कायम रहा, तो अनुकूलता प्राप्त होने पर उसमें से पौधा निकल आता है। मातृभूमि तो राष्ट्र-जीवन का आधार है। उसके बिना राष्ट्र-जीवन संभव नहीं। राष्ट्र आकाश में लटकता नहीं रह सकता। उसको रहने, पनपने, बढ़ने के लिए अपनी भूमि चाहिए। यदि वह छिन जाए और जिस समाज का राष्ट्र बनता है, वह भी तितर-बितर हो जाए, तब भी उस समाज के व्यक्तियों के अंतःकरण में मातृभूमि और अपने-अपने राष्ट्र के बारे में प्रेम और श्रद्धा जागृत रही, तो शताब्दियों के बीत जाने के बाद भी वह फिर से अपने को राष्ट्र बना लेता है। जैसे पानी का प्रवाह जमीन के अंदर कई मील चलकर फिर बाहर प्रकट हो जाता है। ऐसा उदाहरण अभी-अभी इस पृथ्वी पर इजरायल में घटा भी है।

यहूदियों का राष्ट्र-जीवन एशिया में प्राचीन काल से चलता आया है। उनपर मिस्र और यूरोप के लोगों के अनेक प्रकार के आक्रमण होते रहे। अरबों ने इस्लाम का प्रसार करते समय निकट के इस यहूदी देश पर हमला किया। उसे जीतकर वहाँ के निवासियों को जबरन इस्लाम स्वीकार कराने की चेष्टा की। उन्होंने अपना घर-बार छोड़ना स्वीकार किया पर धर्म नहीं बदला। जिसको जहाँ रास्ता मिला, वह वहाँ गया। कुछ हिंदुस्थान भी आए। उनकी दशा अत्यंत दयनीय थी। लगभग २००० वर्षों तक विपरीत

वातावरण के विभिन्न देश में रहे। फिर भी दुर्भाग्य ने उनका साथ नहीं छोड़ा। वहाँ भी उनपर अनन्वित अत्याचार हुए। वे देश उनको मानवीय जीवन जीने देने को भी तैयार नहीं थे, अधिकार देने का तो प्रश्न ही नहीं था। वे वहाँ न तो अपने घर-बार बना सके, न ढंग से व्यापार कर सके। पूजा, उपासना करने की छूट भी नहीं होती थी। कुछ सुसंस्कृत कहे जाने-वाले देशों में उनके साथ अत्यंत घृणित, निर्दयता तथा दुष्टतापूर्ण व्यवहार किया गया। तब भी इन लोगों ने अपना काल विपरीत चल रहा है, भाग्य प्रतिकूल है– इसको समझते हुए सारे अन्याय चुपचाप सहन किए।

ईसाई मत यद्यपि यहूदी मत से ही पैदा हुआ है, फिर भी उसने यहूदी मत को नष्ट करने का प्रयास किया। ईसाइयों ने उनपर सब प्रकार के अत्याचार किए। अपने यहाँ गुरु नानक के बारे में कहा जाता है कि 'नानक नन्हें ह्वे गए जैसी नन्हीं दूब' की उक्ति के अनुसार वे अत्यंत नम्रतापूर्वक रहे। दुष्टता का व्यवहार बहुत समय तो चलता नहीं। उन लोगों ने पढ़ाई-लिखाई की; बुद्धिमान और उद्योगी होने के कारण अनेक प्रकार के शास्त्रों तथा व्यापार-व्यवसाय में प्रगति की। इस प्रकार जीवन बिताते-बिताते वे अतुलित धन-संपत्ति के मालिक बने। लेकिन अपनी पवित्र मातृभूमि और नष्ट-भ्रष्ट किए गए यरूशलम के मंदिर की स्मृति उनके हृदय में सुरक्षित बनी रही। पहले महायुद्ध में इंग्लैंड व अमरीका की सब प्रकार की सहायता कर, बदले में अपनी मातृभूमि प्राप्त करने का प्रयत्न किया, पर सफलता नहीं मिल सकी। किंतु दूसरे महायुद्ध में फिर से प्रयत्न किया और सफलता प्राप्त करके ही रहे और लोप हो गए अपने राष्ट्र को २००० वर्ष बाद इजरायल के नाम से पुनः खड़ा किया। चारों ओर शत्रु-दृष्टि से देखने वाले अरब देशों से घिरे होने के बाद भी साहस के साथ उन्हें ललकारते हुए दिन-प्रतिदिन प्रगति कर रहे हैं।

हिंदू समाज के बारे में प्रसिद्ध इतिहासकार यदुनाथ सरकार ने अपनी एक पुस्तक के परिशिष्ट में लिखा है कि 'हिन्दू समाज विचित्र है। उसकी जड़ें अत्यंत मजबूत हैं। प्रयाग में स्थित अक्षयवट को हुमायूँ ने जड़मूल से नष्ट किया था, परंतु एक वर्ष की अवधि में ही वह वृक्ष फिर से उग आया। हिंदू समाज भी उसी वटवृक्ष की तरह है। इसे तोड़ने व मिटाने का अनेकों ने प्रयत्न किया, परंतु उस वृक्ष की भाँति फिर से कोई न कोई वीर पैदा होकर इस समाज में प्राण फूँकता रहा है। यह राष्ट्र चिरंजीव है।'

घातक भौतिकता

यह तभी संभव है, जब बुद्धि से परे जाकर अंतःकरण के कोने-कोने में राष्ट्र की भावना भरी हो। यदि नींद में जगाकर पूछा जाए कि 'कहाँ के रहनेवाले हो, कौन हो?' तो स्वाभिमान से मस्तक ऊँचा कर यह उत्तर ही निकलना चाहिए कि 'मैं हिंदुस्थान का निवासी हूँ। हिंदू हूँ। यह मेरा हिंदू राष्ट्र है।' रोम-रोम स्वाभिमान से भरा होना चाहिए। अंतरंग और बहिरंग पूर्णतः राष्ट्र के विचार में रंगा हो— ऐसा बनाने की कोशिश करें। राष्ट्र का आधार अपने अंतरंग से उत्पन्न होनेवाली शक्ति ही है। वह जितना शक्तिसंपन्न होगा, वह उतनी ही निर्बाध प्रगति कर सकता है।

राष्ट्र का पराभव भी उत्कट भक्ति के अभाव में ही होता है। इतिहास ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है, जब अपने ही देश के विद्या-विभूषित, धनसंपन्न, सुसंस्कृत कहे जानेवाले लोगों ने राष्ट्रभक्ति के अभाव में अपने स्वार्थ की पूर्ति या अहंकार की तुष्टि के लिए राष्ट्र के साथ गद्दारी की। किसी प्रकार का अभाव उनके जीवन के पतन का कारण नहीं था। परकीय लोग तो अपने हित साधने के लिए ऐसे लोगों की तलाश में रहते ही हैं।

यदि भौतिकतावाद ही जीवन का आधार रहा तो जहाँ से अधिक भौतिक सुख या साधन प्राप्त होंगे, निष्ठा उसके साथ हो जाएगी। तब तो अराजकता की स्थिति हो जाएगी, जिसमें नैतिकता, देश, राष्ट्र आदि के लिए कोई स्थान नहीं रहेगा। ऐसी स्थिति मनुष्य को कभी सुखी नहीं कर सकेगी। जो देश अधिक संपन्न होगा, वह धन के बल पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेगा। फिर, वह सेना भेजकर हो, मिशनरियों के माध्यम से हो अथवा आर्थिक पारतंत्र्य द्वारा परवश बनाकर किया जाए, साम्राज्यवाद को बढ़ानेवाला ही होगा। उसके लिए शब्द-प्रयोग कोई भी हो।

अभी-अभी एक साम्यवादी नेता का भाषण सुनने का मौका मिला। उन्होंने अपने भाषण में कहा, 'अंग्रेज चले गए, परंतु अभी लोगों को आजादी मिलनी बाकी है। साम्यवाद की प्रस्थापना के द्वारा सर्वसामान्य जनता पर आर्थिक दासता का जुआ है, उसे दूर फेंककर पूर्ण आजादी लाएँगे।' ऐसी आकर्षक शब्दावली का प्रयोग करके मनुष्य को भ्रम में डाला जाता है। वे यह सोचते नहीं कि किसके कंधे पर गुलामी का जुआ है। अपने ही घर में कोई काम करता है तो क्या एक दूसरे के गुलाम हो गए? भोले-भाले लोग ऐसे आकर्षक नारों के शिकार बनते हैं।

नागपुर में साम्यवादियों का एक प्रचार सिनेमा आया था। मुझे भी निमंत्रित किया गया था। उसमें बिल्कुल प्रारंभ में रूस के प्रमुख शहर मास्को का चित्र दिखाया गया था। उस पर लिखा हुआ था 'मास्को : आगामी विश्व की राजधानी' (Moscow : the capital of future world). इसका क्या अर्थ हुआ? परंतु मध्यप्रदेश के चीफ सेक्रेटरी जैसे बड़े-बड़े अधिकारी, बुद्धिमान कहे जानेवाले लोग बड़ी शांति से उस सिनेमा को देख रहे थे। किसी के हृदय को चोट नहीं पहुँची। जनसाधारण को लुभानेवाले आकर्षक दृश्य उसमें थे। सूट-बूट पहन कर खेती करते हुए किसान, खेत में काम करने पर भी जिनकी पैंट की क्रीज नहीं बिगड़ती, हाथ-पैर गीले नहीं होते, जरा भी मिट्टी-कीचड़ नहीं लगती। कैसा चमत्कार है? प्रत्येक के पास बड़े-बड़े मकान हैं, मोटर गाड़ियाँ हैं। जैसे साम्यवाद के कारण वहाँ साक्षात् स्वर्ग उतर आया हो। ऐसे प्रचार से बड़े-बड़े लोग भी मूर्ख बनते हैं। तब सामान्य आदमी की क्या बिसात?

संघ शिक्षा वर्ग, १९५७

(५)

संघनिर्माता जब बीमार हुए, उसके पूर्व से ही कई संघप्रेमी उनसे कहा करते थे कि देखो संघ की व्यवस्था करो। कोई कहते एक कमेटी बनाओ, आपके बाद कौन काम करेगा, उसका चुनाव करने की कोई व्यवस्था होनी चाहिए। संघ का कोई संविधान होना चाहिए। इतना ही नहीं, कुछ लोगों ने तो पूरा संविधान लिखकर डाक्टर साहब को दिया था। अपने स्वभाव के अनुसार उन्होंने सबसे बातचीत कर, सब संभालकर रख दिया। आखिरकार सन् १९४० में उनका स्वर्गवास हो गया। उनके देहावसान के पश्चात् उनके मित्र आते व सहायता का आश्वासन देते। एक सज्जन ने मुझसे यहाँ तक कहा, 'देखो, डाक्टरजी के जाने के बाद अपने बीच ऐसा कोई महापुरुष नहीं है जो सरसंघचालक बनने योग्य हो, परंतु तुम चिंता मत करो, 'मैं हूँ।'

व्यक्तिनिरपेक्ष कार्य

उस समय इस प्रकार के अनेक अनुभव आए। संघ चला, परंतु इसे चला कौन रहा है? कोई चलाता नहीं। अपने स्वयं के सामर्थ्य से चलता

है। जैसे कोई अच्छा किसान उत्तम प्रकार के वृक्ष लगाए और सामान्य मजदूर से कह दे कि इसमें रोज पानी डाला करो। पानी डालते-डालते उस मजदूर में अहं भाव जागृत हो जाए कि मैंने ही इतने उत्तम वृक्ष लगाए हैं। उसका ऐसा सोचना ठीक होगा क्या? उस मजदूर ने श्रम न किया होता तो कोई दूसरा करता। परंतु वास्तविक श्रेय तो उस व्यक्ति को है, जिसने बीज लगाया, पौधा बनाया, उसको सुरक्षित रखकर दृढ़ बनाया। फिर वह अपने जीवन के सामर्थ्य से बढ़ता है, फलता है, फूलता है, सबको छाया देता है। संघ का कार्य ऐसे ही बढ़ा है। डाक्टर साहब के जाने के बाद भी संघ का कुछ बिगड़ा नहीं। हाँ, कुछ लोगों के मन में निराशा जरूर आ गई थी कि अब क्या होगा? फिर मुझ जैसे दाढ़ी-जटा बढ़ाए हुए विक्षिप्त सा आदमी जो संघ में नया था, जिसे दक्ष-आरम् भी आता नहीं था, को पकड़ कर इस स्थान पर बिठा दिया गया। डाक्टर हेडगेवार का शरीर शांत हो गया, परंतु संघ अभी है। उसका कुछ बिगड़ा नहीं।

हमारी गुरुदक्षिणा भी, जो जैसे-तैसे कर ६-७ हजार होती थी, उस वर्ष १२ हजार के लगभग हुई। उस समय अपने यहाँ पद्धति थी कि गुरुदक्षिणा के सारे कार्यक्रम हो जाने के बाद बताया जाता था कि इस बार गुरुदक्षिणा कितनी हुई है। जब बताया गया कि १२ हजार गुरुदक्षिणा हुई है, तब सबको आश्चर्य हुआ। उस दिन कार्यक्रम के अध्यक्ष महोदय ने कहा, 'आप लोग अपने काम का डिमडिम नहीं बजाते, फिर कहाँ से इतना धन एकत्र करते हो? हम लोग कई बार इधर-उधर चंदा जमा करने जाते हैं, बहुत प्रयास करने के बाद भी बड़ी मुश्किल से कुछ जमा हो पाता है। फिर चंदा एकत्र करने वाला कार्यकर्ता जितना चंदा जमा करता है, उससे अधिक का खर्च बताता है। आपके यहाँ यह सब कैसे हो पाता है?' उन्होंने बताया, 'एक बार मैं एक आदमी के पास चंदा माँगने गया था। वह मेरा अच्छा परिचित था। उसने कहा कि तुम चाहे साँप के बिल में हाथ डालने को कहो, चाहे आवेश से भरी शेरनी के मुँह में हाथ देने को कहो, परंतु जेब में हाथ डालने को मत कहो।' इस प्रकार लोगों की धन देने की अनिच्छा की मानसिकता रहती है। इस सबके बाद भी अपने यहाँ यह सब संभव हुआ। सब लोग करते हैं, इसलिए यह काम होता है, सबके बलबूते पर चलता है।

अखंड परंपरा

ऐसा कहते हैं कि कुछ प्राणी ऐसे होते हैं, जिनके सैकड़ों पैर होते

हैं। उनका एकाध पैर टूट भी गया तो कुछ बिगड़ता नहीं। अपने जैसे कुछ व्यक्ति आएँगे, कुछ दिन रहेंगे, सृष्टि के नियम के अनुसार जाएँगे, परंतु उससे कुछ बिगड़ता नहीं।

राष्ट्र भी इसी परंपरा से खड़ा होना चाहिए। एकाध वीर पुरुष उत्पन्न हो हुआ, एकाध चतुर मनुष्य हो गया और उसने अपनी चतुराई या पराक्रम से साम्राज्य खड़ा किया। कुछ समय बाद उसके चले जाने पर साम्राज्य टुकड़े-टुकड़े हो जाए– उससे क्या लाभ? सम्राट अशोक ने पराक्रम कर हिमालय से सुदूर दक्षिण तक अपने साम्राज्य का विस्तार किया, किंतु उसके पुत्र और प्रपौत्र के समय अर्थात् तीन पीढ़ियाँ भी वह नहीं चला। ऐसे कितने ही उदाहरण अपने को दिखाई देंगे। एक गया, दूसरा उतनी ही या उससे भी अधिक क्षमता रखनेवाला व्यक्ति आते जाना चाहिए। परपंरा से एक-दो नहीं तो सहस्रों खड़े हों, ऐसी अपनी स्थिति होनी चाहिए। तभी राष्ट्र अखंड वैभव का उपभोग कर सकता है। ऐसी पीढ़ी-दर-पीढ़ी श्रेष्ठता प्रवाहित रहे, उसमें खंड न पड़े। राष्ट्रभक्ति के संस्कार पुनः जागृत करने की आवश्यकता न पड़े, ऐसी परपंरा निरंतर चलती रहनी चाहिए।

जिन भावनाओं के कारण संघ का प्रसार हो सका, जिनके कारण अनेकविध आपत्तियों से मार्ग निकालकर संघ उत्कर्ष-पथ पर चल सका, उन भावनाओं से ओतप्रोत स्वयंसेवक सर्वदूर हैं। आज जो आयु में बड़े हैं, उनके साथ ही छोटी आयु के भी तैयार हो रहे हैं। इस प्रकार की स्थिति देखने को मिल रही है। मिलना ही चाहिए। केरल में जाएँगे तो देखने को मिलेगा कि धान की ३-३, ४-४ फसलें होती हैं। एक फसल कट रही है तो दूसरे स्थान पर वह हरी-भरी लहलहा रही है। तीसरे स्थान पर अभी जरा-जरा से पौधे आए हैं। चौथे में अभी बीज ही बोया गया है। पहले का समाप्त होने के पूर्व ही बीज के रूप में काम देने को नया धान तैयार हो जाता है। कालचक्र में कहीं किसी प्रकार की रुकावट नहीं। वह चलता ही रहता है। अपने यहाँ जवान तैयार हैं, वृद्ध के हटते ही जवान उसके स्थान पर आएगा। यह परंपरा चलती रहे। हम कहते भी हैं कि सारे समाज को राष्ट्रभक्ति के श्रेष्ठ संस्कार देंगे।

कथनी-करनी एक हो

इसके साथ ही यह बात भी ध्यान में रखने की है कि दूसरे को बनाने के पहले अपने को बनाएँगे। 'परोपदेशे पांडित्यम्' बहुत लोग करते

हैं, वैसा नहीं चलेगा। ऐसा बताते हैं कि एक पंडित जी एक स्थान पर सत्यनारायण की कथा कहने गए। वहाँ उन्हें सोने का सिक्का पड़ा हुआ मिला। किसी का ध्यान नहीं है, यह देखकर पंडित जी ने उसे उठा लिया। पूजा पूर्ण हुई। प्रसाद वितरण आदि के बाद पंडित जी अपने घर को चल दिए। कुछ दूर जाने के बाद वे यजमान के घर वापस आए। गृहस्वामी ने पूछा, 'क्या आपका कुछ सामान रह गया है?' पंडितजी बोले, 'नहीं भाई। जाते समय सूत का एक टुकड़ा हमारे साथ चला गया था, उसे वापस करने आया हूँ।' अर्थात् दूसरे का सूत का टुकड़ा भी अपने पास नहीं रखता, यह प्रकट करना पर सोने का सिक्का अंटी में रहने दिया। इस प्रकार से वृत्ति एक और कृति एक– यह नहीं चलेगा। कई बार अनुभव आता है कि लोग अपनी बात मानते तो हैं, परंतु साथ आते नहीं। इसका कारण इतना ही है कि हम लोग जो शब्द दूसरों को बताते हैं, उनको अपने शरीर व मन के साथ एकरूप नहीं किया होता।

जोश नहीं, होश

बीच में बड़े-बड़े आंदोलन हुए। लोग उत्साह में आकर जेल गए किंतु बाद में पश्चात्ताप हुआ और माफी माँगकर वापस आए। अनेक बातों में मानवसुलभ दुर्बलता दिखाई देती है। कभी-कभी आवश्यकता पड़ने पर मनुष्य बड़ा त्याग भी कर लेता है। कुछ लोग आत्महत्या भी कर लेते हैं, लेकिन विचारपूर्वक आत्महत्या करनेवाले बहुत कम होते हैं। किसी को कहा कि भाई, यह जहर का प्याला पियो। जहर का नाम सुनते ही वह बेहोश हो जाता है। सुकरात या मीरा जैसे भी होते हैं, जो जहर के प्याले को भगवान का प्रसाद समझकर पी जाते हैं। इस प्रकार की तन्मयता होती है, तभी व्यक्ति बड़े से बड़ा त्याग कर सकता है। क्षणिक जोश से नहीं। जोश उतर गया कि हाथ-पैर लड़खड़ाएँगे, काम नहीं होगा। इसलिए स्थायी उत्साह चाहिए।

संघ शिक्षा वर्ग, १९५८

(१)

शरीर व मन को आदत लगे, बंधुत्व की भावना निर्माण हो– इस दृष्टि से वर्ग के कार्यक्रमों की रचना की गई है। अनुशासनबद्ध जीवन व व्यवहार अपरिहार्य है। इसके बिना या तो अपयश प्राप्त होता है अथवा

कुछ का कुछ हो जाता है। यह सब उपदेश से नहीं होता। योजनाबद्ध कार्यक्रमों की आवश्यकता होती है। इसीलिए इन वर्गों का आयोजन करते हैं। काफी चर्चा व विचार के बाद हमने अपनी इस पद्धति को स्वीकार किया है। केवल मौज-मजे के लिए या शरीर को कुछ कष्ट देना चाहिए, इसलिए यह सब कसरत नहीं करते। शरीर को सुख प्राप्त हो– ऐसी सबकी स्वाभाविक इच्छा रहती है। लेकिन आराम न करते हुए शिथिलता को छोड़कर अत्यंत उत्साह के साथ यहाँ कार्यक्रम होते हैं। सुख व आराम छोड़कर कठोरता से काम करने की पात्रता कुछ ही लोगों में होती है।

यहाँ हम जो कर रहे हैं वह यहीं पर रुकनेवाला नहीं है। घर लौटकर कोई न कोई जिम्मेदारी लेकर संघ का काम भी करनेवाले हैं। अब यह जन्मभर के लिए हमारे साथ लग गया है। एक शासकीय अधिकारी ने बताया कि शासन द्वारा संचालित सैनिक शिक्षा संस्थानों में प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए आए हुए प्रशिक्षार्थी परिश्रम से घबरा जाते हैं और उनकी संख्या प्रतिदिन घटती जाती है। लेकिन अपने यहाँ स्वयंसेवक सारा परिश्रम बड़ी प्रसन्नता से करते हैं। सामान्यतः कोई वर्ग के बीच में से घर नहीं जाता।

शाखा : दृश्यरूप संघ

एक सुविचारित ध्येय के कारण स्वयं होकर कष्ट सहने को हम तैयार हुए हैं। इन कार्यक्रमों और अपने ध्येय का समन्वय होना ही चाहिए, अन्यथा यह जल मथने के समान ही हो जाएगा। यहाँ आए, पर अपनी अनुकूलता न रही तो कोई लाभ नहीं होगा। सूर्य का प्रकाश मिट्टी के ढेले पर पड़ा तो कोई परिणाम नहीं निकलता, किंतु वही सूर्य-किरणें किसी रत्न पर पड़ती हैं तो वह चमक उठता है, साथ ही अपने आसपास की वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है। हमारी भूमिका रत्न जैसी होनी चाहिए।

हम लोगों को संघ का विचार समझाने का प्रयत्न करते हैं, परंतु अद्वितीय विचार होने के कारण वे उसे समझ नहीं पाते। लोगों को संघ समझाने का एक ही तरीका है– वह है, अपनी संघशाखा। शाखा हमारे कार्य का व्यक्त स्वरूप है। मुझे एक सज्जन से संघ के विषय में बहुत वादविवाद करने का अवसर मिला। संघ क्या है? संगठन कैसा है? संघ किस प्रकार चलता है इत्यादि बहुत बातें उनसे कीं, लेकिन वे समझ नहीं सके। बाद में उन्हें अपनी एक अच्छी शाखा का कार्यक्रम देखने के लिए

निमंत्रित किया। कार्यक्रम में आने पर उन्होंने देखा कि स्वयंसेवक बहुत अच्छी संख्या में उपस्थित हैं और अनुशासनबद्ध होकर कार्यक्रम कर रहे हैं। उसका परिणाम उनके मन पर यह हुआ कि जाते समय उन्होंने मुझसे कहा, 'संघ बहुत अच्छा है। मुझे आपके विचार बहुत अच्छे लगते हैं।' अर्थात् प्रत्यक्ष दर्शन जब तक नहीं होता, तब तक शब्द अर्थहीन प्रतीत होते हैं। सीधा गणित है– संघ याने शाखा। उसपर जितना विस्तृत, सुसंबद्ध, व्यवस्थित, अनुशासित, उत्स्फूर्त स्वरूप रहेगा, उतनी मात्रा में लोग संघ को समझ सकेंगे। इस ओर हमारा ध्यान आकृष्ट होना आवश्यक है।

मैं नहीं, हम

विचार करें कि अच्छी शाखा बनती कैसे है? अकेले बहुत सद्गुणी रहे, कार्य करने की इच्छा भी रही, राष्ट्र की अपने हाथ से सेवा हो– ऐसा दृढ़ विचार अपने अंतःकरण में रहा, परंतु कोई कार्य नहीं किया तो शाखा के रूप में राष्ट्रशक्ति का मूर्त दर्शन कर सकेंगे क्या? अकेले से शाखा नहीं बनती। प्रत्येक मनुष्य अपने घर में अकेला अच्छा रहता होगा, परंतु यह अकेलापन समाज के लिए सबसे बड़ा शत्रु बना हुआ है। इसके ही कारण मनुष्य में धैर्य व पौरुष का अभाव दिखाई देता है। बड़े-बड़े संकट आने पर भी अपने अकेलेपन में रममाण रहनेवाले लोग अपने को दिखाई देंगे।

नागपुर में एक बड़ी सभा में गड़बड़ हो गई और सारे श्रोता जिधर रास्ता मिला, उधर भाग खड़े हुए। यह पूछने पर कि 'भाग क्यों रहे हो?' प्रत्येक का एक ही जवाब था, 'वहाँ गड़बड़ हो गई थी।' गड़बड़ के बारे में पूछने पर उसने कहा, 'बहुत बड़ी गड़बड़ थी, मैं अकेला क्या करता?' सभा में लगभग २५,००० लोग भाषण सुनने के लिए आए थे, परंतु सब अकेले थे। वह २५,००० अकेलों का समूह था। एक समाज नहीं था। अकेलेपन की परिणिति ऐसी ही होती है। इसलिए सबसे पहले अपना अकेलापन नष्ट करना चाहिए। अपने संघनिर्माता कहते थे– 'मित्र तैयार करो। मित्र ऐसे होने चाहिए जो सर्वस्व अर्पण करने के लिए नित्य सिद्ध रहें। कम से कम ८-१० नए व्यक्तियों से संपर्क कर मित्र बनाने की शक्ति जिसमें नहीं रहती, वह मनुष्य बेकार है। ऐसे चैतन्यविहीन व्यक्ति का जीवन एक प्रकार से व्यर्थ ही है।'

परिचय नहीं, मित्रता

स्वार्थ के लिए किसी से परिचय करना अलग बात है। वह मित्रता

नहीं होती। अपनी भावनाएँ, अपने विचार, अपना कार्य, अपने सुख-दुःख, अभिन्न होकर एक हृदय हो जाने चाहिए। दोनों एक-दूसरे के उत्कर्ष के लिए बैचेन हों। इस प्रकार दोनों का अस्तित्व जब एक हो जाता है, तब उसे मित्रत्व कहते हैं। इसमें हमारी शक्ति कम पड़ती हो तो उसे बढ़ाना चाहिए।

जिसके साथ अपने जीवन की कोई समानता होती है, परंपरा से प्राप्त संबंध होते हैं, तब मित्रता करने में कठिनाई नहीं आती, क्योंकि संस्कार समान होते हैं, आदर्श समान होते हैं। कठिनाई तभी होती है, जब यह विस्मरण हो जाता है कि हमारा जीवनप्रवाह क्या रहा है?

हम जिस क्षेत्र में रहते हैं वह विशाल भारत का एक हिस्सा है। हम उस क्षेत्र का विचार करें और उस क्षेत्र को अपने संस्कारों से संस्कारित करें। उस क्षेत्र के सब आबाल-वृद्ध, महिला-पुरुष अनुभव करें कि हमारी प्रेरणाएँ समान हैं, आदर्श समान हैं, उनके सुख-दुःख समान हैं, श्रद्धाएँ एक हैं, सबके अंतकरण एक समान हैं। अपने क्षेत्र के प्रत्येक व्यक्ति के साथ अकृत्रिम, निरपेक्ष, निःस्वार्थ मित्रत्व स्थापित करें। प्रयास करके मित्र-परिवार बढ़ाना चाहिए। इस प्रकार अपने छोटे-छोटे क्षेत्र को बढ़ाते हुए संपूर्ण समाज तक व्याप बढ़ाना है।

मित्र को अपने रंग में रंगें

कई बार ऐसा दिखाई देता है कि पुराने मित्रों में अपने विचार ग्रहण करने की उत्कंठा नहीं रहती। इसका एक कारण उनकी तरफ अपना दुर्लक्ष होना भी होता है। सारी दुनिया को उपदेश देने के लिए चले हैं, परंतु अपने घर के पास रहनेवाले मित्र को कभी अपने विचारों तथा संस्कारों से परिपूर्ण करने का प्रयत्न नहीं करते। हमको लगता है कि वह तो अपना ही है। उसपर विशेष प्रयत्न करने की क्या आवश्यकता है? उस पर भी उतने ही प्रयत्न करना चाहिए, जितने नए अथवा अपरिचितों पर करते हैं। यदि उसको यह विश्वास रहा कि इसके मन में कपट नहीं है, इसका स्वयं का कोई स्वार्थ नहीं रहता। यह सब प्रकार से अपना शुद्ध मित्र है, तब उसमें अपनी बात सुनने की उत्कंठा रहेगी। उसे विश्वास रहता है कि यह जो कुछ बताएगा, मेरे हित की बात ही बताएगा। यदि कोई कष्ट दिया भी तो मेरे जीवन की सफलता के लिए ही होगा। इस प्रकार नए-पुराने मित्रों को जोड़ना होगा।

संघ शिक्षा वर्ग, १९५८

(२)

हम अपनी इस मातृभूमि को आराध्य के रूप में मानते हैं, जो हिंदुस्थान के नाम से जानी जाती है। हिंदुस्थान कहने से जो अर्थ निकलता है, उससे भयभीत होकर कुछ लोग अन्य नामों से पुकारने लगे हैं। इसकी सीमाएँ जहाँ तक थीं, जितनी थीं, आज उतनी नहीं हैं। किसी भी देश की सीमा समाज के चैतन्य, उसके पराक्रम पर निर्भर करती हैं, मानचित्र पर खींची गई रेखाओं पर नहीं। सिंधु नदी के पार का क्षेत्र अफगानिस्तान, कांधार, गांधार आज हमारे साथ नहीं है। तिब्बत हड़प लिया गया। अभी-अभी पंजाब व बंगाल का बहुत सारा भाग हमसे अलग हो गया, जबकि उसके प्रत्येक हिस्से पर हमारे पवित्र धर्मस्थल हैं। जहाँ की यात्रा करने हिंदू जाया करते थे, वे स्थान आज पराए हो गए हैं।

दुर्लक्ष्य का दुष्परिणाम

सामान्य घर की देखभाल करनेवाला कोई नहीं रहा तो उसपर अतिक्रमण हो जाता है। नागपुर नगरपालिका की एक खाली जगह पर पहले कुछ पत्थर डाले गए। फिर उनको चूना पोता गया। कुछ दिनों बाद हरा झंडा और एक कब्र दिखाई देने लगी। अब वहाँ प्रार्थना के लिए बड़ा शेड व झोपड़ी भी बन गई है। नगरपालिका में यह ताकत नहीं है कि उस अतिक्रमण को वहाँ से हटा सके। इसी प्रकार दुर्लक्ष्य होने पर घर और पड़ोस में ही नहीं, देश पर भी अतिक्रमण हो जाता है।

दूसरी बात यह है कि हम कौन हैं? इसका सम्यक् ज्ञान होना चाहिए। हमारे देश में लोगों को इसका विस्मरण हो गया है। विस्मरण के भी अनेक प्रकार हैं। वैसे, विस्मरण सबको हुआ है– ऐसी बात नहीं है। ऐसे लोग अपनी ओर से प्रयास कर रहे थे परंतु इन प्रयत्नों के पीछे यह अपना राष्ट्र है– यह भावना नहीं थी। ऐसा कहने पर लोगों को बुरा लगता है, पर यह वास्तविकता है।

हिंदू महासभा जैसी अनेक संस्थाएँ हिंदुत्व के लिए प्रयत्नशील थीं। हिंदू महासभा ने पहले हिंदुओं के शुद्धिकरण का कार्य भी किया, किंतु बाद में चुनाव में खड़े होने का निश्चय कर राजकीय स्वरूप धारण कर लिया। उनकी वार्षिक बैठक सावरकर जी की अध्यक्षता में संपन्न हुई, उस समय

कांग्रेस की ओर से महात्मा गाँधी व मुस्लिम लीग की तरफ से बैरिस्टर जिन्ना अंग्रेजों के विरुद्ध एकत्र आने के लिए बातचीत कर समझौता करने का प्रयास कर रहे थे। उसे ध्यान में रखते हुए हिन्दू महासभा ने प्रस्ताव पारित किया कि कांग्रेस ने शुद्ध राष्ट्रीयत्व का मुद्दा एक ओर न रखते हुए लीग से बात करने का काम हम पर छोड़ना चाहिए। हिन्दू महासभा के अधिवेशन में इस प्रकार का प्रस्ताव पारित होने के पश्चात् उनमें से कुछ लोग नागपुर आए थे। उन दिनों अपना संघ शिक्षा वर्ग चल रहा था। वर्ग के समारोप में ये सज्जन लोग भी आए थे। मैं उस वर्ग का सर्वाधिकारी था, इसलिए कार्यक्रम के पश्चात् ये लोग व्यक्तिगत भेंट के लिए मेरे कमरे में आए। तब डाक्टरजी ने उनमें से वरिष्ठ नेता से पूछा– 'हिन्दू महासभा के अधिवेशन में यह कैसा प्रस्ताव पास किया है, जैसे विचारों का सामर्थ्य चुक गया हो। यदि कांग्रेस का राष्ट्रीयत्व शुद्ध है, तो आपका राष्ट्रीयत्व अशुद्ध है क्या? प्रस्ताव से ऐसा आभास होता है, जैसे हिंदू-मुसलमान मिलकर ही शुद्ध राष्ट्रीयता होगी। तब आप लोग कांग्रेस से अलग क्यों रहते हो? उसमें मिल जाना चाहिए।' इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदू-समाज के लिए काम करने वालों की भी धारणा स्पष्ट नहीं थी।

प्रवाह में न बहें

ऐसा कहा जाता है कि अपने स्वयंसेवकों के विचार बड़े पक्के होते हैं। पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी का ही उदाहरण लें। 'भारतीय जनसंघ' नाम से राजनीतिक क्षेत्र में एक संस्था है। वे उसके महामंत्री बने। वे उत्तरप्रदेश में प्रचारक भी रहे हैं। पुराने जमाने के प्रचारक हैं, इसलिए स्वयं का फोटो व वर्णन आदि समाचार पत्र में प्रसिद्ध करने का विचार तो उनके मन में कभी आया नहीं। इस कारण उत्तरप्रदेश के स्वयंसेवकों के अतिरिक्त उनको जाननेवालों की संख्या नगण्य ही है। एक स्वयंसेवक ने सोचा कि उनका जीवन परिचय-प्रकाशित करके उनके बारे में लोगों को जानकारी दी जाए। लखनऊ से 'पांचजन्य' नाम का साप्ताहिक प्रकाशित होता है, उसमें उनका जीवन-चरित्र छपकर आया। उसमें उनकी पढ़ाई, ध्येयवादिता, कार्य की पद्धति आदि लिखकर उनके सादे रहन-सहन का वर्णन किया गया था। इतना सब वर्णन करने के बाद उसमें लिखा कि फिर भी वे कट्टर समाजवादी हैं। मिलने पर दीनदयालजी से मैंने पूछा– 'यह कैसे हो गया? हम तो आपको आदमी समझते थे, आप समाजवादी कैसे हो गए?' हम कहते हैं कि हम स्थिर हैं, परंतु हवा कभी-कभी इतनी प्रबल हो जाती है

कि हमारे पैर भी उखड़ने लगते हैं। स्वयंसेवकों में ऐसा ही विचार राजनीति को लेकर भी आया था। प्रत्येक कहता था कि अब राजनीति करनी चाहिए। संघ के कार्यक्रम केवल प्रदर्शन के लिए करते रहेंगे। वातावरण का ऐसा विपरीत प्रभाव हो जाता है कि अच्छे-अच्छे डगमगाने लगते हैं।

हिन्दू जीवन के मर्म को समझें

हमारी अपनी विशिष्ट जीवनपद्धति है। अपने एक स्वयंसेवक विदेश गए थे। वहाँ उन्होंने अपने व्रत त्यौहारों के बारे में बताया। उन लोगों को भैया-दूज के बारे में सुनकर आश्चर्य हुआ, क्योंकि उनके यहाँ तो सारी स्त्रियों को भोग्य माना जाता है। लेकिन अपने यहाँ यह स्वाभाविक है। अपनी पत्नी को छोड़कर शेष सभी को बहन माना जाता है। यहाँ के समान दुनिया में अन्य कोई उदाहरण मिलेगा नहीं।

महात्माजी की मृत्यु के बाद आवेश में आकर अनेक स्थानों पर लोगों ने हमले किए थे। ऐसे ही एक घर पर हमला करने कुछ लोग पहुँचे। दरवाजा अंदर से बंद था। दंगाइयों ने गृहस्वामी को आवाज देकर बाहर बुलाया, किंतु कोई बाहर नहीं आया। द्वार खोलने की अंतिम चेतावनी दी गई। आवेश से भरे हुए लोग द्वार तोड़कर घर में घुस गए। उन्होंने देखा कि अंदर केवल एक महिला है। पूछने पर उसने बताया कि बाकी सब लोग बाहर-गाँव गए हैं। दंगाइयों ने उस स्त्री को कोई तकलीफ न देते हुए कहा, 'हमें आपका घर जलाना है। आप किसी सुरक्षित स्थान पर जा सकती हैं।' उसके बताने पर रिक्शा करके पहले उसे वहाँ पहुँचाया। उन्होंने रिक्शे का किराया तक नहीं लिया। कहने का अर्थ यह कि विक्षुब्ध लोगों के मन में भी स्त्री के प्रति आदर के भाव का सद्‌गुण बना रहा। नींद, बेहोशी अथवा विक्षुब्धावस्था में भी अंदर से जो सद्‌गुण प्रकट होता है, वह शुद्ध संस्कारों का ही परिणाम है।

लेकिन अपनी इन विशेषताओं को समझे बिना, उसके महत्त्व को समझे बिना अपने यहाँ के बड़े-बड़े लोग, चाहे जो सुझाव दे देते हैं। आजकल स्वार्थबुद्धि के कारण जिस किसी को अपनी बात मनवानी होती है, वह अलग होने की बात करने लगता है और जैसे रूठे बच्चे को मनाया जाता है, उस प्रकार हमारे राजनेता उसे समझाने का प्रयास करने लगते हैं। कुछ भी करो, कुछ भी लो, मगर अलग होने की बात मत करो। यह रोग इतना बढ़ गया है कि जब दक्षिण के लोगों ने रामायण का विरोध

करना प्रारंभ किया तो गाँधी जी के शिष्य विनोबा भावे ने यहाँ तक कहा कि रामायण को बदल देना चाहिए। जब रामायण व महाभारत को लेकर यह विचार हो, वहाँ शिवाजी व महाराणा प्रताप का वर्णन इतिहास में कैसे आ सकता है।

गलत धारणाओं पर चलने से विचार कितने दूषित हो सकते हैं, आचरण कितने निकृष्ट स्तर पर जा सकता है, इसका अनुभव अपने देश में आए दिन देखने को मिलता है। इस वातावरण में वास्तविक ज्ञान और उसपर दृढ़ रहने के संस्कारों की आवश्यकता की निस्संदिग्धता का महत्त्व अपने सामने स्पष्ट है।

संघ शिक्षा वर्ग, १९५८

(३)

हमें ध्यान रखना चाहिए कि हमारे जीवन का नियोजन समाज की दृष्टि से है या नहीं? सबके साथ हिल-मिलकर जीवन बिताते हैं या नहीं? आज परंपरा, समाज आदि के बारे में बोलनेवाले तो काफी दिखाई देंगे, किंतु प्रत्यक्ष में व्यवहार करनेवाले दिखाई नहीं देते। इस प्रकार के जीवन को बदलना आवश्यक है। क्योंकि जिस समाज के कारण हमारा राष्ट्र है, उसकी सुस्थिति आपस में संघर्ष होने पर नहीं रह सकती। परिवार में संघर्ष रहा तो परिवार उन्नत नहीं हो सकता। ऐसी ही स्थिति समाज तथा राष्ट्र की है। जिस राष्ट्र के अंग-प्रत्यंग आपस में टकराते हों, वह वैभवसंपन्न नहीं हो सकता।

संघ ने राष्ट्र और केवल राष्ट्र का ही विचार किया है। उसने अपना नाम 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ' भी इसी उद्देश्य से रखा है। अन्यथा नाम तो बहुत से आए थे। व्यक्ति के नाम पर संस्था का नाम रखकर उसके प्रति आदर प्रकट करना भी एक मार्ग होता है, किंतु संघ का नाम किसी व्यक्ति, जाति या समाज के नाम पर नहीं रखा। समाज और राष्ट्र के बारे में भ्रम उत्पन्न न हो, इसलिए और राष्ट्र के प्रति आदर-भाव के कारण ही इसके नाम के साथ 'राष्ट्रीय' जोड़ा है। क्योंकि व्यक्ति का अस्तित्व राष्ट्र के कारण ही होता है। एक व्यक्ति दूसरे से मोटा, ऊँचा, तगड़ा या विद्वान हो सकता है, परंतु किसी भी परिस्थिति में राष्ट्र से बड़ा नहीं हो सकता।

गाँधी जी को 'राष्ट्रपिता' कहा जाता है, किंतु यह ठीक नहीं है। अपने यहाँ तो भगवान श्रीराम को भी सुपुत्र ही कहा गया है।

विकृति को दूर करना होगा

आज समाज को राष्ट्रभक्ति का विस्मरण हो गया है। विच्छेदकारी भावनाओं के कारण छिन्न-विच्छिन्नता की स्थिति दिखाई देती है। जहाँ राष्ट्र का अस्तित्व ही खतरे में हो, वहाँ वैभव की कल्पना करना दूर की बात है। लेकिन अपने समाज की यह स्थिति स्वाभाविक नहीं है। कुछ शताब्दियों की विस्मृति के कारण यह स्थिति निर्मित हुई है। यह विकृति है, हमारी प्रकृति नहीं। इसे दूर करके विकृति को नष्ट करना ही होगा, और वह प्रयास हमें अपने से ही प्रारंभ करना है, क्योंकि यह काम पर-उपदेश से नहीं होता।

अपने अंदर राष्ट्रभक्ति और एकात्मता की भावना है या नहीं यह देखना होगा। उदाहरण के लिए भाषा के झगड़े को ही लें। एक दूसरे की भाषाओं के बारे में उपहास चलता है। दक्षिण की भाषा के बारे में लोग कहते हैं कि एक मटके के अंदर थोड़े से कंकड़ डालकर मटके को हिलाओ, उससे जिस प्रकार की ध्वनि निकलती है, दक्षिण की भाषाएँ वैसी ही हैं। इस प्रकार की हीन, निंदास्पद व उपहासात्मक टिप्पणियाँ करके समाज की एकात्मता संभव है क्या? ऐसी भावना रहने पर संगठन नहीं हो सकता।

प्रतिकूल वातावरण

चारों ओर का वातावरण पोषक नहीं है। सब तरफ स्वार्थ का बोलबाला है। संघ के स्वयंसेवक निःस्वार्थ भाव से काम करते हैं तो लोग उनको मूर्ख समझते हैं। कहते हैं कि पहले अपना घर-बार सँभालो फिर राष्ट्र की चिंता करना।

स्वार्थ के कारण चारित्र्यभ्रष्टता इतनी बढ़ गई है कि कोई कुछ भी करने के लिए तैयार हो जाता है। सन् १९४२ की घटना है। आंदोलन शुरू होनेवाला था उसके चार मास पूर्व गुप्तचर पुलिस के एक अधिकारी ने मुझे बताया कि आंदोलन शुरू होनेवाला है, सावधान रहना, तुम्हारे संघ पर बड़ी आपत्ति आएगी। मैंने उनसे पूछा, 'आपको कैसे मालूम कि आंदोलन होगा?' उस अधिकारी ने बताया, 'कांग्रेस की कार्यकारिणी का एक सदस्य हमारा आदमी है। वह सारी सूचनाएँ हमें देता है।'

हर बात में लोग स्वार्थ ही देखते हैं। जिन्हें 'हरिजन' कहा जाता है, उनके एक नेता कुछ दिन पूर्व मुझे मिले थे। उन्होंने पूछा, 'हम लोग संघ में आए तो हमें क्या फायदा होगा?' मैंने बताया कि 'संघ में आने से किसी को कोई फायदा नहीं मिलता। यहाँ तो देने का काम है। कुछ मिलने की तो बात ही नहीं है।' मेरी बात सुनकर उन्हें आश्चर्य हुआ। संघ संपूर्ण हिंदू समाज का हित देखता है। किसी एक अंग के लाभ की कैसे सोच सकता है? लेन-देन का व्यापार अपने संघ में चलता नहीं। लेन-देन से प्राप्त की गई एकता स्थायी भी नहीं होती। वह कभी भी टूट सकती है। संपूर्ण हिंदू-समाज के साथ रहे तो ही फायदा है– यह बात समझ में आनी चाहिए।

यह समझौतावादी नीति राजनीति में अधिक चलती है। राजनीति को इसीलिए 'वारांगनैव......' कहा गया है। जिस प्रकार का आदमी सामने आए, उसके अनुसार चेहरे के हावभाव करना यह वारांगना का ही काम होता है। भिन्न-भिन्न हितसंबंध रखनेवाले आपस में ले-दे का व्यवहार करते हैं। राष्ट्र के अंग-प्रत्यंग में यह वृत्ति हो, तो वह राष्ट्र एक रह ही नहीं सकेगा।

हमारी राष्ट्र-संकल्पना

इस पृथ्वी पर चीन, रूस, जापान, आस्ट्रेलिया जैसे अनेक देश हैं। प्रत्येक देश का अपना नाम है। वहाँ एक प्रवृत्ति के लोग रहते हैं। उन्हें अपने देश, परंपरा, भाषा आदि का अभिमान रहता है। इसी कारण प्रत्येक की अपनी मातृभूमि की कल्पना निर्माण हुई। फिर देश का अन्य देशों से संबंध आता है, अपनी सुरक्षा करने की जरूरत होती है। इस दृष्टि से राज्य-व्यवस्था का उदय हुआ। इस सबके प्रति अभिमान के कारण राष्ट्र की संकल्पना साकार हुई है।

हम जब राष्ट्र की बात करते हैं, तब कुछ लोग कहते हैं कि देश एक है– यह भावना अंग्रेजों के कारण निर्माण हुई। यह बात पूर्णतः सत्य है। साथ ही यह बात भी ध्यान में रखने की है कि राष्ट्र की हमारी संकल्पना विदेशियों की संकल्पना से भिन्न है। दक्षिण में केरल के कालड़ि में जन्मे शंकराचार्य ने प्रतिज्ञा की थी कि इस देश से अधर्म व अनाचार को दूर कर यहाँ का वातावरण शुद्ध व पवित्र बनाऊँगा। अपने इस निश्चय की पूर्ति हेतु मात्र आठ वर्ष की आयु में अपनी माता से अनुमति से संन्यास लेकर देश के मध्य भाग में नर्मदा के किनारे रहनेवाले गुरु से मार्गदर्शन प्राप्त किया। ठेठ उत्तर में बद्रीनाथ जाकर ग्रंथ-निर्मिति की तो केदारनाथ

में अपना देह रखा। हिमालय से कन्याकुमारी तक सारा भूभाग केवल दो पैरों के भरोसे नापा। कोई साधन नहीं, कोई संपन्नता नहीं, लेकिन लोगों को सन्मार्ग दिखाते देश का कोई भी भाग हो– पंजाब हो या मणिपुर, अछूता नहीं रखा। उन्होंने यह सारी उठा-पटक क्यों की? केवल इस शुद्ध विचार के कारण कि यह देश मेरा है। यहाँ चल रहा सारा अधर्म व अनाचार दूर करना है। यह विचार यदि मन में न होता तो अधिक से अधिक केरल तक अपने को सीमित रखते। मगर सारा देश मेरा है इस स्पष्ट कल्पना के कारण पूरे देश को अपना कार्यक्षेत्र बनाया।

बीच के काल में लोग श्रद्धा व भक्ति के साथ चारों धामों की यात्रा करते रहे, धार्मिक दृष्टि से देश का पर्यटन चालू रहा, परंतु व्यवहार में हम एकरस व एकसूत्र समाज है– यह भावना शिथिल हो गई। तब केवल अपने-अपने संप्रदाय, अपने-अपने क्षेत्र, अपनी-अपनी बोली का अभिमान आ जाने से वहीं तक सीमित रहने की विपरीत बुद्धि निर्माण हुई और देशाभिमान शिथिल होता गया।

व्यक्ति-व्यक्ति के अंदर इस भाव का जागरण और सामर्थ्यशाली संगठित शक्ति का निर्माण लोगों की नजर में आना चाहिए। क्योंकि जब सामर्थ्य प्रकट होता है तभी युक्तिवाद मान्य होता है। अर्जुन भी भगवान श्रीकृष्ण के समझाने से नहीं समझा। जब उसे विराट रूप दिखाया, तब वह तुरंत मान गया। स्वामी रामतीर्थ का अमरीका में व्याख्यान था। उनका व्याख्यान बहुत विद्वत्तापूर्ण हुआ। लोग भाषण सुनकर बहुत प्रसन्न हुए, किंतु उन्होंने प्रश्न पूछा, 'आप इतना तत्त्वज्ञान बताते हो मगर अंग्रेजी राज्य से मुक्ति नहीं पा सकते?' दुर्बल के तत्त्वज्ञान को कोई सुनता नहीं। कोई विश्वास नहीं करता। हम दुनिया में भीख माँगेंगे और अपना तत्त्वज्ञान सुनाएँगे तो लोग कहेंगे कि भीख माँगते समय तो भिखारी भी भगवान को याद करता है। हमारे ज्ञान को लोग रोगग्रस्त दिमाग की उपज कहेंगे।

हृदय में राष्ट्र-भाव का ज्ञान, आत्यंतिक निष्ठा व प्रेम तथा तदनुकूल अनुशासनबद्ध जीवन-रचना होने से प्राप्त होता है। यह प्रत्येक के हृदय में होना चाहिए। केवल किसी एक हृदय में होने अथवा शारीरिक अर्थात् शस्त्रबल से होना भी संभव नहीं है। मुसलमानों का आक्रमण हुआ, तब हिन्दू शारीरिक दृष्टि से कमजोर था क्या? धन बल की कमी थी क्या? ऐसे सारे प्रश्नों के उत्तर 'नहीं' में मिलेंगे। फिर भी हम पराभूत हुए। इसका विचार करेंगे तो अपने सारे प्रश्नों के उत्तर मिल जाएँगे।

पराजय व दासता ने लोगों को बिल्कुल ही साहसहीन कर दिया है। एक जगह मुसलमानों ने दंगा किया। हजारों वर्षों से वे ही दंगा करते आए हैं। अपने ही देश में हम क्यों दंगा करने लगे? उस मुहल्ले में एक हिंदू के पास बंदूक थी। उसे लेकर वह छत पर मोर्चा जमाकर बैठ गया। कुछ ही देर में २०-२५ दंगाइयों का झुंड उधर से निकला। उन्होंने इस हिंदू को बंदूक थामे छत पर बैठे देखा। दंगाइयों में से एक ने अपने हाथ की कुल्हाड़ी दिखाते हुए उस बंदूकधारी हिंदू से कहा, 'बंदूक फेंक दो वरना कुल्हाड़ी मार दूँगा।' डर के मारे उसने अपनी बंदूक फेंक दी। ऐसी स्थिति किस काम की?

कश्मीर में अपनी सेना के अधिकारियों का कहना था ७ दिन में पूरा कश्मीर जीत लेंगे। लेकिन नेताओं में साहस नहीं था। आज १० वर्ष हो गए, कश्मीर-समस्या वैसी की वैसी बनी हुई है।

केवल शारीरिक बल या शस्त्रास्त्र का उपयोग नहीं। उसके लिए मातृभूमि के कण-कण के लिए लड़ने का दृढ़ संकल्प चाहिए। संघ यही सामर्थ्य निर्माण करने के कार्य में लगा हुआ है। कोई कुछ भी कहता रहे, दुनिया कितनी भी आगे चली जाए हम अपनी बात पर दृढ़ता से अड़े हुए हैं। क्योंकि शुद्ध बंधुभाव, एकता, व संगठन हुए बिना बाकी सारी बातें व्यर्थ हैं। अपने आत्मीय व्यवहार से लोगों को हम अपना बना सके हैं, संघ के बारे में एक विश्वास निर्माण कर सके हैं।

हमारे पूर्वजों ने वैभव के शिखर पर बैठकर यह तत्त्वज्ञान बताया था। वह तत्त्वज्ञान बताने का अधिकार हमें नहीं है। जिसे स्वत्व का अभिमान न हो, जो आत्मविस्मृति में डूबा हुआ है, उसे तत्त्वज्ञान बोलने का कोई अधिकार नहीं। अपने बाहुबल से पहले यहाँ ऐसा जीवन उत्पन्न करें। इसीलिए स्वामी विवेकानंदजी कहते थे– 'भगवद्गीता क्यों पढ़ते हो? व्यायाम करो, एकात्मता निर्माण करो।'

संघ शिक्षा वर्ग, १९५८

(४)

अंग्रेजों के जमाने में भी अपने समाज में सुधार लाने की दृष्टि से कई सज्जन प्रयत्नशील थे। अनेकविध प्रयत्न हुए। भिन्न-भिन्न संस्थाएँ अपने-अपने ढंग से काम कर रही थीं। कहीं चर्चा-मंडल के माध्यम से यह

प्रयास हो रहे थे, तो कहीं शिक्षण संस्था के द्वारा। जहाँ राष्ट्र जीवन सुचारु रूप से चलता है, वहाँ ये छोटे-मोटे प्रयत्न राष्ट्र की प्रगति के लिए उपयुक्त होते हैं। किंतु जहाँ राष्ट्र-जीवन विकृत और विच्छिन्न हो गया हो, वहाँ इन बातों का कोई उपयोग नहीं होता। इसलिए हमने अपने सामने मूलभूत बात रखी है। राष्ट्र-शरीर पर जो फोड़े उभर आए हैं, उनके लिए इधर-उधर के बाह्य उपचारों का उपयोग नहीं होगा। उसके लिए तो शरीर की अंतरंग प्राणशक्ति तथा रक्त का शोधन करना पड़ेगा। राष्ट्र के शरीर में रक्त रूपी शुद्ध संस्कार डालने के मूलभूत तत्त्व को सामने रखकर शाखा की योजना की गई। शाखा उस मूलभूत तत्त्व को साध्य करने का साधन है।

शाखा-रचना

शाखा के लिए हम अनेक लोगों से मिलकर उनको एक स्थान पर उपस्थित करते हैं, सब मिलकर एक साथ कार्यक्रम करते हैं। इसके लिए योजना की आवश्यकता रहती है। अनेक शाखाएँ होती हैं। इन्हें चलाना एक व्यक्ति के बूते का काम नहीं। जो कार्य को सुचारू खड़ा करने के लिए प्रत्यक्ष परिश्रम करते हैं, उनमें एक 'कार्यवाह' होता है। अपने कार्य के स्वरूप की साधारण रचना का जिसको पता है और शाखा के सारे कार्यक्रमों को समझनेवाला है, वही 'कार्यवाह' होता है। शाखा में कार्यवाह के साथ एक 'मुख्यशिक्षक' भी रहता है। शाखा में तरुण और बाल आते हैं। उनकी संख्या यदि अधिक रही तो कुछ शिक्षकों की आवश्यकता रहती है, जिन्हें हम 'गणशिक्षक' कहते हैं।

गटनायक

शाखाओं में गट होते हैं, गट का 'गटनायक' होता है। गटनायक का महत्त्व हम समझते नहीं। उसे ५-६ स्वयंसेवकों को बुलाने और एकत्र करनेवाला मानते हैं। अपने यहाँ गाँव में भोजन आदि का निमंत्रण देना हो तो एक व्यक्ति घर-घर जाकर सूचना कर आता है कि हमारे मालिक के यहाँ भोजन का निमंत्रण है। गटनायक का काम ऐसा नहीं है। वास्तविक दृष्टि से देखें तो गटनायक का महत्त्व बहुत अधिक है। गट मानो एक परिवार है। गट में पारिवारिक भाव उत्पन्न करना, सबके प्रति शुद्ध स्नेह रखना आवश्यक होता है। यह काम गटनायक का है। गटनायक अपनी कार्यपद्धति की सबसे छोटी, किंतु महत्त्वपूर्ण कड़ी है। उस पर शाखा का स्वरूप, व्यवहार व प्रगति निर्भर है। गटनायक को अपने क्षेत्र का नायक

होना चाहिए, अर्थात् जिस मुहल्ले में वह रहता है उसमें उसका प्रभाव होना चाहिए। मुहल्ले के घर-घर में स्नेहपूर्ण व्यवहार कर, सबके सुख-दुःख में सहभागी बन, आपत्ति में सहायता देकर वह अपने क्षेत्र का केंद्र बिंदु बने और अपनी विचारधारा का प्रभाव उत्पन्न कर 'संघ ही अपना हितकर्ता है'– ऐसा विश्वास लोगों के मन में निर्माण करें।

हमारा काम समाज में वैचारिक परिवर्तन लाने का है। यह काम करने की पात्रता और क्षमता गटनायक में होनी चाहिए। अपने को केंद्र में रखकर सब प्रश्न हल करने की तैयारी और समाज का सुयोग्य मार्गदर्शन करने का सामर्थ्य गटनायक में होना चाहिए। इस कार्य को दिन-प्रतिदिन अखंड रूप से चलाने की क्षमता अगर गटनायक में है, तो ही संगठन का काम होगा।

स्वयंसेवक से अपेक्षा

स्वयंसेवक ने गट, गण, शाखा आदि की जिम्मेदारी स्वीकार कर लोकनेता बनना चाहिए। संघचालक को हम सबके पालक के रूप में देखते हैं। इसलिए उनका नाम योजनापूर्वक हुई व्यवस्था की सूची में जानबूझकर नहीं लिया है। छोटी से छोटी प्रत्येक शाखा में ऐसे दृश्य उपस्थित कर सामर्थ्य-निर्माण कर कार्य आगे बढ़ाना है। इसके लिए अपने को झोंककर काम करना पड़ेगा। कोई दायित्व हो या न हो, हम सब स्वयंसेवक हैं। हमारा मुख्य अधिकार स्वयंसेवक होना है। दायित्व कार्य की सुविधा के लिए दिया जाता है। प्रत्येक को अच्छा स्वयंसेवक होने का अधिकाधिक प्रयास करना चाहिए।

अनेकों को संघ का तत्त्वज्ञान मालूम है। इस विषय पर वे अच्छा बौद्धिक भी दे सकते हैं। उन्हें सुनकर ऐसा लगेगा कि अपन कुछ नहीं हैं, परंतु उनके जीवन को देखा तो दिखाई देगा कि उस तत्त्वज्ञान का उनपर कोई परिणाम नहीं है। उनको केवल शब्दज्ञान रहता है। शब्द ज्ञान क्षणिक रहता है, इसलिए उनके ज्ञान का स्वरूप भी क्षणिक होता है। जोश उतरते ही वे काम से अलग हो जाते हैं। कारण वे कुछ भी बताएँ– कोई वैचारिक मतभेद की बात कहेगा, कोई अपनी उपेक्षा की बात कहेगा, अर्थात् कोई न कोई क्षुद्र बहाना कर घर बैठ जाते हैं। परम पवित्र भाव की गइराई कम होने के कारण ही ऐसा होता है। इसका कारण एक ही होता है कि संघ में प्रवेश करने के बाद उसके मन में जो विचार उत्पन्न हुआ था, वह बुद्धि

तक पहुँचा, पर उसके प्रति भक्ति उत्पन्न नहीं हुई। रामदास स्वामी ने लिखा है– 'भक्त वह है, जो कभी विभक्त नहीं होता। एक बार जिस मार्ग को स्वीकार कर लिया, उससे हटता नहीं।'

अपने डाक्टर साहब से एक बार उनके एक मित्र मिलने आए। राजनीति से लेकर ढेर सारे विषयों पर अनेक प्रकार की बातें हुईं। अंत में वे बोले, 'मेरे सामने समस्या यह है कि अब क्या करें? उनकी बातें सुनने के पश्चात् डाक्टर साहब ने एक ही बात कही, 'अब मुझे संघ के अलावा कुछ दिखता नहीं है। तुम जितनी बातें करते हो, वे सब हैं ना? तो संघ का काम करो। उसे बढ़ाओ।' जब किसी पर भूत सवार हो जाता है, तब वह उसके मन, बुद्धि व शरीर पर अधिकार कर लेता है। ऐसे ही संघ अपने मन पर सवार होना चाहिए।

एक और बात ध्यान में रखनी चाहिए कि संघ का काम सुचारु रूप से करने के लिए मैं पात्र बनूँगा– ऐसा दृढ़ निश्चय स्वयंसेवकों का होना चाहिए। यदि समाज का सामान्य व्यक्ति ईमानदार और शुद्ध संस्कारों से युक्त न हो, तो उनसे बना राष्ट्र अच्छा कैसे हो सकेगा? हमारा जीवन हमारे राष्ट्र के गौरव के अनूकूल होना चाहिए। राष्ट्र का उत्कर्ष करनेवाला हमारा जीवन होना चाहिए। इसके लिए अपने दोष देखना और दूसरों के गुण देखना हितावह होता है। जो कुछ गुण हममें है, उतना ही पर्याप्त नहीं होता, गुणवृद्धि का निरंतर प्रयत्न होना चाहिए। अपने में जो कुछ त्रुटियाँ है, उनको दूर करने का दृढ़ निश्चय और तैयारी रहनी चाहिए। जब यह मान लिया जाता है कि मेरा पर्याप्त विकास हो चुका है, उसी क्षण से विकास की संभावनाएँ समाप्त हो जाती हैं। जब तक परमात्मा से एकरूपता नहीं होती, तब तक उन्नति का अवसर रहता है।

स्वयंसेवक, अर्थात् सारी दुनिया की चिंता करनेवाला। जैसे रामदास स्वामी ने अपनी माता से कहा था– 'चिंता करितो विश्वाची।' एक बार बड़े गंभीर होकर कमरे में बैठे थे। माँ ने पूछा, 'अरे! काहे का विचार कर रहा है?' तब उन्होंने कहा, 'चिंता करितो विश्वाची।' अखिल मानव की चिंता– इस प्रकार की भव्यता उन्होंने अपने मन में रखी थी। हमें भी वैसी ही फकीरी ग्रहण कर चलना है। चारों ओर की परिस्थिति को जानते और समझते हुए दिन प्रतिदिन चलनेवाले विचारप्रवाह के परिप्रेक्ष्य में अपने राष्ट्र का स्थान क्या है? उसकी भलाई किस में है, इसका ठीक-ठीक निर्णय करते हुए राष्ट्र के यच्चयावत् व्यक्ति को सारी कल्पना देकर और स्वयं

संन्यस्त वृत्ति से न डरते हुए कठोरता से अपने कर्तव्य का पालन करना जरूरी है। उसका पालन हम जितनी सफलता से करेंगे, उतनी अपने कार्य को इष्ट सफलता प्राप्त होगी।

आत्मविश्वास चाहिए

कई बार अपने ज्ञान, अध्ययन या समाज काम करने के कारण स्वभाव में एक प्रकार की उग्रता या दर्प आ जाता है कि मैं कुछ श्रेष्ठ हूँ। अन्य लोग बेकार हैं, निरुपयोगी हैं, हीन हैं। यहाँ तक कि अपने सहकारियों के साथ भी इसी प्रकार का व्यवहार और दुर्भाव रहता है। ऐसा व्यक्ति कुछ समय तक ही काम कर पाता है, क्योंकि उसके संपर्क में आने पर उसके अंतःकरण के अहंकार की भावना की बदबू के कारण कोई उसके साथ रहना पसंद नहीं करता। अनुभव आते ही सब दूर हट जाते हैं। स्वयंसेवक ने इस दृष्टि से सावधान रहने की नितांत आवश्यकता रहती है। क्योंकि–

'नवल अहंकाराचे गोठी, विशेष न लगे अज्ञानाचे पाठी।
ज्ञानीयाचे पड़ी कंठी, महासंकटी घालीतसे।

परंतु आजकल अंग्रेजी का एक शब्द प्रचलन में है– Respectable Distance, अर्थात् अपने सहकारियों से पर्याप्त दूरी बनाए रखना, अधिक परिचय न आने देना। परंतु अपने पूजनीय डाक्टर जी, जो गुणों में सब प्रकार से श्रेष्ठ थे, उनसे एक छोटे से बालक से लेकर बड़े से बड़ा व्यक्ति भी साथ बैठकर अपने मन की बात कर सकता था। वे सबके साथ हास्य-विनोद के साथ बातें करते थे। किसी को ऐसा नहीं लगता था कि मैं किसी श्रेष्ठ व्यक्ति से बातचीत कर उसकी अवमानना कर रहा हूँ। उनके जीवन में ऐसा माधुर्य भरा था कि लोग बरबस उनकी तरफ खिंचे चले आते थे। सबको लगता था कि वे उसके अपने हैं। उनके इस गुण के कारण ही अपना संगठन चला है, अन्यथा कैसे चल पाता?

एक बात ध्यान में रखने की है कि अहंकार और आत्मविश्वास बिल्कुल भिन्न-भिन्न बातें हैं। उसमें से आत्मविश्वास ग्रहणीय है और अहंकार त्याज्य। प्रतिदिन दिनभर का कार्यक्रम समाप्त करने के पश्चात् शांतचित्त बैठकर इस विषय में चिंतन करना चाहिए और त्रुटि दिखाई देने पर अपने पर दया न दिखाते हुए उसे कठोरता से दूर कर उसकी पुनरावृत्ति न हो, इसकी चिंता करनी चाहिए।

यथा व्यक्ति, तथा कार्य

व्यक्ति पतनोन्मुखी रहा तो उसके साथ कार्य भी उसी गति को प्राप्त होगा। क्योंकि कार्य को करनेवाला मनुष्य ही होता है– वह जैसा रहेगा, कार्य भी वैसा ही होगा।

इतिहास का उदाहरण हमारे सामने है। छत्रपति शिवाजी के बाद उनका पुत्र संभाजी राजा बना। व्यसनों से ग्रस्त होकर वह चरित्रभ्रष्ट हो गया। उसके व्यसन का लाभ उठाकर शत्रुओं ने उसे बंदी बना लिया। अंततोगत्वा बड़ी क्रूरता से उसका वध हुआ। संभाजी का तो बुरा हुआ ही, साथ ही संपूर्ण स्वराज्य पर भयंकर आपत्ति आई। बताते हैं कि वह शिवाजी से भी अधिक पराक्रमी व तेजस्वी था, किंतु दुर्गुणों के आगे सारा पराक्रम और तेजस्विता निरर्थक हो गई।

विशेषकर जब हम समाज कार्य करने निकलते हैं, तब एक वैशिष्ट्य लेकर जाते हैं। समाज की दृष्टि उस पर रहती है। उसमें जरा सी त्रुटि होने पर लोग अंगुली उठाते हैं। जैसे रंगीन कपड़ा मैला नहीं दिखता, उसे एक दिन पहनो या दस दिन, कोई अंतर नहीं पड़ता। परंतु शुभ्र वस्त्र पर पानी का दाग भी दिखता है। इसलिए सब प्रकार से सावधान व शुद्ध रहने की आवश्यकता रहती है।

कई बार अपने चारों ओर के लोग शुद्ध चारित्र्य के दिखाई देते हैं। वे शुद्ध इसलिए होते हैं, क्योंकि उन्हें बुरा होने का अवसर नहीं मिला अथवा बुरा करने की उनकी हिम्मत नहीं होती। इसलिए वे शुद्ध चरित्र के दिखते हैं। सब परिस्थितियों में दृढ़ता के साथ टिकनेवाले व्यक्ति चाहिए।

हम राष्ट्र के लिए

चारित्र्य का एक और पहलू है– वह, याने हम जिस राष्ट्र के पुनरुत्थान में जुटे हुए हैं, उस राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्य को निभाते समय अपना वैयक्तिक सुख, पारिवारिक सुख आदि किसी बात को मन में स्थान न देते हुए, यह सोच और निश्चय करके चलना कि राष्ट्र मेरा उपास्य है। यह मेरे लिए पूज्य है। इसकी पूजा करने के लिए मेरे पास मेरा शरीर है, मन है, बुद्धि है, भावनाएँ हैं और इनके कारण जो कुछ मिला है, वह है। वह सब कुछ दूँगा। अपने लिए कुछ बचाकर नहीं रखूँगा। विभिन्न प्रकार के जीवन-चरित्रों का अध्ययन करने के पश्चात् यह दिखाई देगा कि दुर्बल मन के लोगों को लोभ या स्तुति से खरीदा जा सकता है। किंतु जो

दृढ़-चरित्र होते हैं, जिन्होंने अपने जीवन में राष्ट्र को ही सर्वोपरि माना है, वे कभी पराजित नहीं होते। सन् १८५८ की घटना है। एक सुंदर वेश्या तात्या टोपे पर मोहित हो गई। उसने उन्हें अपने घर बुलाया और स्पष्ट रूप से अपना मंतव्य बताया। तात्या टोपे किसी मोह में नहीं आए। उन्होंने कहा, 'मुझ पर तुम्हारा सच्चा प्रेम है तो अपनी सारी संपत्ति राष्ट्र-कार्य के समर्पित करो और तलवार उठाकर मेरे साथ समरागंण में चलो। विषय भोग के लिए इस जन्म में अवकाश नहीं है।' उनके तेज से प्रभावित हो उस वेश्या ने अपनी सारी संपत्ति उन्हें सौंप दी। रानी लक्ष्मीबाई का नाम इतिहास में अमर हो गया, परंतु उस वेश्या का त्याग भी किसी प्रकार से कम नहीं है। चारित्र्य की इतनी अंतर्बाह्य शुद्धता चाहिए। पूजा करते समय लोग भगवान से माँगते हैं– धनं देहि, धान्यं देहि, पुत्रं देहि, पत्नीं देहि। मगर यह तो आधुनिक पूजा है। वास्तव में तो पूजा में ज्ञान और वैराग्य की याचना की जाती है। हम इसमें दो बातें और जोड़ दें– अविरत कर्म और कर्मठ जीवन।

ऐसे प्रसंग भी अनुभव में आते हैं कि कार्यकर्ता संगठन में कुछ महत्त्व चाहता है। कार्यकर्ता अच्छा रहता है, लेकिन कार्य करने में उसे अधिकार न मिला तो वह घर बैठ जाता है अथवा जब तक महत्त्व मिलता है, तब तक वह बड़ी लगन के साथ काम करता है। एक सामान्य स्वयंसेवक के रूप में काम करने की उसकी मानसिकता नहीं रहती। इस प्रकार की कामना होना भी एक प्रकार का व्यापार ही है। पूजा में व्यापार के लिए कोई स्थान नहीं है। यहाँ तो केवल पूजा करने का अधिकार है, अन्य किसी बात का नहीं।

अब कोई कहे कि प्रत्येक व्यक्ति की अपनी घर-गृहस्थी है, प्रपंच है, वह कैसे चलेगा? उसके लिए भी हमारे यहाँ व्यवस्था बताई हुई है– तेन त्यक्तेन भुंजीथाः। जिस प्रकार भगवान का प्रसाद मानकर नैवेद्य ग्रहण किया जाता है, उसी प्रकार अधिक की कामना न करते हुए जो मिल गया, जितना मिल गया, उतने में समाधान मानना। अशाश्वत वस्तुओं का संग्रह क्यों करना? यही विचार करना कि जो है, वह राष्ट्र का है, मेरा नहीं। राष्ट्र के लिए सर्वस्व संर्पण चरित्र का दूसरा अंग है।

राष्ट्रभक्ति के प्रकाश में समर्पण जैसे-जैसे बढ़ता जाएगा, वैसे-वैसे लोग अपने आप उसकी ओर आकर्षित होते जाते हैं। सूर्य के प्रकाश में खिले कमल को भौंरों को निमंत्रण देने की आवश्यकता नहीं पड़ती। सर्वत्र

फैली उसकी सुगंध से भौंरा अपने-आप खिंचा चला आता है।

कार्य के लिए सन्नद्ध करें

संघ का काम सुचारु रूप से करने के लिए अपने को सुसज्ज होना ही पड़ेगा। अपनी शाखा में कई और कितने प्रकार के लोग आते हैं। उनमें से किसे चुनें? बाल व तरुण अपने विचारों का परिवर्तन तुरंत कर सकते हैं। प्रौढ़ भी अपनी शाखा पर आते हैं, विशेषकर प्रभात शाखा में। शरीर में पर्याप्त शक्ति न होने के कारण सब प्रकार के कार्यक्रम वे कर नहीं सकते। यह ध्यान में रखकर क्षमतावाले योग्य व्यक्ति को चुनकर, हालाँकि इसमें समय कुछ अधिक लगेगा, उसको योग्य प्रकार से संस्कारित करके तैयार करना होगा।

शाखा में आनेवाले जो स्वयंसेवक हैं, उन्होंने आते समय एक व्यवस्था में आना चाहिए। भीड़ बनाकर आने से काम नहीं चलेगा। जगन्नाथ मंदिर में लाखों लोग आते हैं। उनका लक्ष्य एक ही होता है—भगवान के दर्शन करना, किंतु वह भीड़ होती है। भीड़ होने से कई बार कोई गिर पड़ता है। लोग उसे कुचलते हुए निकल जाते हैं। कई बार भगदड़ मचने से लोग मर भी जाते हैं। अनेक प्रकार की घटनाएँ होती रहती हैं। वहाँ अव्यवस्था रहती है। अव्यवस्था में कोई किसी की सुनता नहीं। शाखा में सारे कार्यक्रम व्यवस्था व अनुशासन में होने चाहिए। कार्यक्रम करने के पीछे कार्यकर्ता तैयार करने का विचार रहना चाहिए। कई बार अनुभव में आता है कि शिक्षक एक घंटे का समय बिताने के लिए कोई भी कार्यक्रम लेकर समय नष्ट करता है। इससे अपना काम नहीं चलेगा। कार्यक्रम लेने के पीछे योजना होनी चाहिए।

राष्ट्र का उत्कर्ष करना है तो प्रत्येक को बड़ा होना पड़ेगा। चार लोगों के बड़े होने से राष्ट्र का उत्कर्ष नहीं हो सकता। अपने यहाँ कहा गया है 'बड़ा हुआ तो क्या हुआ, जैसे पेड़ खजूर। पंथी को छाया नहीं, फल लागे अति दूर।' अकेले बड़े होने से यह स्थिति बनती है। किसी को फायदा नहीं होता। अपने साथी कार्यकर्ताओं समवेत बड़ा होना चाहिए। आम्रवृक्ष की प्रत्येक शाखा-प्रशाखा हरी-भरी और फल से सज्जित होती है।

प्रयत्न से सफलता मिलेगी

अधःपतन की निकृष्टतम अवस्था से भी मनुष्य उन्नति कर सकता है। इतिहास में इसके अनेक उदाहरण मिलेंगे। ऋषि वाल्मीकि डाकू थे,

लेकिन उस जीवन का त्यागकर आदर्श के परमोच्च जीवन का दर्शन उन्होंने अपने लेखन से करवाया। स्वामी रामतीर्थ अत्यंत निर्धन परिवार से थे। खाने-पीने की अच्छी व्यवस्था न होने के कारण शरीर से बहुत कमजोर थे। उनकी आगे पढ़ने की बहुत इच्छा थी, परंतु आर्थिक अवस्था अच्छी न होने के कारण पिताजी ने अपनी असमर्थता बताई। पिताजी की इच्छा के विरुद्ध पढ़ाई जारी रखने के कारण उन्होंने नाराज हो रामतीर्थ को घर से निकाल दिया। इतना ही नहीं तो घर से बाहर करते समय उनकी पत्नी को भी साथ कर दिया। रामतीर्थ ने ट्यूशन करके बड़े कष्ट के साथ अपनी पढ़ाई और पत्नी का पालन-पोषण किया। अति कठोर परिश्रम के कारण पहले से कमजोर उनका शरीर अधिक कृश हो गया। इसलिए उन्होंने पहले अपने शरीर को सुदृढ़ करने का निश्चय किया। और उसमें सफल होकर ही रहे। उन्होंने शरीर को इतना मजबूत बना लिया था कि एक बार में ४० मील दौड़ सकते थे।

प्रयत्न से केवल शरीर ही नहीं, अपने स्वभाव में भी परिवर्तन किया जा सकता है। इस संबध में अपने पूजनीय डाक्टर जी के जीवन का अभ्यास करना चाहिए।

कार्यकर्ता की वाणी, भावनाएँ और कृति एक होनी चाहिए। जो समाज का कार्य करने निकला है, उसके जीवन में तो किसी प्रकार की खोट चल ही नहीं सकती। यह कहना बिल्कुल बेमानी है कि हम व्यक्तिगत जीवन में क्या करते हैं– इससे समाज को क्या करना, हमारा बाहर का व्यवहार तो आदर्श है। यह ठीक है कि दिखने में व्यवहार शुद्ध हो, किंतु तब कहे गए शब्दों के पीछे जो सामर्थ्य होना चाहिए, वह नहीं आ सकता। व्यक्तिगत जीवन में चरित्र के कच्चे लोग कभी भी, किसी भी प्रलोभन में आ सकते हैं, जो केवल अपना ही नहीं, राष्ट्र का जीवन भी खतरे में डाल लेते हैं।

साहस रखें

कभी-कभी कार्यकर्ता के मन में निराशा आती है। काम में सफलता मिलने पर अथवा काम का कुछ परिणाम होता न देख हृदय में क्षीणता का अनुभव करने लगता है। कभी-कभी लोग जो बातें कहते हैं, उनसे व्यथित हो, वह कार्य से निवृत्त हो जाता है। एक बार एक कार्यकर्ता ने डाक्टर जी से पूछा कि 'कभी यह कार्यकर्ता काम छोड़कर बैठ जाता है,

कभी वह बैठ गया है, यह देखकर आपको निराशा नहीं होती?' उन्होंने उत्तर दिया, 'चिंता तो मैं अवश्य करता हूँ, परंतु हम राष्ट्र का पुनर्निर्माण अवश्य कर सकेंगे– इसका विश्वास होने के कारण निराश नहीं होता।' चिंता करनी चाहिए, किंतु इस संग्राम में द्रोणाचार्य के समान शस्त्र डालकर बैठ जाने की कोई आवश्यकता नहीं। अच्छे-अच्छे कार्यकर्ताओं के किसी न किसी कारण से रुक जाने पर भी यह कार्य नहीं रुका। यह प्रवाह तो ईश्वर की कृपा से चलता है। हम प्रार्थना में भी यही कहते हैं कि यह ईश्वर का कार्य है। डाक्टर जी कहते थे कि यह ईश्वरीय कार्य है, किसी व्यक्ति का नहीं। हम सब निमित्त मात्र हैं। इस प्रकार से विचार करना चाहिए।

ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होने पर अपने इतिहास का स्मरण करना प्रेरणास्पद रहता है। हमारे राष्ट्र पर ऐसा संकट पहली बार आया है– ऐसी बात तो है नहीं। हमारे वीर पुरुषों ने अनेक बार संकटों का सामना किया है। जब लगता था कि मामला अब समाप्त ही हो गया है, बचने की कोई संभावना बाकी नहीं है। उस संकट से भी उबरे और दुनिया के सामने उन्नत सिर करके खड़े हुए। केवल परिस्थिति की अनुकूलता से कुछ नहीं होता। श्रेष्ठ पुरुष परिस्थिति की प्रतिकूलता को बदल डालता है।

छत्रपति शिवाजी महाराज ने अपनों के विरोध और चारों ओर से प्रबल शत्रुओं से घिरे होने तथा एक के बाद एक आए संकट को पार कर हिंदवी स्वराज्य की स्थापना की। अपने संघनिर्माता डाक्टर जी का चरित्र देखें। उन दिनों 'हिंदू' शब्द से ही सबको घृणा थी। हिंदू महासभा जैसा संगठन भी हिंदू राष्ट्र की बात कहने की हिम्मत नहीं करता था। कांग्रेस हमारी माँ है और हम उसकी एक शाखा हैं– ऐसा उनका कथन था। ऐसे समय में डाक्टर जी ने हिम्मत के साथ कहा– 'हम हिंदू हैं और यह हिंदूराष्ट्र' है।

एक व्यक्ति के अनवरत प्रयत्न से हिंदूराष्ट्र का प्रत्यक्ष स्वरूप भले ही छोटा हो, पर आज दिखाई देता है। बहुत सारे लोग हमारी विचारधारा को मानने लगे हैं। कुछ अकेले में मिलने पर मानने लगे हैं, समय आने पर बाहर भी बोलने लगेंगे। यह चमत्कार प्रतिकूल परिस्थिति और बिना किसी साधनसंपन्नता के हुआ है। प्रतिकूल परिस्थिति तो सौभाग्य की बात है। वह अपने पराक्रम को आह्वान देती है। काम करनेवाले पर आपत्तियाँ तो आती ही हैं। उन आपत्तियों को ठोकर मारते हुए राष्ट्रजीवन में विचार-क्रांति और परिवर्तन करना हमारा काम है।

प्रलोभन से सावधान रहें

आज विचित्र बात यह है कि जिनपर राष्ट्रीय भावना के पोषण का दायित्व है, वे ही प्रलोभन देकर अपने विरोधियों को खरीदने का प्रयत्न करते हैं। मुझे भी लोग मिलने आते हैं। स्वयंसेवकों की तारीफ कर कहते हैं कि उन्हें सेना में भर्ती होना चाहिए। उन्हें अच्छे पद देने की पेशकश भी करते हैं। स्वयंसेवक कुछ प्राप्त करने के लिए यह सब करता है क्या? ऐसे लोगों से मैं कहता हूँ– 'यदि संघ के स्वयंसेवक इतने अच्छे हैं और उनकी तुम्हें बहुत आवश्यकता लगती है तो संघ और उसके स्वयंसेवकों के बारे में तुमने आज तक जो कुछ विपरीत बातें कही हैं, वह सब झूठ हैं– यह स्वीकार कर सार्वजनिक माफी माँगो। फिर आपकी बातों पर विचार करेंगे।' लेकिन वे इसके लिए तैयार नहीं होते। तब ऐसे लोग प्रामाणिक हैं और सच कह रहे हैं, इसपर विश्वास कैसे किया जाए? यह कौशल्यपूर्ण प्रलोभन का एक प्रकार है।

एक दिन गृहमंत्री से भेट हुई, तब उन्होंने कहा, 'आपके समाचार-पत्र बहुत अच्छे चल रहे हैं। उनके नाम शासकीय विज्ञापनों के लिए स्वीकार किए गए हैं।' मैंने कहा, 'यह तो बहुत प्रसन्नता की बात है।' इसपर उन्होंने कहा, 'लेकिन वे हम पर तीखी टिप्पणी करते हैं।' मैं समाचार-पत्र का संपादक या प्रबंधक नहीं हूँ, इसलिए निर्विकार भाव से चुप रहा। मेरे मौन से उन्हें नाराज हुआ देखकर मैंने कहा 'विज्ञापन के द्वारा समाचार-पत्र खरीदने का यह प्रयास है– ऐसा मानूँ क्या?' तब वे कुछ बोले नहीं, परंतु उनके कहने का तात्पर्य यही था।

संघ शिक्षा वर्ग, १९५९

(१)

अपने यहाँ जो-जो महापुरुष हुए उन्होंने 'आसेतु हिमाचल' संपूर्ण मातृभूमि की मूर्ति सामने रखकर उसकी पूजा की। हमारा प्राचीन वाङ्मय 'आसेतु हिमाचल' इस माता की पूजा करता आया है। धार्मिक संप्रदायों में भी यह बात दिखाई देती है। उनके जागृत स्थान संपूर्ण विस्तार में प्रस्थापित करके अपने पूर्वजों ने मातृभूमि का यह पूर्ण स्वरूप हमारे सामने रखा और पवित्र दैवी रूप में रखकर उसकी आराधना की, पूजा की।

अपने हिंदूराष्ट्र पर तो भगवान की बड़ी कृपा है। हमको उत्कृष्ट, पवित्र, अतुलनीय भूमि माता के रूप में मिली है। वह हमारी पालनकर्त्री, रक्षणकर्त्री है। उसे हम भारत तथा हिंदुस्थान कहते हैं।

आज का युग विज्ञान का है। भूमि को 'माता' मानना व्यर्थ है– ऐसा बड़े-बड़े विद्वान कहते हैं। इस बारे में हमें विचार करना चाहिए। यह जीवसृष्टि, प्राणीसृष्टि अनेक स्तरों पर विभाजित दिखाई देती है। कम विकसित जीवसृष्टि में अपत्य का पोषण-भार माता-पिता पर होता है, पर वे उसे पहचानते नहीं। बच्चे पैदा होने के बाद कहाँ जाते हैं, पता नहीं। माता अपने बच्चों को बच्चे के रूप में और बच्चे अपनी माता को माता के रूप में देखते नहीं। जहाँ माँ अपने बच्चों को दूध पिलाती है, माता उपकारक है, तब तक उसे माता के रूप में पहचानते हैं। उसकी उपकारिता समाप्त होते ही उसे भूल जाते हैं। अथवा जब तक पक्षी आकाश में उड़ने की ताकत नहीं पाता, अपनी माँ को याद रखता है। मनुष्य जीवसृष्टि में श्रेष्ठ है। माता दूध देने में असमर्थ हुई तो भी वह उसे माँ कहता है, उसकी सेवा करता है। जीवन के अंत तक उसके प्रति माता का भाव छोड़ता नहीं। बिल्कुल निरुपयोगी हो जाए, वृद्ध हो जाने के कारण काम न कर सके, कोई उपकार न कर सके, तब भी हृदय में उसके प्रति नितांत श्रद्धा रखता है। यह विकसित जीवन का लक्षण है। जीवन देकर जो मनुष्य को बढ़ाता है, उसे मनुष्य 'माता' कहता है। इसलिए नदी 'माता' है। भूमि को 'भू-माता' कहा। प्राचीन काल से ऋषियों ने कहा– 'माता भूमिः पुत्रोऽहम् पृथिव्याः (अथर्ववेद १२/१२)।' यह सात्विकता के विकास का लक्षण है। जो भूमि को मिट्टी-पत्थर कहते हैं, उनको तो बहुत महान ही मानना चाहिए। जैसे कि परब्रह्म को पा गए लोग मिलते हैं। जिनके लिए न कोई माँ है, न बाप है–

न मृत्युर्न शङ्का न मे जातिभेदः।
पिता नैव मे नैव माता न जन्म।।

(निर्वाणषटकम् : ५)

ये पंक्तियाँ जगद्गुरु आद्य शंकराचार्य की हैं। लेकिन उन्होंने माता की और भारत माता की सेवा की थी। उसको छोड़ा नहीं। परंतु हमारे नेता केवल शाब्दिक ज्ञान के आधार पर बात करते हैं, उसका कोई प्रत्यक्ष अनुभव उन्हें नहीं है। इस भ्रम में ही वे कहते हैं कि यह तो मिट्टी-पत्थर है, इसको क्या मातृभूमि कहना? उनका आध्यात्मिक विकास नहीं हुआ है–

ऐसा हम समझें। उनके हृदय में कृतज्ञता नहीं है। ऐसे अपवाद छोड़ दें तो कहना पड़ेगा कि यह भूमि अपनी माता है।

इसी भूमि के आधार पर अपना राष्ट्रजीवन, अपना विकास वैशिष्ट्य प्रकट होता है। वह अपनी भारत माता है। यह हिंदुओं की माता है। तत्त्वज्ञान या स्वार्थ का झगड़ा अलग रखकर विचार करेंगे तो हमें दिखाई देगा कि उसकी श्रद्धा, परंपरा, सुख-दुःख, शत्रु-मित्र एक है। उसमें भिन्नत्व नहीं है। इस प्रकार एकरूप हमारा हिंदू-समाज है। इस विविधता से शक्ति प्रकट करनेवाले समाज के हम पुत्र हैं। हमारा जीवन-लक्ष्य एक ही दिखाई देगा।

कहते हैं, गिरनार के जंगल में एक शेरनी शिकार करने गई। उसे देखकर भय के मारे एक लोमड़ी का देहांत हो गया। वह गर्भिणी थी। तभी उसके पेट से एक बच्चा निकला। शेरनी उस बच्चे को उठा लाई और अपने दोनों बच्चों की तरह ही उसको भी दूध पिलाया। बच्चे बड़े हुए। शेर के बच्चे लोमड़ी के बच्चे को बड़ा भाई कहते थे। एक दिन वे तीनों शिकार करने जंगल में गए। उन्हें एक हाथी दिखाई दिया। हाथी देखते ही शेर के बच्चों को आनंद हुआ और वे उसपर आक्रमण करने के लिए सिद्ध हुए, किंतु लोमड़ी का बच्चा उनका विरोध करने लगा। उसकी बात न मानकर उन दोनों ने हाथी पर आक्रमण कर दिया। यह देख लोमड़ी का बच्चा डर के मारे भागकर सीधा शेरनी के पास गया और सारी बात उसे बताई। शेरनी ने कहा 'वे दो बच्चे जो करते हैं, वह ठीक है और तुमने जो किया वह भी ठीक है। कारण, जिस कुल में तुम्हारा जन्म हुआ है, उसमें हाथी का शिकार नहीं होता'

'शूरोऽसि कृतविद्योऽसि दर्शनीयोऽसि पुत्रक।
यस्मिन् कुले समुत्पन्नः गजस्तत्र न हन्यते।।'

(पंचतंत्र, लब्धप्रणाश-३३)

यह सुभाषित सबको मालूम है। एक माता से पालन-पोषण होने से पुत्रत्व प्राप्त नहीं होता। जबरदस्ती से कोई घर में घुसा तो क्या वह मालिक हो जाएगा? घर के बारे में भले ही यह कानून हो कि कोई बाहरी व्यक्ति १२ वर्ष तक घर में रह ले तो वह मालिक बन जाता है। किंतु राष्ट्र के लिए किसी भी प्रकार की समय मर्यादा नहीं हो सकती। सूत्रबद्ध जीवन-परंपरा, एक लक्ष्य, एक वैशिष्ट्यपूर्ण जीवन होता है, तब राष्ट्र-जीवन बनता है और इस प्रकार के राष्ट्र-जीवन में एकरस होने वाले को ही 'पुत्र' कहा जा सकता है।

संघ शिक्षा वर्ग, १९५९

(२)

हमने इस स्वराष्ट्र को परम् वैभव प्राप्त कराने की आकांक्षा अपने सामने रखी है। वैसे परम् वैभव समझने में दुष्कर नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति अपने विचार, अनूभूति तथा परिस्थिति के अनुसार वैभव का स्वप्न अपने मन में रखता है। अपने चारों ओर भिन्न-भिन्न देश हैं। उनका जीवन देखने पर हमें दिखाई देगा कि उन्होंने एक जीवन-लक्ष्य अपने सामने रखा है– वह है अधिकाधिक भौतिक समृद्धि प्राप्त कर जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना। अपने यहाँ इतने की ही कल्पना कर मनीषी पुरुषों को संतोष नहीं हुआ। उन्होंने विचार कर अनुभव किया कि मनुष्य केवल आहार, भय, निद्रा, मैथुन में रत रहनेवाला प्राणी नहीं है। उसके पास बुद्धि भी है जिसके द्वारा वह गंभीर विचार, सृष्टि की उत्पत्ति की खोज और उससे अपने संबंध का अनुभव करता है। वह अपने अंतर के सब दुःखों का अंत करके चिरंतन और स्थायी अवर्णनीय सुख प्राप्त करना चाहता है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए प्रत्येक को अवसर मिलना चाहिए। मनुष्य के जीवन का स्तर तभी ऊँचा उठेगा, जब वह चिरंतन तत्त्व के निकट जाएगा। भौतिक साधन की उपयोगिता को वे भूले नहीं, परंतु वह जीवन का सार सर्वस्व या अंतिम लक्ष्य नहीं था।

जीवन को सफलता के साथ पूर्ण करने की आकांक्षा हेतु चार सौपान बताए– १. धर्म, २. अर्थ, ३. काम और ४. मोक्ष। अर्थ और काम से जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने का प्रयत्न करते समय भौतिकवादी उन समाजों को 'धर्म' और जहाँ सब 'अर्थ' विलीन होते हैं, उस 'मोक्ष' का पता नहीं चला। इसका उदाहरण हमें रावण के राज्य से मिलता है। अर्थ और काम से परिपूर्ण उसका राज्य था। ऐहिक जीवन की सारी समृद्धि उसके यहाँ थी। उसकी नगरी सोने की थी। किसी के दरिद्र होने का प्रश्न ही नहीं था, किंतु धर्म नाम के पुरुषार्थ से वहाँ का समाज परिचित नहीं था। स्वयं सुखी होते हुए भी संसार को नष्ट करनेवाली प्रवृत्ति थी। इसलिए उसके राज्य को राक्षसी राज्य कहा गया।

अपने अंतःकरण की ठीक रचना कर, सद्गुणों की उपासना त्याग व संयम द्वारा करके कामनाओं को जीतकर चिरंतन सुख प्राप्त करनेवाले

पुरुषार्थ का उसके राज्य में अभाव था। उस कारण से ही उसके राज्य का विनाश हुआ। वासनाओं की पूर्ति करने से वासनाएँ बढ़ती ही हैं। जैसे अग्नि में घी डालने से अग्नि शांत नहीं होती, वह अधिक तेजी से प्रज्ज्वलित होती है। लेकिन बीच के अवनति के काल में 'यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः'— ऐसा माननेवाले अथवा धन के लिए राजा के सामने दंडवत करनेवाले लोग हुए। आजकल का प्रचार भी इसके अनुकूल ही है। कारखाने बढ़ाओ, यंत्र बढ़ाओ, धन-संपत्ति बढ़ाओ। वासनापूर्ति के ही सब प्रयत्न चले हैं। परंतु मन को संस्कारित करना और अंतिम सत्य 'जिसे ईश्वर की प्राप्ति' कहते हैं, को प्राप्त करने के लिए समाज को प्रोत्साहित करने की बात दिखाई नहीं देती। अर्थप्रधान राक्षसी पद्धति की समाजरचना चलाने की चेष्टा यहाँ हो रही है, मेरे ऐसा कहने में जरा भी अतिशयोक्ति नहीं है।

परम वैभव की हमारी संकल्पना

लेकिन हम जिस वैभव की बात करते हैं, उसका चित्र कुछ भिन्न है। ऐहिक समृद्धि रहे, कोई असंतुष्ट न रहे, इसका ध्यान अपने समाज-पुरुषों ने रखा था। अध्ययन के लिए बाहर से जो विदेशी यात्री आए, उन्होंने यहाँ के वैभव का वर्णन करते हुए लिखा है— 'सबके पास इतना था कि किसी को चोरी करने की आवश्यकता नहीं थी, कोई अनीति नहीं थी।' शरीर-धारणा के लिए आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति पूर्ण प्रमाण में होना आवश्यक है। उससे योग्य वायुमंडल बन सकता है, इसमें संदेह नहीं। अर्थ और काम का नियंत्रण धर्म द्वारा और उसका परिपाक मोक्ष प्राप्ति में होना चाहिए। इन सद्गुणों के बीच अपना समाज ऐहिक जीवन बिता सके, यही अपनी समाज-रचना है।

जितने व्यक्ति, उतनी प्रवृत्ति

जितने व्यक्ति, उतनी प्रवृत्तियाँ रहती है। यह सामान्य सिद्धांत है। प्रत्येक व्यक्ति के गुणों का उपयोग समाज के हित के लिए कर क्रमशः उसका तथा समाज का विकास करने का उद्देश्य सामने रखकर वर्णव्यवस्था का प्रयोग यहाँ किया गया। जैसा उद्देश्य हो, उसी प्रकार के साधन होने चाहिए। विभिन्न साधनों का प्रयोग करना बुद्धिमानी व चतुराई का लक्षण है। चिरंतन सत्य का साक्षात्कार करना है तो व्यक्ति का विकास करते समय उसके गुणावगुणों की परीक्षा करके उसको भिन्न स्तरों पर रखा गया। यह

बड़ा ही शास्त्रीय विचार था। लक्ष्य की दृष्टि से भिन्न-भिन्न स्तर, भिन्न-भिन्न संस्कार, भिन्न वाङ्मय, उपदेश, सद्गुणों का आह्वान, मार्गदर्शन की व्यवस्था होनी ही चाहिए। यह सब बातें एक ही लक्ष्य की ओर ले जाने के लिए निर्माण हुई। ऐसी रचना से युक्त वैभवसंपन्न राष्ट्र हमने सामने रखा है।

दासता के काल में श्रेष्ठ पुरुषों की मालिका यहाँ हुई थी, अब भी हो सकती है, परंतु ऐसे पुरुष उपदेश या भाषण से नहीं, प्रयत्न करने से निर्माण होते हैं। ऐसे गुणों की मालिका के बल, निर्भयता, सत्य आदि का वर्णन ग्रंथों में मिलता है। यह प्रयत्न अपने से प्रारंभ करें। अपने व्यावहारिक जीवन का हम विचार कर अपना आदर्श खड़ा करें— ऐसी सद्गुण संपदा हमें चाहिए। इनका प्रयत्नपूर्वक आचरण हमें करना चाहिए। दुर्गुणों की ओर आदमी स्वभावतः ही चला जाता है, किंतु सद्गुणों की प्राप्ति के लिए मन को संयमित करना पड़ता है। हमारे जीवन को देखकर आसपास के लोग कहें कि भावी हिंदूराष्ट्र का यह आधारस्तंभ है। ऐसा दृढ़ विश्वास अन्यों के अंतःकरण में निर्माण होना चाहिए। हमारा इतिहास भी यह बताता है कि बौद्ध मत का प्रसार इसी कारण हुआ था। लोगों को यह अनुभव हुआ कि इसके कारण मनुष्य में सद्गुणों का विकास होता है। इस आकर्षण के कारण ही उन्होंने बौद्ध मत का मंडन करनेवाले विद्वानों को आदर से देखा। अपने देश से गौतम बुद्ध का एक शिष्य तिब्बत, चीन, जापान आदि देशों में गया। उसे भगवान मानकर उसकी मूर्ति स्थापित कर पूजा की गई। वह बौद्ध मत का बहुत बड़ा पंडित था, बोलने में चतुर था इसलिए उसकी पूजा नहीं हुई। अत्यंत त्यागमय, अत्यंत चारित्र्यसंपन्न जीवन जीनेवाला, सब पर प्रेम करनेवाले के रूप में उपस्थित होने के कारण उसके प्रति इतना आदर लोगों के हृदय में प्रकट हुआ। यह अपना वैशिष्ट्य रहा है। आज हमारे यहाँ से बाहर कोई गया तो कोई कहेगा क्या कि यह हिंदूराष्ट्र की प्रतिष्ठा के अनुरूप जीवन चलाने वाला है।

ऐसा नहीं होता, तब तक बाकी समृद्धि कितनी भी क्यों न हो, पर ऐसा समझना कि राष्ट्रजीवन वैभव के शिखर पर पहुँच गया है, ठीक न होगा। इस दृष्टि से अपने संघ में ऐसा कहा जाता है कि हमें स्वयं अच्छे संस्कारों को अपने अंदर ग्रहण कर उसका पूरे समाज में वितरण करना है। प्रत्येक व्यक्ति सद्गुणी हो, उसमें किसी प्रकार का अवगुण न हो, प्रत्येक व्यक्ति परस्पर विश्वास से चले इत्यादि अपेक्षा स्वयंसेवकों से की जाती है।

कोई भी काम हो, कोई भी दायित्व की वस्तु सुपुर्द करनी हो, यदि स्वयंसेवक है तो लोग निश्चिंत हो कहते हैं कि वह सुरक्षित रहेगी। विभाजन के समय पंजाब में भिन्न-भिन्न प्रकार से हिंदुओं पर आक्रमण हो रहे थे। बहुत बड़ी अव्यवस्था हो गई थी, तब सेना और प्रशासकीय अधिकारी से लेकर सामान्य जनता तक स्वयंसेवकों पर हर प्रकार का विश्वास करती थी। आज भी वे विश्वास करते हैं, परंतु परिस्थिति बदल जाने और स्वार्थवृत्ति की वृद्धि हो जाने के कारण मन में स्वयंसेवकों के प्रति सद्भावना होने पर भी उसे प्रकट करने में डरते हैं।

योगक्षेम

वैभवसंपन्नता को प्राप्त करना तो सरल है, किंतु जो प्राप्त किया है, उसका ठीक प्रकार से संरक्षण करना उतना ही जरूरी होता है। अपने यहाँ कहा गया है– 'अप्राप्तस्य प्राप्तव्यं, प्राप्तस्य रक्षणं, इति योगक्षेमः।' अतीत में अपने पास अतुल धनसंपदा थी, परंतु उसकी रक्षा करने का गुण हमारे पास नहीं था, इसलिए वह चली गई। उसके बाद से आज तक दीन-हीन होकर भीख माँगते दुनिया में घूम रहे हैं। तथाकथित वैभव प्राप्त करने की भी अनेक योजनाएँ बनी हैं और अब भी बन रही हैं। अनुमान से कई गुना अधिक पैसा खर्च होने पर भी न तो योजनाएँ पूरी हो सकी हैं और जो हुई भी हैं, उनसे अपेक्षित संपन्नता नहीं मिल पाई। जब तक चरित्रहीनता, बेईमानी और कुटिलता रहेगी, तब तक वैभव कैसे प्राप्त होगा? यदि किसी प्रकार वैभव प्राप्त हो भी गया, पर उसके सरंक्षण की शक्ति न रही तो अर्थ-कामप्रधान शक्तियाँ हमारे वैभव को लूटने में संकोच नहीं करेंगी।

विजय की भावना से नित्य ओतप्रोत समाज की सुसंगठित शक्ति राष्ट्र को आंतरिक व बाह्य आक्रमणों से सुरक्षित रखती है। इसलिए सब प्रकार से सुसंगठित शक्ति निर्माण करने का एकमात्र काम संघनिर्माता ने अपने सामने रखा। बल के बिना काम नहीं होता और बल संगठन से ही आता है। अपने यहाँ कहा भी गया है 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' अर्थात् आत्मा का साक्षात्कार बलहीन को नहीं होता। यहाँ 'बल' का अर्थ केवल 'शारीरिक बल' से नहीं है। शारीरिक बल को काबू में रखने के लिए चारित्र्यसंपन्न, सद्गुण-संपन्न, जीवन होना चाहिए। उत्तम 'शील' हमारी नैसर्गिक श्रेष्ठ स्वाभाविक प्रवृत्ति होनी चाहिए। प्रह्लाद जैसा शीलसत्व पुरुष अपने शील के बल पर इंद्र-पद को प्राप्त हुआ। इंद्र ने लाख प्रयत्न किए,

पर वह अपना खोया पद फिर से प्राप्त न कर सका। उसके गुरु बृहस्पति ने उसे बताया कि युद्ध करके उसको हराना कठिन है। वह बड़ा दानदाता है। दान में उससे अन्य कुछ न माँगते हुए, उसका शील माँगो। बाकी काम अपने आप हो जाएगा। प्रह्लाद द्वारा अपना शील दान देते ही एक तेजोमय शक्ति उसके शरीर से निकलकर याचक इंद्र के शरीर में समा गई। शील के जाते ही चार तेजोमय पुरुष उसके शरीर को छोड़कर जाने लगे। प्रह्लाद ने उनसे कहा, 'मैंने अपना शील दिया है, आपको नहीं दिया। आप लोग क्यों जा रहे हैं?' उन्होंने कहा, 'हमारा संबंध शील से है। शील हमारा राजा है। हम उसके अनुगामी हैं। जहाँ शील, वहाँ हम।' उनके जाते ही एक तेजोमय स्त्री उसके शरीर से निकली। पूछने पर उसने बताया कि वह श्री (संपत्ति) है, अब वह भी इंद्र के पास जा रही है। इस प्रकार शील के जाते ही सब उसे छोड़कर चले गए।

शक्ति हो, शील हो, पर कर्मण्यता न हो तो व्यक्ति कुछ नहीं कर सकेगा। करणीय क्या? अकरणीय क्या? नित्य क्या? अनित्य क्या? इसका विवेक होने के साथ निर्भय कर्मबुद्धि होनी चाहिए, तभी कुछ उपयोग है। व्यक्ति यदि डरपोक रहा तो सारे गुण बेकार हो जाते हैं। अपने यहाँ कहा भी गया है– 'अभयं सत्वसंशुद्धिः।' डाक्टर साहब कहते थे संघ न किसी से डरता है और ना ही किसी को डराता है– 'न भय देत काहू को, न भय मानत आप' ऐसे वीरव्रत से ओतप्रोत अपना जीवन चाहिए। वीरव्रत के साथ ध्येयनिष्ठा अनिवार्य है। वही मार्गदर्शक होती है। अपने लक्ष्य के प्रति प्रेम, नितांत श्रद्धा अंतःकरण में रहेगी तभी लक्ष्य की प्राप्ति हो सकेगी।

संघ शिक्षा वर्ग, १९५९

(३)

ध्येयप्राप्ति के लिए साधन चाहिए

जब साध्य आँखों के सामने उपस्थित होता है, तब उसे प्राप्त करने के लिए मार्ग और उस मार्ग पर चलने के लिए विशेष प्रयत्न करने होते हैं। केवल सुखपूर्ण चित्र रंगाने में अपनी शक्ति खर्च करने से उस सुख की प्राप्ति नहीं होती। सर्वप्रथम अपने अलग-अलग व्यक्तित्व के स्थान पर एक सामूहिक राष्ट्रीय व्यक्तित्व निर्माण होना आवश्यक है। सब एक ही विराट शरीर के अंग-प्रत्यंग तथा अवयव एक आत्मा के चैतन्य से परिपूर्ण हैं। हम

सबका मूलभूत जीवन एक ही है, ऐसी अनुभूति सबको होनी चाहिए। इस जीवनधारा का विस्मरण होने के कारण ऊपर के मतभेद खड़े होकर छिन्न-विच्छिन्नता दिखाई देकर एकता खंडित हुई लगती है। संगठित शक्ति की प्रस्थापना के लिए मूलभूत एकात्मता की अनुभूति हो, ऐसे कार्य की आज आवश्यकता है।

दूसरी आवश्यकता ऐसी शक्ति को केंद्रीभूत करने की है। मातृभूमि के प्रति भक्ति, शरीर तथा मन का बल, संस्कारित जीवन, यह मेरा राष्ट्र, ऐसी आत्मीयता की भावना– ये सब संस्कार जिस पद्धति से हो सकें, ऐसी पद्धति को स्वीकार करने से ही अपने लक्ष्य की प्राप्ति होगी।

पद्धतियाँ अनेक हैं। उनके प्रयोग भी अपने देश में हुए हैं। पद्धति को स्वीकार करने के पहले अपनी आवश्यकता और क्या करना है– यह तय करने से सुविधा होगी। इतिहास का अध्ययन करने से हमें मालूम पड़ता है कि अपनी अवनति राजनैतिक दास्य के कारण नहीं, समाज के संस्कार नष्ट-भ्रष्ट होने के कारण हुई। मातृभूमि के प्रति भक्ति का लोप, समाज की एकात्मता का नाश, स्वार्थ लोलुपता, द्वेष, दुर्भावना, अहंकार आदि के कारण अराष्ट्रीयता का उदय हुआ।

संघ का आविष्कार

बहुश्रुत पद्धतियों का त्याग करके संघनिर्माता ने स्वतंत्र पद्धति का निर्माण कर उसे शाखा रूप में अपने सामने रखा। रोज साथ आने से हमारे में एक ही संस्कार हैं, हमारा एक ही धर्म है, हमारे पूर्व पुरुष एक ही हैं– इसकी अनुभूति होती है और ऊपर के भेद धीरे-धीरे नष्ट हो जाते हैं। देशभर में भ्रमण करते समय अनेक पंथ, जाति, भाषा, संप्रदाय के लोगों के घर रहने और मिलने तथा उठने-बैठने का अवसर आता है। तब मुझे ऐसा लगता है, जैसे मैं अपने घर में ही बैठा हूँ। अपने लोगों से ही मिल रहा हूँ, कोई भेद नजर नहीं आता। ऐसी अनुभूति शाखा पर जाने से ही उत्पन्न होती है। नए-नए लोगों से परिचय होता है। परस्पर परिचय, संबंध हो तो स्वभाव की पहचान होती है। अधिक निकट आने से अंतरंग की जानकारी मिलती है, उसकी परख करने का अवसर मिलता है, अन्यथा अकारण पूर्वाग्रह बन जाते हैं। कोई-कोई आदमी दूर से झक्की स्वभाव का लगता है। परिचय होने पर मालूम होता है कि वह वैसा न होकर बहुत ही प्रेममय स्वभाव का है।

परस्पर परिचय का यह अवसर साधने के लिए ही पू. डाक्टर जी ने एक अभिनव प्रकार ढूँढ निकाला। एकत्रित आकर गंभीरता से विद्वच्चर्चा करना सबके लिए संभव नहीं होता, क्योंकि सभी विद्वान हों, यह जरूरी भी नहीं। लेकिन सबके शरीर की अनुकूलता लगभग समान रहती है। इसलिए उन्होंने कहा– खुले मैदान में आओ, उत्साह से खेलो और अनुभव करो कि हम एक हैं।

नियमितता

अपने काम में नियमितता महत्त्व का स्थान रखती है। इसलिए हर काम समय से होना चाहिए इसका हम आग्रह करते हैं। श्री रामकृष्ण परमहंस एक उदाहरण बताया करते थे– एक धनवान का सुंदर बगीचा था। वह अपने सारे काम निपटाकर दोपहर को निसर्ग की प्रसन्नता का अनुभव करने के लिए उस बगीचे में जाता था। एक दिन बगीचे में एक सुंदर मोर आया। उसे देखकर उस धनवान को बड़ी प्रसन्नता हुई। उसके मन में इच्छा उत्पन्न हुई कि इसे रोज आना चाहिए। उसने अफीम मिलाकर गोलियाँ बनाईं और मोर के सामने खाने के लिए रखी। अफीमयुक्त दाना खाकर मोर को मस्ती का अनुभव हुआ। अब वह रोज आने लगा। बाद में उस धनवान ने दाने में अफीम डालनी बंद कर दी। फिर भी वह मोर रोज आता रहा, क्योंकि एक निश्चित समय पर उसे बगीचे में आने की आदत लग गई थी। धनवान का कार्य सफल हुआ। हमारी अवस्था भी उस मोर जैसी होनी चाहिए। निश्चित समय पर पैर संघस्थान की ओर जाने चाहिए।

सक्रियता चाहिए

शाखा में निश्चित समय पर और नियमित रूप से उपस्थित तो हो गए, पर वहाँ जाकर करेंगे क्या? शाखा जाकर यह ध्यान रखें कि अपने को बुढ़ापा नहीं आया है। अर्जुन जब युवा था, तब उसकी आयु ७५ वर्ष की थी। शरीर के उत्साह का उपयोग करें। व्यायाम करें, खेलें, मन की ग्रंथि तोड़ें। दूसरे के साथ सामंजस्य हो सके इस प्रकार का वातावरण निर्माण करने का प्रयास करें। किंतु आजकल व्यायाम के प्रति अरुचि होती जा रही है। महाराष्ट्र की बात है। बताते हैं कि स्वतंत्रता के आंदोलन में एक युवक जेल में था। वह रोज सुबह उठकर सूर्यनमस्कार लगाता था। यह देखकर एक बड़े कांग्रेसी नेता ने उसे सूर्यनमस्कार लगाने से मना किया। उसके

पूछने पर उन्होंने बताया कि यह भी एक प्रकार की हिंसा है। तुम शक्ति की उपासना करते हो उससे दूसरे के मन में भय उत्पन्न होता है। किसी के मन में भय उत्पन्न करना हिंसा है। शारीरिक बल से दूसरे को भय लगता है, इसलिए शारीरिक बल नहीं होना चाहिए, इस प्रकार की विकृत भावना भी है।

रामकृष्ण परमहंस के शरीर त्यागने के पश्चात् सब गुरुभाई किराये का एक मकान लेकर उसमें उपासना करने लगे। श्रीरामकृष्ण के समान ही भाव-समाधि की स्थिति की नकल करने के लिए कई गुरुबंधु आँसू बहाते बैठे रहते। आँसू बहाना तो कठिन काम है नहीं, जरा प्रयत्न करने पर आँसू आ सकते हैं। स्वामी विवेकानंद जी को उनका रोना पसंद नहीं था। उन्होंने पूछा, 'तुम लोग रोते क्यों हो?' उन लोगों ने कहा, 'यह भाव-समाधि के आनंदाश्रु हैं।' इस पर स्वामी जी ने कहा 'यह ढोंगबाजी बंद करो। श्रीरामकृष्ण के समान न तो हममें तपस्या है, न त्याग है, न ही भाव हैं। मैं यह सब नहीं चलने दूँगा। तपस्या करो, शरीर को शक्तिसंपन्न करो। बलवान बनो। मुझे रोनेवाले संन्यासी नहीं चाहिए।' स्वामी रामदास ने भी ऐसा ही कहा है– 'अपनी टक्कर लगने से चट्टान टूट जाए, ऐसा कठोर शरीर चाहिए।' अपने स्वयंसेवकों को भी इसी तरह चपल, उत्साहपूर्ण, बलवान, तेजस्वी, उत्कृष्ट शरीर बनाना है, जो किसी भी प्रकार के परिश्रम को करने से पीछे न हटे।

साधन-साध्य संबंध

शाखा पर ऐसे कार्यक्रम करें, जिससे अपने पूर्व पुरुषों की याद आए। वह कार्यक्रम युद्धक्षेत्र में उपयोगी हैं या नहीं, इनका विचार करने की आवश्यकता नहीं है। क्रिकेट, बैडमिंटन से यह होने का नहीं। कभी-कभी कार्य की नवीनता के आकर्षण के कारण बहुत उत्साह रहता है, परंतु नवीनता नित्य रहती नहीं, इसलिए समय के साथ कार्य का आकर्षण समाप्त होकर अरुचि होने लगती है। किंतु नवीनता के आकर्षण को यदि कार्य के ज्ञान और भक्ति के द्वारा दृढ़ किया, तब श्रद्धापूर्ण अंतःकरण के कारण प्रत्येक व्यक्ति निरंतर कार्यरत रह सकता है। इसलिए कार्य का ज्ञान अपने को होना चाहिए। निरुद्देश्य कार्य निरुपयोगी होता है; कभी-कभी हानिकारक भी हो सकता है। योग्य उद्देश्य होने पर कार्य उपयोगी हो आगे चलता है।

भगवान निर्गुण निराकार है, परंतु सामान्य आदमी उसे समझता नहीं। इसीलिए सगुणोपासना का जन्म हुआ। अपने राष्ट्र का प्रतीक भगवाध्वज है, जिसे देखकर जाति, पंथ, संप्रदाय, ऊँच-नीच के क्षुद्र भाव नष्ट हो जाते हैं। ऐसे भगवे ध्वज की छाया में हम अपने कार्यक्रम कर मंत्ररूप प्रार्थना का उच्चारण प्रतिदिन करते हैं।

राजनीति में पूर्णत्व नहीं

लोग पूछते हैं कि 'दक्ष-आरम् कितने दिन करोगे? दुनिया हवाई जहाज से चलती है, अब बैलगाड़ी क्या करेगी? पिछड़ा हुआ आदमी दकियानूसी बातों को पकड़कर बैठता है। जैसा काम, वैसी चाल। इस प्रकार की कसरत करने से अच्छा है, राजनीति करो। एक बार सत्ता हाथ में आ गई तो सब बातें जल्दी-जल्दी हो जाएँगी।' लेकिन वे यह भूल जाते हैं कि राजसत्ता प्राप्त होने पर उसके मद में आदमी भ्रष्ट हो जाता है। मद उत्पन्न होने पर विवेक नष्ट हो जाता है। आदमी कितना भी बुद्धिमान हो, शराब पीने के बाद उसकी बुद्धि ठिकाने नहीं रहती। राजसत्ता से पूर्णतया स्वतंत्र ऐसा धर्मदंड, जो राज्य सत्ता पर पूरी तरह नियंत्रण रखे, हमें निर्माण करना है।

विदेशों में ५ वर्ष पश्चात् चुनाव द्वारा राजसत्ता पर नियंत्रण लाने की व्यवस्था की गई है, पर यह कहाँ तक ठीक है? विदेशों का अनुभव है कि सत्ता के मद में चुनाव के कानूनों को कुचलने और चुनाव जीतने के लिए किसी भी मार्ग का अवलंब लेने में राजनीतिक दलों को कोई संकोच नहीं होता। अमरीका में तो राष्ट्रपति को तानाशाह के अधिकार दिलवाने का प्रस्ताव पारित करवा लिया गया था, जो ८-१० वर्ष तक प्रभावी रहा।

इंग्लैंड जनतंत्र की दृष्टि से आदर्श माना जाता है। वहाँ भी चुनाव जीतने के लिए भाँति-भाँति के हथकंडे अपनाए जाते हैं। एक चुनाव में कंजर्वेटिव पार्टी के एक मंत्री के विरुद्ध जर्मनी को शस्त्रास्त्र की सहायता करने का एक झूठा तार भिजवाकर समाचार-पत्रों में छपवा दिया गया। परिणामस्वरूप कंजर्वेटिव पार्टी चुनाव हार गई। हम देखते हैं कि चुनाव द्वारा राजसत्ता पर नियंत्रण करने का अंकुश काम का नहीं है। तब अपना देश तो ऐसे मामलों में असामान्य ही है। यहाँ क्या-क्या होगा, कहा नहीं जा सकता।

पाश्चिमात्य जगत् में उत्पात, क्रांति के द्वारा सत्ता को बदलने का

प्रयास होता है, किंतु उसके द्वारा जो अव्यवस्था निर्माण होती है, उसे दूर करना असंभव होता है। फिर क्रांति करनेवाला स्वयं तानाशाह नहीं बनेगा, इसकी कोई शाश्वति नहीं। इतिहास तो यह बताता है कि जिन-जिन देशों में ऐसी क्रांतियाँ हुईं, वहाँ नए सत्ताधारियों ने पुनः सारे समाज पर अपनी तानाशाही स्थापित करने के लिए अनेक अत्याचार किए। देश की स्वतंत्रता के लिए क्रांति का मार्ग अपनानेवाले कई क्रांतिकारी रूसभक्त बन गए थे। यहाँ तक कहते दिखाई देते हैं— 'चूँकि अमरीका ने पाकिस्तान को सहायता दी है, अतः भारत को रूस से मदद लेनी चाहिए।' परंतु इससे कौन सा खतरा उत्पन्न होगा, वे इसका विचार नहीं करते। जयचंद ने पृथ्वीराज को समाप्त करने के लिए मुहम्मद गौरी को बुलाया। उसने पृथ्वीराज को समाप्त किया, पर जयचंद को भी नहीं छोड़ा। इसी वृत्ति के कारण संपूर्ण देश परकीयों की झोली में चला गया। शांत व गंभीर रूप से राष्ट्रजीवन का विचार न करने के कारण इस प्रकार की बातें की जाती हैं। अतः राजसत्ता पर नियंत्रण रखने की यह पद्धति भी ठीक नहीं।

राजनीति पर प्रभावी नियंत्रण आवश्यक

हमारे यहाँ प्राचीन समय में धर्मदंड द्वारा राजसत्ता पर नियंत्रण रखने का सफल प्रयोग हो चुका है। साधु-संत स्वयं राजसत्ता से अलिप्त रहते थे। वे गाँव-गाँव पैदल भटककर समाज से प्रत्यक्ष संपर्क स्थापित कर उनके सुख-दुःख की खबर रखते थे। उन्हें आवश्यक मार्गदर्शन करते, उनकी समस्याएँ सुलझाने का प्रयास करते थे। उन्हें किसी चीज का मोह नहीं होता था। यहाँ तक कि एक स्थान पर रहने के आकर्षण में भी नहीं पड़ते थे। उनके लिए सारा समाज, सारा देश अपना होता था। ऐसे साधु-संत समस्त समाज के आदर के स्थान थे। उनका राजसत्ता पर अप्रत्यक्ष नियंत्रण रहता था। आज राजसत्ता पर किसी प्रकार का नियंत्रण नहीं है। वर्तमान परिस्थिति के अनुरूप उसे दूसरे रूप में उत्पन्न करना पड़ेगा।

राजसत्ता चलाने की पद्धति अलग होती है और राष्ट्र की संगठित शक्ति निर्माण करने की पद्धति अलग होती है। एक बार एक बौद्ध भिक्षु से एक अंग्रेज की भेंट हुई। उसने पूछा, 'आप हिंदू लोग २४ घंटे धोती पहनते हो, क्या वह युद्ध में काम देगी?' उस बौद्ध भिक्षु ने उत्तर दिया, 'क्या २४ घंटे दूसरों से लड़ने के लिए ही कपड़े पहनने चाहिए? हमें अन्य जीवन भी है। कुत्ते के समान सदैव भौंकते नहीं रहना है।' 'वसुधैव

कुटुंबकम्' और 'सर्वे भद्राणि पश्यन्तु' हमारे जीवन का लक्ष्य है।

हमने भी एक प्रकार अपनाया है– शाखा के माध्यम से घर-घर जाकर अत्यंत स्नेहपूर्ण व्यवहार उत्पन्न करके, सबके सुख-दुःख में सहभागी हो, सद्यः परिस्थिति की पूरी जानकारी रख आपस में चर्चा कर, सबके मन में विशुद्ध राष्ट्रभक्ति निर्माण करना और ऐसे राष्ट्रभक्त लोगों को अनुशासनबद्ध सुसंगठित ढाँचे के रूप में खड़े करना। यह कार्य केवल ऊपरी तौर पर करने से नहीं होगा। यह तो हमारे जीवन का एक अविभाज्य अंग बन जाना चाहिए।

संस्कार के अभाव में हमारा पतन हुआ। उसे फिर से हमें निर्माण करना है। समाज में प्रचंड सामर्थ्य जगाकर उसके अविचल आधार पर 'परं वैभव' का यह मंदिर हमें खड़ा करना है। यह ठीक है कि समाज में अनेक प्रकार के लोग होते हैं। अतः समाज के संपूर्ण लोग अपने काम में नहीं आ सकेंगे। हमें तो उस समाज में ऐसा सूत्रबद्ध व अनुशासित संगठन खड़ा करना है, जो समाज के केंद्र के रूप में काम करे। जिसकी तेजोमयता से सारा समाज उद्भासित हो। अपना mass movement नहीं, class movement है। हम एक ऐसा वर्ग खड़ा करना चाहते हैं, जो समाज में घुल-मिलकर रहने पर भी किसी स्वार्थ के वशीभूत होकर दबेगा नहीं; सुसंगठित होने के कारण कोई बाहरी दबाव भी उसे दबा नहीं सकेगा। इसके विपरीत वही समाज का नियंत्रण करेगा।

नींव भरने के महत्त्वपूर्ण कार्य की यही एकमात्र पद्धति है। राष्ट्र की देदीप्यमान मूर्ति का प्रागट्य धीरे-धीरे ही होता है। धीमी गति के कारण अन्य किसी मार्ग का अवलंबन करने की जरूरत नहीं है। ज्ञान से नहीं, श्रद्धा से सफलता प्राप्त होती है। अनपढ़ रामकृष्ण परमहंस ने श्रद्धा के बल पर स्वयं तो ईश्वर का साक्षात्कार किया ही, अनेक विद्वानों को आत्मज्ञान का अनुभव कराया। उनके एक शिष्य अनपढ़ थे। उन्हें पढ़ाने-लिखाने का काफी प्रयास किया, पर वे जरा भी प्रगति न कर सके। किंतु वे बड़ी श्रद्धा से श्रीरामकृष्णदेव की सेवा किया करते थे। श्रीरामकृष्णदेव के देहावसान के पश्चात् विवेकानंद जी ने उन्हें संन्यास की दीक्षा दी और ये अनपढ़ महाराज विदेश से आए विवेकानंद के शिष्यों को उपनिषद् पढ़ाने लगे। भगिनी निवेदिता ने उनके बारे में लिखा है कि उस शिष्य की श्री रामकृष्णदेव पर जो अविचल श्रद्धा थी, उसी के बल पर वे यह सब कुछ कर सके। श्रद्धा के बिना विद्वत्ता, बुद्धिमत्ता का कोई महत्त्व नहीं होता।

संघ शिक्षा वर्ग, १९६०

(१)

हम लोग यहाँ एक माह रहकर कठोर परिश्रम कर कुछ सीखने आते हैं, न कि अपने घर-परिवार के दायित्व से छुट्टी लेकर आनंद से कालक्रमण करने अथवा उसे टालने के लिए। यहाँ व्यक्तिगत व पारिवारिक दायित्व के साथ-साथ बहुत अधिक श्रेष्ठ दायित्व को पूर्ण करने की पात्रता अपने अंदर उत्पन्न करने के लिए आते हैं। इसलिए यहाँ के प्रत्येक कार्यक्रम और प्रत्येक दिन का परिपूर्ण उपयोग करना चाहिए। यहाँ की शिक्षा पूर्णता से ग्रहण कर अपने आपको जितना सिद्ध कर सकेंगे, कार्य के लिए उतना ही उपयोगी होगा।

लघु न दीजै डार

कोई भी बड़ा कार्य अनेक छोटी-छोटी बातों की चिंता करने से होता है। इसलिए सब छोटी-छोटी बातों का अध्ययन हम लोगों को ध्यान देकर करना चाहिए। जितने भी महापुरुष हुए हैं, उन्होंने कभी किसी वस्तु या काम को छोटा मानकर उसकी उपेक्षा नहीं की। यदि कोई कहे कि 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' है, तब इन छोटी-छोटी बातों की ओर ध्यान देकर क्या करोगे? यह ठीक है तो भी छोटी-छोटी बातों की ओर ध्यान दिए बिना कोई उस तक पहुँच नहीं सकता। इसके लिए कोई उदाहरण बताना हो तो वह पूजनीय डाक्टर जी का ही है। वे प्रत्येक छोटी-छोटी बात की बहुत चिंता किया करते थे। एक बार प्रवास में उनके साथ जाने का अवसर आया। हम लोग रेल से प्रवास कर रहे थे। जब गंतव्य स्थान आने को हुआ, हम लोग अपना-अपना सामान समेटने लगे। एक स्वयंसेवक डाक्टर जी का सामान समेटने लगा। बिस्तरबंद (होल्डाल) बाँधते समय सारा सामान रखकर कंबल तह करके रखने लगा, तब डाक्टरजी ने कहा— 'कंबल की घड़ी किस प्रकार की है। ठीक नहीं है। उसे ठीक से तह करके रखो।' उस स्वयंसेवक ने कहा, 'मैंने ठीक से ही तो तह कर रखा है।' डाक्टरजी ने उसके हाथ से कंबल लेकर, बिस्तरबंद जिस आकार का था, उसी आकार में कंबल की घड़ी की, फिर उसे रखा। उन्होंने तर्क देते हुए बताया कि 'कंबल को छोटे आकार में घड़ी करने से बिस्तरबंद बीच में से ऊँचा हो जाएगा और दोनों बाजू से छोटा। तब वह न तो दिखने में ही अच्छा लगेगा और न ही उठाने में सुविधा होगी। इसलिए उसे ठीक उसी आकार में तह

करना चाहिए।' वास्तविक रीति से यह छोटी सी बात थी। परंतु मनुष्य में उपेक्षा करने का अवगुण एक बार आ गया, तो वह बड़ी-बड़ी बातों की भी उपेक्षा करने लगता है।

यहाँ शाखा पर होनेवाले कार्यक्रमों के बारे में बताया जाता होगा। आपको अपने कार्यक्षेत्र में उनकी आवश्यकता रहेगी। कुछ कार्यक्रम ऐसे भी होंगे, जिनकी आवश्यकता आज नहीं लगती होगी। हो सकता है कि वे आपकी शाखा के लिए उपयोग में आनेवाले न हों। परंतु आपके लिए आवश्यक हैं, इसलिए उनकी योजना की गई है। उनको भी परिश्रमपूर्वक आत्मसात करें, छोड़ने से नहीं चलेगा।

तत्त्व व्यवहार्य होता है

कुछ लोगों को कहते हुए सुनता हूँ कि यह तत्त्वतः तो ठीक है परंतु व्यावहारिक नहीं है। मेरा कहना ऐसा है कि यह बात एकदम निरर्थक है। ऐसा तत्त्व किस काम का, जो व्यवहार्य न हो। ऐसे तत्त्व का क्या करेंगे? अपने यहाँ के श्रेष्ठ पुरुषों ने तो कहा है कि मोक्ष नाम की जो चीज है, वह यदि मरने के बाद मिलती हो तो किस मतलब की? हमें तो यहाँ, इस भूमि पर और इसी जीवन में भगवान का साक्षात्कार होना चाहिए। तत्त्व और व्यवहार– दोनों का परस्पर प्रगाढ़ संबंध है। यह संबंध न हो तो तत्त्व का कोई महत्त्व नहीं। हमारे साधु-संतों ने बताए हुए तत्त्व के अनुसार अपना जीवन चलाकर दिखाया है। मुख्य बात यह होती है कि तत्त्व के अनुसार चलने की अपनी पात्रता नहीं होती अथवा वैसा आचरण करने का कष्ट करना नहीं चाहते। इसलिए ऐसी बातें करते हैं।

यथाशक्ति नहीं, तन-मन-धनपूर्वक

एक बार पूजनीय डाक्टर जी काशी के प्रवास पर आए थे। उस अवसर का लाभ उठाने के लिए वहाँ के प्रबुद्धजनों की बैठक का आयोजन किया गया था। डाक्टर जी ने संघ के बारे में पूरी बात उनके सामने रखी। बाद में कई प्रकार के प्रश्न-उपप्रश्न पूछे गए। डाक्टर जी ने उनके सब प्रश्नों का समाधान किया। जब कोई प्रश्न शेष न रहा, तब उनसे विधिपूर्वक स्वयंसेवक बन काम में सहयोगी बनने के लिए कहा। अपने यहाँ 'विधिवत' का अर्थ संघ की प्रतिज्ञा लेने से है। उन लोगों ने प्रतिज्ञा के शब्द कौन से हैं, इस बारे में जिज्ञासा प्रकट की। प्रतिज्ञा के शब्द 'तन-मन-धनपूर्वक' को सुनकर उनमें से एक ने कहा, 'इसमें तन-मन-धनपूर्वक के स्थान पर

'यथाशक्ति' शब्द का प्रयोग होना चाहिए।' डाक्टर जी ने उन्हें समझाते हुए बताया कि मनुष्य कोई भी काम यथाशक्ति ही करता है। शक्ति से अधिक वह कर भी कैसे सकेगा? परंतु 'यथाशक्ति' कहकर वह यह कहना चाहता है कि मैं शक्ति को बचाकर काम करूँगा। आगे चलकर 'यथाशक्ति' का अर्थ निकलता है– उसकी इच्छा। अर्थात् क्षमता होते हुए भी काया-वाचा-मनसा शक्ति लगाता नहीं। इस बात का समर्थन करने के लिए ही वह 'यथाशक्ति' शब्द का उच्चारण करता है। आवश्यकता तो इसकी होती है कि तत्त्व के लिए पूर्ण शक्ति लगाकर काम करें। उसमें किसी प्रकार की त्रुटि नहीं रहनी चाहिए। इस दृष्टि से सब प्रकार के कष्ट उठाकर काम करने की सिद्धता होनी चाहिए। वह सिद्धता प्राप्त करने के लिए ही इन वर्गों का आयोजन किया जाता है।

संघ शिक्षा वर्ग, १९६०

(२)

अपने देश के मनीषियों ने अपने अनुभवजन्य ज्ञान के आधार पर बताया कि केवल इंद्रियों की संतुष्टि के पीछे पड़ने से सुख और श्रेष्ठत्व प्राप्त नहीं होता। इंद्रियों को संतुष्ट करने का प्रयास तो सभी प्राणी करते हैं। उतना करने मात्र में मनुष्य की कुछ विशेषता नहीं। वह यदि अपनी वासनापूर्ति में ही रत रहा, तो उसमें और अन्य प्राणियों में अंतर क्या रह जाएगा। मनुष्य तो ऐसा सुख चाहता है जो नित्य हो। क्योंकि सुख के समाप्त होने के बाद जब उसकी समाप्ति का दुःख होता है, तब अधिक कष्ट होता है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि मेरे पास सुख नित्य रहे और वह कभी नष्ट न हो। कोई समझकर चाहता है और कोई बिना समझे, पर चाहता यही है। इन ऐहिक सुखों को प्राप्त करने के लिए साधन जुटाने पड़ते हैं और उन साधनों की रक्षा करने का कष्ट भी उठाना पड़ता है। फिर, उनके नष्ट होने पर दुःख का अनुभव होता ही है। तब ऐसे सुख को लेकर क्या करेंगे? इतना ही है कि ऐहिक जीवन में कुछ आकर्षण और थोड़ा बहुत संतोष प्राप्त होता है, परंतु वह स्थायी नहीं होता।

अपने अनुभवजन्य ज्ञान के आधार पर अपने ऋषियों ने बताया कि स्थायी दिव्य तेजोमय सुख का अनुभव मनुष्य मात्र कर सकता है। आवश्यकता ठीक प्रकार से प्रयत्न करने की होती है। इस सुख को किसी

ने 'भगवान' कहा, किसी ने 'ईश्वर' कहा, किसी ने 'ब्रह्म' कहकर उसे प्राप्त करने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की पद्धतियाँ बताईं, जिन्हें हम संप्रदाय के नाम से जानते हैं। इसलिए भिन्न-भिन्न प्रकार के संप्रदाय अपने यहाँ हैं। हमने अपनी राज्य-रचना, समाज-रचना, अर्थ-रचना आदि सब कुछ इसके अनुकूल और अनुसार ही बनाई। इसी कारण विश्व से एक भिन्न प्रकार का सांस्कृतिक जीवनप्रवाह यहाँ बहता है। इसलिए जब हम 'हिंदूराष्ट्र' कहते हैं, तब वही जीवनप्रवाह और हमारा इतिहास अपनी आँखों के सामने रहता है।

अनुकूल संगठित राष्ट्र

यह अपना राष्ट्र है– इसकी अनुभूति हो जाने के पश्चात् अपना कर्तव्य स्पष्ट हो जाता है। कर्तव्य यही दिखाई देगा कि इस विशृंखलित राष्ट्र को संगठित करने के अलावा अन्य कोई मार्ग नहीं है। अन्य लाख प्रयत्न करने पर भी राष्ट्र के उत्कर्ष की आशा नहीं। अकर्मण्यता का यह दोष दूर नहीं हुआ तो परकीयों का आक्रमण फिर से होने की संभावना को नकारा नहीं जा सकता। पराधीनता के काल में देश को स्वतंत्र करने का प्रयत्न कई बार हुआ। विजयी होने और सामर्थ्य होने पर भी स्वयं का राज्य-निर्माण करने की इच्छा का अभाव होने के कारण कुछ हो नहीं सका। हाँ, विजयनगर का हिंदू-साम्राज्य और छत्रपति शिवाजी द्वारा राष्ट्रोद्धार का कार्य बीच के कालखंड में हुआ। परंतु वह कार्य संपूर्ण देश में स्थापित हो– ऐसी भावना या इच्छा सब में नहीं थी, बल्कि ऐसा दिखाई देता है कि उनके सद्प्रयत्नों का प्रबल विरोध स्वकीयों ने ही किया। राष्ट्र के साथ अप्रामाणिक होने और राष्ट्रद्रोह का काम स्वकीयों ने ही किया। स्वकीयों का विरोध न होता तो शिवाजी महाराज को अति भव्य यश मिल सकता था, किंतु अपना दुर्दैव था कि ऐसा न हो सका। स्वकीयों का निराकरण करने में ही उन्हें अपनी काफी शक्ति व समय नष्ट करना पड़ा। इतना घोर विस्मरण अपने समाज को हुआ।

अंग्रेजों को अपने यहाँ से भगाया– ऐसा कहा जाता है, परंतु वास्तविकता यह है कि वह हमारे भगाने से नहीं गया। दूसरे महायुद्ध के पश्चात् उसकी जो हानि हुई थी। जिस प्रकार की जागतिक परिस्थिति निर्माण हुई और स्वयं का घर सँभालने की आवश्यकता के कारण उसने केवल भारत ही नहीं, विश्व के अनेक देशों पर से अपना नियंत्रण छोड़ा था।

स्वराज्य-निर्माण के लिए जो मनःस्थिति चाहिए उसका अभाव फिर भी यथावत था। उस समय अन्य किसी ने यहाँ प्रवेश करने का साहस किया नहीं, इसलिए अपने को स्वतंत्रता प्राप्त हुई, परंतु यहाँ जो परकीय शक्तियाँ विद्यमान थीं, उन्होंने परिस्थिति का फायदा उठाने में कोई कसर नहीं रखी और एक बड़ा भू-भाग अलग कर हमारी छाती पर 'पाकिस्तान' नाम का नया देश बना लिया। अपनी लाज बचाने के लिए हमारे नेता ऐसा कहते हैं कि हम भाइयों ने आपस में बैठकर बँटवारा किया है, किंतु ऐसा कहना साफ-साफ धोखा है। स्पष्ट रूप से यह हमारा एक और पराभव है। अभी भी हमें चेतना आई है- ऐसा लगता नहीं। अपनी गफलत का ही परिणाम है कि पड़ोसी चीन और पाकिस्तान ने हमारी कमजोरी का फायदा उठाते हुए, अपने एक अन्य भू-भाग पर कब्जा कर लिया है। उनके प्रयत्न अभी भी चल रहे हैं। यह सब सोमनाथ में हुए अपने पराभव की पुनरावृत्ति ही है। असंगठितता और आत्मविस्मरण का मूल दोष उसी तरह अभी भी विद्यमान है।

अनिवार्य संघकार्य

यह मेरा राष्ट्र है, इसे विश्व में सर्वश्रेष्ठ बनाना है, इसके बिना मेरा जीवन व्यर्थ है। व्यर्थ का शब्दजाल और दुर्बल वृत्ति का त्याग कर सर्वत्र बिखरी हुई शक्ति का जागरण करने की नितांत आवश्यकता है। राष्ट्र के अविभाज्य अंग के रूप में यही अपना सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य है। अपना कार्य इसी कर्तव्य की पूर्ति करने के लिए खड़ा किया गया है। परकीयों के भय से संगठित होने का विचार हीन प्रवृत्ति का द्योतक है। स्वराष्ट्र-प्रेम भावात्मक है और अनिवार्य आवश्यकता है- यह विचार ही उचित है और यही विचार सफलता देता है। मातृभूमि के प्रति भक्ति मातृभूमि का भाव होने पर ही हो सकती है, शत्रु के भय से नहीं। मातृभूमि के प्रति निस्सीम प्रेम, एकात्मता की भावना और इसे अनिवार्य कर्तव्य के रूप में करने का विचार अपने अंतःकरण में दृढ़मूल कर अहंकार, व्यक्तिगत स्वार्थ आदि को तिलांजलि देनी होगी। साथ ही इस संस्कार से संपूर्ण समाज को व्याप्त करना होगा। इसके लिए अपनी नित्य की शाखा ही सर्वोत्तम साधन है।

संघ शिक्षा वर्ग, १९६०

(३)

विश्व में आजकल कई विचार-प्रवाह हैं, जिन्हें 'वाद' के नाम से जाना जाता है, जैसे— समाजवाद, साम्यवाद आदि। लोग उसी मालिका में 'हिंदूराष्ट्र' संकल्पना को भी खींच ले जाते हैं। अच्छे पढ़े-लिखे लोग भी यह कहते मिलते हैं कि संघ 'हिंदूराष्ट्रवाद' की बात करता है, किंतु हिंदूराष्ट्र 'वाद' का विषय नहीं है। यह तो वादातीत सत्य है। हम हिंदूराष्ट्र की बात को केवल मानते ही नहीं, बल्कि उसके अनुसार अपना जीवन जीते हैं। हिंदूराष्ट्र यह वाद-विवाद के बाद तय होनेवाली बात नहीं है। यह तो असंदिग्ध और स्पष्ट रूप से चिरंतन काल से अस्तित्व में है, क्योंकि 'हिंदू' नाम से पहचाना जाने वाला समाज यहाँ सदा-सर्वदा से रहता आया है और सच्चे अर्थों में वही यहाँ का राष्ट्रीय है, इसलिए हिंदू और राष्ट्रीय— यह पर्यायवाची शब्द हैं। हिंदुस्थान के संबंध में इन दोनों का अर्थ एक ही है। हिंदू समाज को संगठित करने का अर्थ है— इस राष्ट्र को संगठित करना। इसलिए इसमें किसी को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए और न ही किसी प्रकार की शंका रहनी चाहिए।

संपर्क व संबंध

प्रत्येक समाज की अपनी विशिष्टता, विचार और जीवनशैली होती है, किंतु जगत् में कोई भी समाज अकेला रहता नहीं, अन्य समाजों के साथ उसका संपर्क व संबंध आता रहता है। वह उनसे प्रभावित होकर उत्कर्ष भी पा सकता है, वैसे ही उनके आक्रमण से नष्ट भी हो सकता है। इसलिए प्रत्येक समाज को स्वयं को सुरक्षित बनाए रखने का प्रयास करना पड़ता है। वैसे तो जगत् में एक मानव-समूह ने दूसरे मानव-समूह के साथ स्नेह से रहना चाहिए— ऐसा कितना भी कहा और हमारी कितनी भी इच्छा रही, तो भी लोग स्नेह से रहते नहीं। परस्पर अविश्वास मानो राजनीति का सूत्र है। इसी सूत्र के कारण एक दूसरे को किसी ने कितना भी आश्वासन दिया, तो भी वह विश्वास करने योग्य नहीं होता। यह तो नित्य के अनुभव में आने वाली बात है। अपने यहाँ का ही उदाहरण लें। ५-७ वर्ष पहले अपने देश के उत्तर की सीमा पर जो चीन देश है, उसके प्रधानमंत्री ने प्रेम और बंधुता बनाए रखने का आश्वासन दिया था। इस आश्वासन पर विश्वास कर हमारे नेताओं ने यह सोचा कि अब हमें कोई कष्ट नहीं होगा और

उत्कर्ष करने तथा सुख से रहने का अवसर मिलेगा, किंतु परिस्थितियों ने हमको बता दिया है कि ऐसी कल्पना करना सत्यनिष्ठ व वस्तुनिष्ठ नहीं है। उन्होंने सारे आश्वासनों, भाई-चारे की बातों को एक तरफ रखकर हमारी सीमाओं में प्रवेश कर काफी बड़े भूभाग को हड़प लिया।

बगुला भगतों से सावधान

इस मनोवृत्ति के कारण प्रत्येक दूसरे पर घात लगाए बैठा रहता है और मौका मिलते ही दूसरे को नष्ट करने का प्रयास करता है। दूसरे पर आघात करने के तो अनेक उपाय हैं। उनमें से एक भेदनीति का भी है। इस नीति का सभी भरपूर उपयोग करते हैं। इसमें लोगों को वश करने के लिए कभी धन, कभी स्तुति, कभी सम्मान, कभी उच्च पद तो कभी सत्ता, कभी कामुकता का प्रलोभन दिया जाता है। ऐसे में यदि व्यक्ति चारित्र्यसंपन्न नहीं रहा तो किसी न किसी प्रकार के प्रलोभन में वह फँस सकता है। प्रलोभन के वशीभूत हो समाज के हित का विचार न कर स्वयं के स्वार्थ का विचार कर परकीयों का साथ दे सकता है। इसलिए हम छोटे-छोटे कार्य में भी सोचें कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ, उससे राष्ट्र की भलाई हो रही है या नहीं। इसके लिए अपना जीवन अंतर्बाह्य शुद्ध रखना होगा।

अपने इस राष्ट्र पर अनेक लोगों ने आक्रमण किया, जैसे—मुसलमान, अंग्रेज आदि। उन्होंने हमारी मातृभूमि का विभाजन भी करवाया। अभी भी उनकी उद्दंडता चलती रहती है। चीन भी अपने हाथ पसारता रहता है। न जाने कौन-कौन यहाँ आने की चेष्टा करेंगे। स्थिति इस प्रकार की बन गई है, जैसे अपना राष्ट्र शव हो और कोई भी कुत्ता आए और मांस नोंचकर चलता बने। यह सब इसलिए चलता है, क्योंकि अपने में दौर्बल्य है। अपने अंदर समाज के सुख-दुःख की संवेदना समाप्तप्राय लगती है। समाज के अपमान का किसी पर परिणाम होता दिखाई नहीं देता। यह सत्य स्थिति है। फिर भी इस ओर किसी का ध्यान नहीं जाता।

शुतुरमुर्गी नीति आत्मघातक

सत्य की तरफ आँखें बंद करने से काम नहीं होगा। कहा जाता है कि रेगिस्तान में पाया जानेवाला शुतुरमुर्ग अपनी लंगी-लंबी टाँगों के कारण बहुत तेज दौड़ सकता है, परंतु जब शिकारी को अपनी तरफ आते देखता है, तब दौड़कर अपना प्राण बचाने के स्थान पर, रेत में अपना सिर घुसेड़ लेता है। तब उसे शिकारी दिखाई नहीं देता और वह यह सोचकर

संतोष कर लेता है कि मेरा शत्रु भाग गया है। इधर शिकारी आकर उसे आसानी से जीवित ही पकड़ लेते हैं। आँख मूँद लेने से संकट तो टलता नहीं।

अभी अपने प्रधानमंत्री अमरीका की यात्रा पर गए थे। बताया जाता है कि वहाँ उनका बहुत सत्कार हुआ। अनेक स्थानों पर उनके खूब भाषण हुए। इस प्रवास में वे नियाग्रा प्रपात देखने गए। उसका दृश्य बहुत भव्य है– ऐसा वर्णन आता है। अपने यहाँ के एक समाचार-पत्र के व्यंग्य चित्रकार ने उसका एक व्यंग्य चित्र निकाला। उधर प्रपात से पानी गिर रहा है और उसके सामने खड़े हमारे प्रधानमंत्री के मुँह से शब्द झर रहे हैं। नीचे लिखा था– 'The Naigara stood aghast' (नियाग्रा स्तब्ध रह गया) याने नियाग्रा से जितना पानी झरता है, उससे कई गुना अधिक शब्द उनके मुँह से झर रहे हैं, यह देखकर नियाग्रा आश्चर्यचकित रह गया। इतने शब्द होने के बाद भी अपने राष्ट्र की दुर्दशा देखो। सब तरफ शत्रु मुँह फाड़े खड़ा है। शत्रु को बातों से प्रसन्न नहीं किया जा सकता। इसलिए अपने को स्पष्ट रूप से कहना पड़ता है कि केवल अच्छे सिद्धांतों और सद्‌गुणों का वर्णन करने से राष्ट्र का उत्कर्ष नहीं होगा, समृद्धि भी नहीं मिलेगी। सम्मान भी नहीं मिलता, उल्टे जीवन संकट में पड़कर नष्ट होने की संभावना रहती है।

भक्ति व शक्ति

मानव जाति के इतिहास ने यह सिद्ध कर बताया है कि वही समाज अपने जीवन को उत्तम रीति से चला सकता है, जो अपनी स्वयं की शक्ति और सामर्थ्य के बल पर जीवन चला सकता है। इसलिए वह बल और सामर्थ्य प्राप्त करने की आवश्यकता है। वह केवल संगठन से ही प्राप्त हो सकता है। इसलिए हिंदू समाज को संगठित कर उसे व्यक्तिगत और राष्ट्र-सेवा की दृष्टि से चारित्र्यसंपन्न बनाना है। इसके लिए उसे संस्कारित करना होगा।

यह संस्कार केवल बताने अथवा एक दिन देने से नहीं होगा। जो संस्कार ग्रहण करना हो, उसका अतिनियमपूर्वक प्रतिदिन स्मरण और आचरण करने का निश्चय करना होता है। तभी उसका अंतःकरण पर परिणाम होता है और वह जीवन में उतरते हैं। जिस प्रकार शरीर को बलवान बनाने के लिए नियमित रूप से व्यायामादि की जरूरत होती है,

उसी प्रकार मन का भी है। क्योंकि बुद्धि पर संस्कार हुए बिना शरीर किसी कार्य को करने के लिए प्रवृत्त होता नहीं। दोनों को समान रूप से संस्कारित करना पड़ता है।

मातृभूमि की सुस्पष्ट भावना, धारणा, उत्कट भक्ति और उसका ज्ञान केवल शाब्दिक नहीं तो कृति से प्रकट होना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि यदि कोई कहता है कि मैं मंदिर में रखी हुई प्रतिमा की भक्ति करता हूँ, तो उसको चाहिए कि यदि कोई उस प्रतिमा का अनादर करने अथवा नष्ट-भ्रष्ट करने के उद्देश्य से आए, तो अपनी सर्वशक्ति लगाकर उस प्रतिमा का रक्षण करे। प्राण तक समर्पण करने के लिए सिद्ध रहे। तभी कह सकते हैं कि उसके मन में भक्ति है। अपने प्राण बचाने के लिए या शरीर बचाने के लिए यदि वह झूठे सिद्धांतों को सामने रखेगा कि 'एक मूर्ति के जाने से क्या होगा? भगवान तो सर्वव्यापी है, वह कभी मरता नहीं इत्यादि, आत्मवंचना की बातें करेगा तो कहना पड़ेगा कि उसकी श्रद्धा उस स्थान और उस मूर्ति पर नहीं है। परशुराम ने अपने पिता का अवमान करनेवालों का वध करके उनके रक्त से पिता का तर्पण कर, अपने पितृभक्ति के कर्तव्य से निष्कृति पाई थी। उसी प्रकार मातृभूमि को जो अपवित्र करेगा, उसके रुधिर से उसे धोने की दृढ़ संकल्पमय जागृति ही मातृभूमि के प्रति भक्ति का वास्तविक लक्षण है।

अंतर्बाह्य शुचिता

जो मनपूर्वक राष्ट्रसेवा करने के लिए हृदय को राष्ट्रभाव से ओतप्रोत करता है, सुसंगठित रूप से खड़ा होने के लिए मन की सिद्धता करता है, उसके जीवन में अनुशासन व्यक्त होता है, उसी का जीवन अंतर्बाह्य पुनीत होगा। अपने जीवन में इस प्रकार का परिवर्तन लाने के लिए दो प्रकार के प्रयत्न आवश्यक होते हैं। एक प्रयत्न तो अपने कार्य की प्रेरणा से होता है और दूसरा स्वतः का रहता है। स्वतः के प्रयत्न के बिना किसी का उपदेश सुनकर यदि कोई कहे कि मैं अपने जीवन में उचित परिवर्तन कर लूँगा अथवा कोई उपदेशक यह सोचे कि मेरे उपदेश मात्र से लोगों के जीवन में परिवर्तन होगा तो दोनों का सोचना गलत है।

जैसे सिक्के के दो पहलू रहते हैं। दोनों तरफ योग्य चिह्न मुद्रित हो और अच्छी स्थिति में हों, तभी वह सिक्का बाजार में चलता है। उसमें जरा भी त्रुटि रहने पर वह चलता नहीं। इसी प्रकार व्यक्ति के आचरण के

भी दो पहलू होते हैं– उसके अंतरंग के गुण और उसका राष्ट्र के साथ जो नाता है, उस संबंध में उसका व्यवहार। व्यक्ति ने दोनों दृष्टि से परिपूर्ण होना चाहिए। इस प्रकार प्रयत्नपूर्वक जो भी गुण प्राप्त हों, उनका और प्रयत्न करने पर भी जो दुर्गुण जाते न हों, उनका राष्ट्रहित के लिए उपयोग करना चाहिए। प्रत्येक दुर्गुण का भी राष्ट्र के लिए उपयोग हो सकता है।

अपने गुणावगुण राष्ट्र के लिए समर्पित होने चाहिए। जब इस प्रकार से अपने को पूरी तरह तैयार करेंगे और समाज के साथ अपना अवयव और अवयवी का संबंध है इसकी अनुभूति कर समाज को संगठित कर अपने समान बनाने की प्राणपण से चेष्टा करेंगे, तभी समाज-परिवर्तन कर सकेंगे। अन्यथा हम श्रेष्ठ हैं, हम शुद्ध-बुद्ध हो गए हैं, समाज को ठीक करना है– इस प्रकार की हीन भावना रखकर दूसरों को उपदेश देंगे तो सफलता नहीं मिलेगी।

नए भेद

अपने समाज में बाकी विभिन्नताएँ तो हैं ही, इसके साथ-साथ शहरी और ग्रामीण तथा शिक्षित व अशिक्षित का भेद भी निर्माण हो गया है। इनको एक करने के लिए जो भाषण दिए जाते हैं अथवा प्रयास किए जाते हैं, उनसे यह विलगता दूर होने के स्थान पर बढ़ी ही है। कई बार अपने स्वयंसेवक भी इस भावना से ग्रस्त दिखाई देते हैं। एक दिन मैंने दो स्वयंसेवकों को चर्चा करते हुए सुना। एक स्वयंसेवक दूसरे से कह रहा था कि दो-चार शहरों में शाखा विस्तार से क्या होगा? ग्रामों में अपने कार्य का विस्तार होना चाहिए।' यह सुन कर दूसरा स्वयंसेवक बोला, 'वहाँ ग्रामों में शाखा कैसे हो सकती है? वहाँ के लोग तो बेवकूफ होते हैं।' मैंने यह बात सुनकर उससे कहा, 'भाई, तुम तो संघ के स्वयंसेवक हो। संघ के कार्यकर्ता होते हुए भी अपने समाज के बारे में इस प्रकार के विचार रखते हो? आज भले ही तुम अपने को संघ का कार्यकर्ता कहते होगे, लेकिन कुछ समय उपरांत तुम्हारी कार्यशक्ति नष्ट हो जाएगी, दुर्भाग्य से हुआ भी वैसा ही। अपने समाज के प्रति घृणा का भाव रखना अपने मार्ग की बहुत बड़ी बाधा है।

संघ शिक्षा वर्ग, १९६१

(१)

यह ब़ात भी ध्यान में रखने की है कि केवल गुणसंपदा प्राप्त करने से ही योग्यता प्राप्त नहीं हो जाती। उससे अपने जीवन में अनेक कर्तव्यों की पूर्ति करनी होती है और उनको करने के साथ-साथ भगवत्-प्राप्ति करनी होती है, किंतु जीवन के कर्तव्यों को पूर्ण करने में ही उसकी शक्ति समाप्त हो जाती है अथवा ध्यान-धारणा करने के लिए उसे समय नहीं मिल पाता। इसलिए यह जरूरी है कि साधना करने के लिए उसे अवकाश और निश्चिंतता भी चाहिए। इन सारी बातों का विचार कर अपने पूर्वजों ने व्यक्ति को उसके जीवन में स्थैर्य देनेवाली सामाजिक सुरक्षायुक्त समाज-रचना की, जिसे हम 'वर्ण-व्यवस्था' के नाम से जानते हैं, जो मनुष्य की अत्यावश्यक बातों को समझकर मनुष्य-समाज की एक सुरक्षित एवं अलौकिक व्यवस्था है।

किसी व्यक्ति का जीवन जब तक वह जिंदा रहे तब तक निश्चिंतता से चलता है क्या? देखने में यह आता है कि ऐसा होता नहीं, क्योंकि नैसर्गिक और दैवी आघात और अपघातों के कारण उसका जीवन बाधित होता है। ठीक ऐसा ही समाज-जीवन के साथ भी होता है। अपने समाज-जीवन के साथ भी यही हुआ। समृद्धि के लालच में यहाँ आकर परकीयों ने हमारा सुखमय जीवन नष्ट-भ्रष्ट करने का प्रयास किया।

आघातों का परिणाम

अपने इतिहास का अध्ययन करेंगे तो हमें दिखाई देगा कि अपना भूतकाल सब प्रकार के ऐश्वर्य से युक्त था। उस कालखंड में हमने ज्ञान तथा विज्ञान के भिन्न-भिन्न पहलू संपूर्ण जगत् के सामने रखे हैं। इसी कारण हिंदुस्थान को 'जगद्‌गुरु' कहा जाता था और व्यावहारिक जगत् की संपन्नता को देखकर लोग कहते थे कि यह स्वर्ण भूमि है। यह सब प्रकार से श्रेष्ठ है, ऐसा अपना परिचय जगत् को था। कुछ इतिहासकार यह साबित करने का प्रयास कर रहे हैं कि अपना संबंध विदेशों अथवा विदेशियों से कभी नहीं रहा। बाहर के जगत् के साथ जो कुछ संबंध आया, वह सम्राट अशोक के समय बौद्ध धर्म के प्रचार के समय ही आया। उस कालखंड में अनेक बौद्ध भिक्षुओं को धर्म-प्रसार के लिए अन्य देशों में जाने

को प्रोत्साहित किया गया था। वही पहला अवसर था, जब अपना विदेशों से संबंध आया। परंतु यह बात ठीक नहीं है। इतिहास में कई प्रमाण हैं, जो इस बात की गवाही देते हैं कि अशोक से कई शताब्दियों पूर्व अपने धर्म के ज्ञाता कई देशों में गए। उनके वहाँ जाने की कई स्मृतियाँ मंदिर, देवताओं की प्रतिमाओं आदि के रूप में अमरीका, यूरोप व एशिया के देशों में दिखाई देती हैं।

इतिहास का एक कालखंड वह था और बाद का कालखंड ऐसा भी आया, जब दासता के अतीव दुखःमय जीवन अनुभव करना पड़ा। इस दासता के कालखंड में में भी हमें देखने को मिलेगा कि चेतना नष्ट नहीं हुई थी। सर्वसामान्य मनुष्य की श्रद्धा को बनाए रखने के लिए और उसमें आत्मविश्वास व स्वाभिमान को बनाए रखने के लिए भिन्न-भिन्न पंथों के माध्यम से प्रोत्साहित करते हुए अनेक श्रेष्ठ भगवद्भक्त सारे देश में विचरण करते थे। उन्होंने जो वायुमंडल बनाया उसके कारण कभी विजयनगर का साम्राज्य निर्माण हुआ तो कभी छत्रपति का। छत्रपति शिवाजी के अनुयायियों ने तो सिंधु नदी को पार कर काबुल तक विजय-पताका फहराई। ऐसे विभिन्न प्रकार के विपरीत दृश्य दिखाने वाले कालखंडों से भरा हमारा इतिहास रहा है।

यह देखकर किसी भी विचारी मनुष्य के मन में प्रश्न उठेगा कि एक समय पराक्रमसंपन्न साम्राज्य खड़ा करने वाला, धनसंपन्न, वैभवसंपन्न, ज्ञानसंपन्न अपना राष्ट्र पराभूत क्यों हुआ? विदेशी आक्रमणकारी यहाँ विजयी कैसे हुए? इसके कारण कौन से रहे? क्या आक्रमणकारी बहुत बड़ी संख्या में आए थे? क्या वे हमसे बहुत अधिक शक्तिशाली थे? क्या हमारे लोगों ने उनका प्रतिकार नहीं किया? क्या वे अधिक सुसंस्कृत और विद्वान थे? ईमानदारी से इतिहास का अध्ययन करनेवाले को पता चलेगा कि प्रत्येक प्रश्न का उत्तर 'नहीं' में है।

अरब समाज पहले से ही आक्रामक स्वभाव का था। मुहम्मद पैगंबर के जन्म से उनको एक नई प्रेरणा मिली। इस्लाम मत के प्रसार के लिए उन्होंने शस्त्र उठाए और उस बहाने से आजू-बाजू के प्रदेशों पर कब्जा करना शुरू कर दिया। उनका पहला उत्साह इतना दुर्दमनीय था कि शस्त्र के बल पर यहूदियों को परास्त किया। भूमध्यसागर और अफ्रीका को पूरी तरह से अपने काबू में किया। शक्तिशाली रोमन साम्राज्य को भी नष्ट करके बगदाद में खलीफा की गद्दी स्थापित की। फिर पश्चिम यूरोप की

तरफ अपना मोर्चा बढ़ाकर ग्रीस, रूस, स्पेन को जीता। तत्पश्चात् सुवर्णभूमि भारत की ओर अपनी कुदृष्टि डाली। बलुचिस्तान के मोर्चे पर क्या हुआ, उसका वर्णन ऊपर आ ही चुका है। सिंध मार्ग से दाहिर उनके आक्रमण लौटाता रहा। परंतु अंतर्कलह के कारण उसके सेनापति, यहाँ तक कि पुत्र भी विरोध में खड़े हो गए। इसी कारण मुगलों को सफलता प्राप्त हो सकी थी।

विकृति का कारण

कुछ समय के लिए पारतंत्र्य आया और कुछ लोग भले ही इधर-उधर भटक गए। शत्रु के साथ संधि करके चतुर लोग सहायता प्राप्त करते हैं, लेकिन अपने स्वत्व को छोड़कर नहीं। किंतु गत सौ वर्षों में अंग्रेजों ने हमारे लोगों के माध्यम से स्वत्व को भुलाने का जो प्रयत्न किया, उसमें उन्हें काफी सफलता मिली। हमारे ही लोग अंग्रेजों की भाषा बोलने लगे। वह दुष्कृत्य अबाध गति से आज भी जारी है। आज भी उन्हीं के द्वारा बताया हुआ इतिहास पढ़ाया जा रहा है। हमें पढ़ाया जाता है– दाहिर की पराजय, सिंध पर मुसलमानों की विजय, सोमनाथ की लूट आदि। उसके पूर्व का इतिहास पढ़ाते नहीं। क्या इसके पूर्व कोई आक्रमण हुआ ही नहीं? सत्य तो यह है कि दाहिर के २५० वर्ष पूर्व भी मुसलमानों ने आक्रमण किया था। यह प्रयत्न बलुचिस्तान की तरफ से हुआ था। लेकिन उनमें से एक भी मुसलमान जीवित अपने देश नहीं लौट पाया था, जो अपने देश वापस जाकर बताता कि युद्ध में क्या हुआ। इसके बाद के २०० वर्ष तक सिंध पर किसी प्रकार का आक्रमण नहीं हुआ। फिर समाज-विकृति के कारण आपस में झगड़े हुए। इस कारण परकीयों को विजय प्राप्त हुई। यह सब पढ़ाया नहीं जाता। केवल पराजय का इतिहास और परकीय शासकों के शासन की अच्छाई पढ़ाई जाती है।

मन में यह प्रश्न आ सकता है कि ऐसी स्थिति क्यों निर्माण होती है? अंतर्कलह क्यों पनपता है? महाभारत काल के बाद ३ हजार साल तक भारत के सामने कोई बड़ा संकट नहीं आया। विद्वान ऐसा कहते हैं कि सबके सामने समान संकट रहा तो राष्ट्रभाव जागृत रहता है। ऐसा कोई समान संकट न होने के कारण राष्ट्रभाव की दृढ़ता कम होती गई। जब राष्ट्रभाव नष्ट हो जाता है तब समस्त राष्ट्र का अभिमान नष्ट होकर प्रांतीयता की भावना उत्पन्न होने लगती है। क्षेत्रीय अभिमान बढ़ जाने के कारण स्वार्थ बढ़ जाता है और तब नित्य का संघर्ष शुरू हो जाता है। इस

प्रकार बाहर के किसी संकट की संभावना नहीं और देश के अंदर धन-धान्य की संपन्नता भरपूर रहती है, तब राष्ट्रभाव की विस्मृति के कारण अंतर्कलह जागृत होता है। स्वार्थवृत्ति बढ़ जाने पर स्वार्थसिद्ध करने के लिए परकीय की सहायता लेकर स्वकीय को परास्त करने की निकृष्ट अवस्था आती है। अपना दुर्भाग्य यह है कि स्वतंत्रता प्राप्त होने के बाद भी अपने यहाँ यह प्रवृत्ति दिखाई देती है। राष्ट्र का पुनरुत्थान करना हो तो इन कारणों को दूर कर राष्ट्रभाव को जागृत करना होगा।

स्वतंत्रता हमारी सहज वृत्ति

अपने यहाँ के लोग स्वभावतः परतंत्रता ग्रहण नहीं करते। लोग बड़े शांतचित्त हैं, किंतु उनको पारतंत्र्य अच्छा नहीं लगता। अपना तत्त्वज्ञान तो पारतंत्र्य के विरुद्ध ही है। 'न तु आर्यस्य दास्य भावाः' यह उद्घोष रहा है। ऐहिक जीवन के पाश हैं, उनसे भी मनुष्य को मुक्तता पाना है, ऐसा अपना तत्त्वज्ञान है। इसलिए अपने यहाँ धर्म और आचार में जो अपने ऐहिक जीवन के पाशों को छोड़ देता है, उसको 'सर्वतंत्र-स्वतंत्र' ऐसी उपाधि प्राप्त होती है। दास्य भाव स्वभाव में न होने के कारण जो पराई सत्ता यहाँ पर आईं, उन्हें हटाने का प्रयास होना स्वाभाविक ही था। सन् १८५७ की क्रांति तक क्रांतिकारी शस्त्र धारण कर परकीय सत्ता को हटाने का प्रयत्न करते रहे। अनेक प्रयास करने पर भी अंग्रेज साम्राज्य का विनाश नहीं हुआ। उनका साम्राज्य बहुत बड़ा था, उससे टकराने की क्षमता अपने में न देखकर कुछ देशभक्तों ने जापान, जर्मनी और प्रत्यक्ष इंग्लैंड में जाकर सहायता प्राप्त करने का प्रयास किया, किंतु अपेक्षित सहायता प्राप्त नहीं हो सकी।

जागतिक परिस्थितियों के कारण अंग्रेज उतना शक्तिशाली नहीं रह गया था। उसने परिस्थितियों के वशीभूत होकर कुछ सुधारवादी कार्य कर उग्र असंतोष को कम करने का विचार किया। इधर अंग्रेजों को हटाने के अपने प्रयत्न असफल होते देख सर्वसाधारण लोगों को जागृत कर उनकी ओर से स्वतंत्रता-संपादन करने का प्रयत्न करने का विचार हुआ। इस प्रकार लगभग एक ही समय दोनों ओर से समान विचार हुआ। अंग्रेजों ने अपना उद्देश्य साधने के लिए कांग्रेस की स्थापना की। अपने नेताओं ने अंग्रेजों और मुसलमानों के साथ सामंजस्य बैठाकर हित साधने की नीति अपनाई।

अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मार ली

सामंजस्य बैठाने के लिए दूसरे को जो पसंद न हो, उसे छोड़ना पड़ता है, परंतु क्या छोड़ना और कितना छोड़ना – इसकी एक सीमा होती है। मगर यह सामंजस्य बैठाना हमारे नेताओं पर इस तरह हावी हुआ कि वे बाकी सारी बातें भूल गए। यहाँ तक कि राष्ट्रहित को भी एक ओर रखने में उन्हें कोई संकोच नहीं हुआ। हालाँकि उन्होंने देश की स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए ही यह सब किया था। किंतु जिसकी और जिसके लिए स्वतंत्रता लेनी थी, उसे ही भुला दिया। वंदेमातरम् को छोड़ा, शत्रुओं को परास्त करनेवाले महापुरुषों का नाम लेना छोड़ा, धर्म की बात करना छोड़ा, भूतकाल का विस्मरण कर अस्मिता तक को भूले। अपने ही देश में हिंदू का नाम लेना और उसके हित की बात करना अपराध हो गया। यहाँ तक कि अपनी भूमि का विभाजन और जिसे माता कहकर पूजते हैं, उस गाय की हत्या होना भी स्वीकार किया। हिंदू महिलाओं की अवमानना होने पर किसी प्रकार का मानसिक कष्ट नहीं होता।

कोई प्रतिबद्धता न रहने का परिणाम यह हुआ कि जीवन में नैतिक मूल्यों का अभाव हुआ और चारों ओर स्वार्थ का बोलबाला बढ़ता गया। धन और सत्ता का महत्त्व बढ़ता गया। समाज को दिशा देनेवाली सारी संस्थाएँ प्रयत्नपूर्वक तोड़ दी गईं। दुःख की बात यह है कि इस बात का अहसास भी नहीं है कि हमारा बहुत अनिष्ट हो गया है। विशेषकर पढ़े-लिखे लोग तो इस विस्मरण को ही अपनी प्रगतिशीलता समझ रहे हैं। हिंदू कहते ही वह बिदकता है, जैसे हिंदू होना अपराध हो। अपने स्वयं के बारे में इतना विभ्रम, अपने समाज के प्रति इतनी हीन भावना विश्व में अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलेगी।

वास्तविक स्वतंत्रता

वास्तविक स्वतंत्रता तो इसमें है कि दासता के कारण बाधित अपना राष्ट्रजीवन पुनः प्रस्थापित हो सके। केवल अंग्रेज के चले जाने मात्र से हम स्वतंत्र हो गए– यह मानना उचित नहीं है। अपनी प्रकृति, प्रवृत्ति के गुण पहचान कर तदनुरूप आज के परिप्रेक्ष्य में सब प्रकार से विकास करना, यही स्वतंत्रता का सच्चा अर्थ होता। इसके लिए अपने राष्ट्र की प्रकृति क्या है? स्वरूप क्या है? इसको पहचान कर उसके जीवन-निर्देश को लेकर समाज में व्याप्त दासत्व और दैन्य को दूर करने का प्रयत्न होना चाहिए था।

दैन्य तो दिखता ही था। दासत्व के कारण उत्पन्न दीनता भी दिखाई देती थी। परिणामस्वरूप उत्पन्न कष्ट भी दिखाई देते थे। परंतु इनका सबका कारण क्या है? उसका विचार कर आगे का मार्गक्रमण करना चाहिए था, परंतु तत्कालीन नेतृत्व ने कारण ढूँढने का प्रयास नहीं किया। उनका एकमात्र जोर अंग्रेजों को भगाने पर था। उनके चले जाने मात्र से सारी समस्याओं का निराकरण हो जाएगा, ऐसी उनकी धारणा थी। और अंग्रेजों के जाने के बाद इस बात को प्रयत्नपूर्वक भूलकर कि प्राचीन काल से हमारा एक राष्ट्र और उसकी एक जीवन-परंपरा रही है, एक काल्पनिक आधार को लेकर वे नए राष्ट्र का निर्माण करने के लिए सिद्ध हुए। किंतु जब वास्तविक राष्ट्रजीवन की परंपरा नष्ट हो जाती है और नए राष्ट्र की धुन सवार हो जाती है, भ्रम से अथवा बलपूर्वक कुछ विपरीत बनाने का प्रयास होता है, तब समाज का ह्रास शुरू हो जाता है।

लेकिन हमारे समाज का सद्‌भाग्य है कि समय-समय पर कोई न कोई ऐसा विचार करनेवाले निर्माण होते रहे हैं, जिन्होंने ठीक मार्ग बताया। अपने डाक्टर जी भी इसी तरह के द्रष्टा पुरुष थे। उन्होंने इसी विचार से संघ को जन्म दिया।

संघ शिक्षा वर्ग, १९६१
(२)

यह भी ध्यान रखें कि इतने मात्र से काम हो जाता है– ऐसा मानने का कोई कारण नहीं। ठीक सुव्यवस्था और सुयोग्य रीति से काम करना न आता हो तो अपना सारा सद्‌भाव व्यर्थ हो जाता है।

सुव्यवस्था की शिक्षा अनिवार्य है। अपने डाक्टर जी एक अनुभव सुनाया करते थे– कोलकत्ता में कांग्रेस का अधिवेशन था। नेताजी सुभाषचंद्र बोस, जो वहाँ के वालंटियर प्रमुख थे, ने अधिवेशन की व्यवस्था का भार अपने पर लिया था। उसके लिए वालंटियरों की काफी बड़ी फौज खड़ी की थी। अधिवेशन चल रहा था। वक्ता लोग भाषण दे रहे थे, परंतु श्रोताओं में से बातचीत की इतनी आवाज आ रही थी किसी को कुछ सुनाई नहीं दे रहा था। अध्यक्ष बार-बार शांति की अपील कर रहे थे। कोई किसी की सुन नहीं रहा था। अधिवेशन की कार्यवाही चलाने में असमर्थ अध्यक्ष ने तय किया कि सत्र अभी यहीं रोक दिया जाए और थोड़ी देर

बाद फिर से शुरू किया जाए।

उस समय अपने डाक्टर साहब भी वहाँ पर थे। उनका सुभाष बाबू से अच्छा परिचय था। उन्होंने सुभाष बाबू से कहा कि आप अपने वालंटियरों की फौज को सभा-मंडप से बाहर जाकर संपत् (फाल इन) करने के लिए कहें। सुभाष बाबू ने कहा, 'इतने वालंटियर हैं, फिर भी इतना कोलाहल हो रहा है। वालंटियर बाहर निकाल दिए तो कोलाहल अधिक बढ़ जाएगा। उसे नियंत्रित कौन करेगा?' डाक्टर जी ने कहा, 'लोगों को नियंत्रित करने की आवश्यकता नहीं है। यह कोलाहल तो चुप कराने में लगे वालंटियरों का ही है।' सुभाष बाबू ने बड़े अचरज भाव से कहा, 'They are a disciplined body.' डाक्टर जी ने कहा, 'You take them out, let us see what happen.' सुभाष बाबू ने उनकी बात मानकर सारे वालंटियरों को मंडप के बाहर एकत्र आने को कहा। वालंटियर अपने प्रमुख की आज्ञा सुन मंडप के बाहर आ गए। उन सबके बाहर जाते ही पंडाल के अंदर का कोलाहल शांत हो गया। सभा की कार्यवाही आसानी से सुनाई देने लगी। वहाँ व्यवस्था करनेवाले वालंटियरों के कारण ही अव्यवस्था हो रही थी।

अपने नागपुर का ही उदाहरण है– एक सज्जन के मकान में आग लग गई। फिर क्या था, सैंकड़ों लोग एकत्र हो गए। प्रत्येक के मन में उन सज्जन के प्रति सहानुभूति व आग बुझाने की इच्छा थी, परंतु कोई तरीके से काम करना नहीं जानता था। सब इतना हंगामा मचाए हुए थे कि कुछ हो नहीं रहा था। यहाँ तक कि आग बुझाने की दमकल आई, वह भी भीड़ के कारण काम नहीं कर पा रही थी। पास में ही एक महाविद्यालय था। उसमें अपने कई विद्यार्थी स्वयंसेवक पढ़ते थे। आग लगने की खबर सुनकर उन्होंने शिक्षक से अनुमति ली और वहाँ पहुँचे। सबसे पहले सहानुभूति के नाते एकत्र हुए लोगों को धक्के मारकर वहाँ से हटाया। तब कहीं दमकलवाले अपना काम कर सके और आग बुझ सकी, अन्यथा मकान पूरी तरह नष्ट हो जाता और बेचारे मकान-मालिक को सड़क पर खड़े हो भीख माँगनी पड़ती। प्रेम व सहानुभूति भी सुव्यवस्थित रीति से काम करना नहीं जानती हो, तो हानिकारक हो सकती है।

मन में लाख उमंगें हों पर योजना के अनुसार व्यवस्थित रूप से काम करने, अर्थात् मन का संयम कर विशिष्ट पद्धति से काम करने का गुण अपने में आना नितांत आवश्यक है। उसी में से सबकी बिखरी हुई

शक्ति एकत्रित आकर उसका प्रचंड संगठित और नित्य विजयशाली सामर्थ्य खड़ा हो सकता हैं। इस गुण को ही अनुशासन कहते हैं। अनुशासन का सूत्र जितना प्रबल होगा, अपनी कार्यक्षमता और शक्ति उतनी ही अधिकाधिक बढ़ेगी। इसलिए अपना मन, जो इधर-उधर भटकता है, को प्रयत्नपूर्वक कार्य की ओर खींचकर बाकी बातों की ओर दुर्लक्ष करना होगा।

इसके लिए सर्वप्रथम अपनी संपूर्ण कार्य-रचना को समझना होगा। कई बार अपने कार्यकर्ता कहते हैं कि अपने को हिंदूराष्ट्र का ज्ञान सब लोगों को देना है, फिर नित्य शाखा आकर दक्ष-आरम्, विभिन्न प्रकार के कार्यक्रम, नियम पर चलने आदि का इतना आग्रह क्यों किया जाता है? इसका मूल कारण अपने अंतःकरण को अभ्यास करवाकर जीवन में अनुशासन लाना और साथ में आए हुए बंधुओं से मेल बैठाना है।

अनुशासन एक दिन करने से नहीं आता। उसका नित्य अभ्यास करना पड़ता है। अभ्यास में खंड पड़ जाने पर इच्छा होते हुए भी अनुशासन के साथ काम करने का अपना गुण नष्ट हो जाता है। कितना भी वह गुण अपने में आ गया हो, परंतु अभ्यास के खंडित होने पर वह गुण स्थायी नहीं रह पाता और अपनी इच्छा व्यर्थ सिद्ध हो जाती है। वैसे भी, मन का नियंत्रण अभ्यास से ही होता है। अपने राष्ट्र की चिंता करते हुए सब प्रकार के स्वार्थ से विरक्त होकर एक प्रकार से वैराग्य का जीवन व्यतीत करने के लिए हम कटिबद्ध हैं। शाखा के माध्यम से अपने मन को अनुशासन का नित्य अभ्यास करवाकर उसे काबू में रखकर अपने इस महान राष्ट्र के सुप्त सामर्थ्य का अभिव्यक्तिकरण करने के लिए सिद्ध करते हैं। यह ध्यान में रख कर नित्य के संघकार्य में अपने को नित्यभागी रखेंगे– इस प्रकार का निश्चय अपने अंतःकरण में जागृत रखना और तदनुसार व्यवहार बनाना आवश्यक है।

राष्ट्रभाव प्रासंगिक ही रहेगा

जहाँ हम लोग राष्ट्र के विस्मृत गौरव को जागृत करने और राष्ट्र को सामर्थ्यशाली बनाने के लिए प्रयास कर रहे हैं, वहीं अपने यहाँ ऐसे लोग भी हैं, जो इन सारी बातों को अनावश्यक मानते हुए कहते हैं कि राष्ट्र आदि की जरूरत ही क्या है? वे अपनी बातों के समर्थन में बड़े-बड़े लोगों के नाम भी लेते हैं। अभी हाल ही में कवि श्रेष्ठ रवींद्रनाथ टैगोर की जयंती धूमधाम से मनाई गई। उनके बारे में अपने विचार व्यक्त करते हुए

कई वक्ताओं ने कहा– 'कविवर का ऐसा मानना था कि जागतिक श्रेष्ठत्व और शांति प्राप्त होने के लिए राष्ट्र की संकल्पना एक बाधा है।' ऐसा कहकर वे कहते हैं कि जब राष्ट्र की ही आवश्यकता नहीं है, तब शक्ति की क्या जरूरत है? मैंने रवींद्रनाथ के साहित्य का अध्ययन किया है। इसलिए मैं जानता हूँ कि उन्होंने ऐसा कहा है, पर ऐसा नहीं कहा है कि केवल हम लोगों को छोड़ ही देना चाहिए, दुनिया के बाकी लोगों को नहीं छोड़ना चाहिए। रवींद्रनाथ ने अपने परिपक्व अनुभव के आधार पर बाद में ऐसा भी कहा कि 'जगत् के सब लोग राष्ट्रभाव से प्रेरित हैं। कोई स्पष्ट रूप से अपने को राष्ट्र बोलता है और कोई अपने राष्ट्रभाव को खोटे जागतिक तत्त्वज्ञान का बुरका पहनाकर उसके आधार पर सारे जगत् को ठगकर उस जागतिक तत्त्वज्ञान प्रचार के आधार पर जगत् के भिन्न-भिन्न देशों के लोगों को अपना अंकितकर वहाँ अपने साम्राज्य का विस्तार करते हैं। ऐसे जगत् के लोग राष्ट्र की दृष्टि से विचार करते हैं, राष्ट्र के साम्राज्य की दृष्टि से विचार करते हैं। ऐसी परिस्थिति में हमको अपने राष्ट्र का विचार छोड़ना उचित है क्या? हृदय में अखिल मानव्य के प्रति भक्ति, प्रेम रखते हुए भी अपने-अपने राष्ट्र के विचार को सुदृढ़ व प्रबल करना अपने लिए अनिवार्य है।' यह बात भी रवींद्रनाथ टैगोर ने कही है, किंतु इसे कोई बताता नहीं।

यदि हमने कहा कि हम राष्ट्र संकल्पना को नहीं मानते, तब तो सारे विश्व को आनंद ही होगा। किंतु यह वैसे ही होगा, जैसे घर के चारों ओर चोर रहते हों और हम कहें कि हम सब लोगों पर विश्वास करते हैं। हम तो अपने घर के दरवाजे सबके लिए खुले रखेंगे। अब कौन चोर हमारी इस बात का विरोध करेगा? उन्हें हमारी धन-संपदा लूटने का अच्छा मौका मिलेगा। वे तो सभा करके समारोहपूर्वक हमारा अभिनंदन कर हमारी स्तुति करेंगे, हमें धन्यवाद देंगे। हमारे नेताओं के पास शब्दजाल का अपार भंडार है। वे विश्व में हो रहे उनके सम्मान से अभिभूत हैं। हमारे नेता बड़े होते जा रहे हैं और हमारे देश की सीमाएँ छोटी होती जा रही हैं।

अनर्गल बातों का चलन

जब कभी समस्या खड़ी होती है, तब उसके निराकरण के लिए इन सज्जनों के सुझाव और अधिक हास्यास्पद होते हैं। कुछ वर्ष पहले की बात है। पेशावर की दिशा से पठान गड़बड़ कर रहे थे। तब अपने यहाँ के एक

बड़े नेता ने कहा, 'वहाँ औरतों की पलटन भेज दो। लड़ने की भी आवश्यकता नहीं रहेगी।' एक प्रांत के राज्यपाल महोदय महिलाओं के एक कार्यक्रम में गए। वहाँ उन्होंने भाषण देते हुए कहा कि 'शासन व प्रशासन के सारे महत्त्वपूर्ण स्थानों पर महिलाओं को पदस्थ करना चाहिए। इससे देश की सारी समस्याएँ हल हो जाएँगी।' इस प्रकार के वक्तव्यों का क्या अर्थ होता है, यह तो वे ही जानें। इस प्रकार की अनर्गल बातें हमारे यहाँ बोली जाती हैं। मेरी दृष्टि में तो जो सामने बैठा है, उसे ध्यान में रखकर बोला जाता है। बस, सामने बैठा प्रसन्न हो जाए– इतना ही उनके बोलने का मकसद रहता है। कोई राष्ट्रहित, तत्त्वज्ञान, चिंतन और जिम्मेदारी का भाव उनके बोलने के पीछे नहीं रहता।

इसलिए व्यर्थ के प्रश्न और तर्क तथा उनको देनेवालों की चिंता किए बिना अपना कार्य संपूर्ण मनोयोग से करते जाना अभिप्रेत है। सारे प्रश्नों और समस्याओं का उत्तर एक ही है और वह है अनुशासित सामर्थ्य। डाक्टर जी ने इसे प्राप्त करने के लिए ही चारों ओर की परिस्थिति, नित्य बदलनेवाली अवस्था, मनुष्य के भिन्न-भिन्न प्रकार के स्वभाव आदि बातों का अध्ययन कर एक अत्यंत श्रेष्ठ कार्य अपने सामने रखा है। उस श्रेष्ठ कार्य का स्वयंसेवक बनने का भाग्य ईश्वर की कृपा से अपने को प्राप्त हुआ है। इस कृपा को अपने अंतःकरण में नित्य जागृत रखकर उसी ईश्वर को स्मरण कर अपने इस संगठन के कार्य का परिपूर्ण विस्तार भारत भर में करें। इसमें किसी प्रकार की कसर न रखें।

संघ शिक्षा वर्ग, १९६१

(३)

राष्ट्र का संगठित जीवन कैसा होगा, उसके भाव क्या रहेंगे इसका विचार संघ ने बहुत गंभीरता से किया है। अपने डाक्टर जी जन्मजात देशभक्त थे। वे अनेकानेक संस्थाओं में सक्रिय रूप से संबद्ध रहे थे। सार्वजनिक गणेशोत्सव, भजन-मंडल, दिंडी आदि कार्यक्रमों में जहाँ लोग एकत्र आते थे, ऐसे कार्यक्रमों में भाग लेकर लोगों को जागृत कर निर्भयता से अपना स्वाभिमान प्रकट करने का आग्रह करते थे। उन्होंने देखा कि चारों ओर अनेक प्रकार के आंदोलनात्मक कार्य चलते हैं, जिसका साधारण मनुष्य को बड़ा प्रेम होता है। आंदोलन से मनुष्य

एक बार भले ही क्षुब्ध हो जाए, परंतु हृदय में जो स्थायी राष्ट्र संस्कार चाहिए वह होता नहीं।

अनुभवसिद्ध निष्कर्ष

अपना पिछले सहस्र वर्ष का अनुभव लें। समय-समय पर लोगों में जागृति हुई, उस समय के लिए तेजस्विता उत्पन्न हुई। सामूहिक रूप से संकट का प्रतिकार करने की इच्छा भी हुई, परंतु वह भाव अधिक दिन तक टिका नहीं, न ही अनुशासन रहा, क्योंकि उसके पीछे उस समय की सारी परिस्थिति की प्रतिक्रिया के क्षोभ के कारण जागृति थी।

तत्कालीन महापुरुषों को स्थायी संस्कार करने के लिए या तो अवकाश नहीं मिला अथवा उसके बारे में उन्होंने सोचा नहीं। इसलिए संघ-स्थापना के समय आंदोलन के जितने प्रयोग चल रहे थे, उन्हें पूर्णतः छोड़कर दिन-प्रतिदिन चलनेवाली ऐसी अपनी कार्यपद्धति का डाक्टर जी ने स्वयं निर्माण किया और यच्चयावत् हिंदू समाज अपने अंतःकरण का एक हिस्सा है, इस प्रकार की अनुभूति करते हुए एकात्मता और अनुशासनयुक्त प्रबल राष्ट्र-भाव का निर्माण करने के कार्य में लगे।

संगठन तो विशुद्ध प्रेम के आधार पर ही हो सकता है। जिस आत्मविस्मृति के कारण अपने को अवनति प्राप्त हुई है, उस आत्मविस्मृति को हटाकर राष्ट्रीयत्व के सद्गुणों और स्वत्व के संस्कारों को जागृत कर व्यक्ति के दैनंदिन जीवन में प्रस्थापित कर, हिमालय से कन्याकुमारी तक फैले अपने समाज को एक सूत्र में बद्ध करके अनुशासनयुक्त संगठन का निर्माण करना पड़ेगा। व्यक्ति-व्यक्ति के हृदय में व्याप्त स्वार्थ की भावना हटाकर राष्ट्र की चिंता को प्रस्थापित करना होगा।

तत्त्वज्ञान अपने व्यवहार में उतारें

संस्कार एक दिन देने से स्थायी नहीं होते। इसके लिए व्यक्ति-व्यक्ति पर परिश्रमपूर्वक प्रतिदिन संस्कार करने की आवश्यकता रहती है। इस प्रकार के संस्कारों से युक्त स्वभाव बनने तक बड़ी आत्मीयता से प्रयत्न करना पड़ता है। अपने कार्य की रचना मनुष्य की इस प्रवृत्ति को ध्यान में रखकर ही की गई है। जिस कार्य को करने चले हैं, उसकी कल्पना अच्छी तरह से होनी चाहिए। इसके लिए कितना परिश्रम करना होगा, शाखा-विस्तार करना होगा, स्वयंसेवकों की उपस्थिति अनिवार्य होगी, संस्कार किस प्रकार से करने होंगे आदि बातें ध्यान में आ सकती हैं।

केवल निश्चय कर लेने अथवा दूसरों को तत्त्वज्ञान का उपदेश करने भर से काम नहीं होता। किसी व्यक्ति का मार्गदर्शन कर अपने साथ लाना चाहते हैं, तब जिस बात की अपेक्षा हम उससे करते हैं, जो संस्कार हम उसे देना चाहते हैं, उन्हें पहले अपने आचरण में लाना होगा, क्योंकि जो विचार हम दूसरों को देना चाहते हैं उसका अनुभव हमने स्वयं करना चाहिए, तभी हम दूसरे को कुछ कह सकेंगे। जैसे हम कहते हैं कि यह अपनी मातृभूमि है, यहाँ रहने वाला हिंदू समाज उसके पुत्र-रूप में है। इस भूमि का एक-एक कण अपने लिए पवित्र है– यह भाव अपने हृदय में है क्या? यहाँ के समाज में विविध प्रकार की विभिन्नता है, फिर भी उनमें एकत्व के अस्तित्व के बारे में वह निःशंक हैं क्या? इसकी अनुभूति करने के पश्चात् तदनुसार आचरण है क्या?

आजकल हम देखते हैं कि कुछ सज्जन लोग जातीयता नष्ट करने का बीड़ा उठाए रात-दिन चिल्लाते रहते हैं, परंतु चुनाव के समय उन्हें यह कहने में हिचकिचाहट नहीं होती कि हमने अग्रवाल समाज के व्यक्ति को खड़ा किया है, अथवा उम्मीदवार अपने तेली समाज का है, इसे अपना मत जरूर देना। कहना एक और करना एक तो दुर्जनों का लक्षण बताया गया है। सज्जन जैसा बोलता है, वैसा ही आचरण भी करता है। किंतु अपने देश में आज चारों तरफ आत्मवंचना दिखाई देती है। मैं अपना अनुभव बता सकता हूँ। प्रवास के कारण विभिन्न स्थानों और विविध प्रकार के बंधुओं के यहाँ जाना पड़ता है। लेकिन हर दिन मैं एक ही अनुभव करता हूँ। जैसा सुख व जिस प्रकार के अपनत्व का अनुभव नागपुर में आता है, वैसा ही अनुभव सब स्थानों पर प्राप्त होता है।

अपने बोलने या हास्य-विनोद में एकात्मता का उपहास हो– ऐसा उच्चार अथवा कृति न हो, इस विषय में अत्यंत सतर्क रहेंगे, तब एकात्मता का व्यवहार अपना स्वभाव बन जाएगा और जीवन में परिपूर्णता का अनुभव करेंगे। अपने जीवन का अध्ययन करते हुए अव्यंग प्रबल अनुशासन का पालन कर तथा अपने अंदर की विकृतियों को दूर करके हर दिन का व्यवहार करना आवश्यक है। अपने जीवन को परिवर्तित कर, एकात्मता का भाव लेकर ही हम संगठित सामर्थ्य खड़ा करने में सफल हो सकते हैं।

नर से नारायण बना जा सकता है

चारित्र्य, सद्गुणसंपन्नता व वाणी की सरलता का अपने यहाँ

आदर है। 'स्वभावो दुरतिक्रमः' की उक्ति बताते हुए लोग कहते हैं कि व्यक्ति में जो सद्गुण अथवा दुर्गुण होते हैं, उनको छोड़ना या बदलना असंभव है। कुछ लोग मनुष्य के स्वभाव को 'कुत्ते की दुम' भी कहते हैं, जो अथक प्रयास करने पर भी सीधी नहीं होती। लेकिन ऐसा कहना पूर्णतः सत्य नहीं है। मनुष्य यदि प्रयत्न करे तो नर से नारायण बन जाता है। क्या वह अपना स्वभाव नहीं बदल सकता? यही कहना पड़ेगा कि प्रयत्न व्यवस्थित नहीं होते। अपने डाक्टर जी का उदाहरण भी अपने सामने है। संघ की स्थापना के बाद संगठन के लिए प्रतिकूल व्यवहार को उन्होंने पूर्णता के साथ छोड़ दिया था। संघ में भी प्रतिज्ञा व नित्य की प्रार्थना ऐसे संस्कार हैं, जिनसे व्यक्ति के जीवन में आमूलाग्र परिवर्तन हो सकता है। जीवन में दृढ़ता का भाव और कार्यानुकूल जीवन बनाने की दृष्टि से अत्यावश्यक गुणों को अपने में लाया जा सकता है।

संघ शिक्षा वर्ग, १९६३

(१)

अधिकारियों से चर्चा करते समय ज्ञात हुआ कि वर्ग में अस्वस्थ स्वयंसेवकों की संख्या काफी है। स्वयंसेवकों का कहना है कि आज के जमाने में खाने-पीने को अच्छा नहीं मिलता, इस कारण आदमी की शारीरिक क्षमता कम हुई है, परंतु वास्तविक्त यह नहीं है। यह सब मन का खेल है। मन यदि मजबूत हुआ तो आदमी मिट्टी खाकर भी बलवान बनता है। मन मजबूत हुआ तो मुर्दा शरीर भी जी उठता है। शक्ति कम पड़ती है मन की, शरीर की नहीं। हमें इसका विचार करना ही चाहिए, क्योंकि हमने एक बड़ा काम अपने हाथ में लिया है। गत कई वर्षों से हम काम कर रहे हैं। उसकी परिणिति व परिपक्व अवस्था शीघ्रातिशीघ्र आए और वह स्थायी स्वरूप की हो– यह आवश्यक है। कार्य में किसी प्रकार की न्यूनता न रहे अथवा अच्छे-बुरे प्रसंग उपस्थित होने पर उसे किसी प्रकार की क्षति न पहुँचे, इसके लिए मन की शक्ति का होना जरूरी है। मन अच्छा होगा तो शरीर ठीक ढंग से काम करेगा।

मन में प्रश्न आ सकता है कि यह सब क्यों करना? इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने के लिए संघ-स्थापना के पूर्व की स्थिति ध्यान में लानी चाहिए। उस समय अपने देश में कई प्रकार के आंदोलन व गतिविधियाँ

चल रही थीं। उन सबका एकमात्र उद्देश्य अंग्रेजों को इस देश से बाहर निकालना और अपने देशबंधुओं की सत्ता प्रस्थापित करना था। अंग्रेज लोकसंख्या में बहुत कम थे। उनका देश अत्यंत छोटा है; समृद्धि व संपन्नता कोई विशेष नहीं, किंतु उन्होंने अपने अध्यवसाय, अनुशासन, राष्ट्रभक्ति के बल पर विश्वभर में अपना साम्राज्य स्थापित किया। जो अपना साम्राज्य प्रस्थापित करता है, उसे यह अच्छी तरह मालूम होता है कि कितना भी दबाया अथवा बाधाएँ खड़ी कीं, तब भी अपने स्वत्व के बल पर विजित समाज दास्यत्व को उखाड़ फेंकने का प्रयास करता रहता है। अंग्रेज चतुर थे, इसलिए उन्होंने स्थानीय समाज का स्वत्व नष्ट करने और यदि स्वत्व नष्ट करना संभव न हो, तो कम से कम उसका विस्मरण रहे— इसका प्रयास किया। जिससे विजित समाज के सामने कोई प्रेरणा शेष न रहे।

हेतु पुरस्सर ईसाईकरण

पहला प्रयत्न, जिसे उन्होंने बड़ी मात्रा में करने का प्रयास किया, वह था, अपने मतावलंबी लोग इस भूमि पर खड़े करना, जिनका नित्य समर्थन अंग्रेजों को प्राप्त रहे। अंग्रेज ईसाई मत के होने के कारण उन्होंने यहाँ के सर्वसामान्य में, विशेषकर हिंदुओं में ईसाईयत के प्रसार के लिए प्रयत्न किए। कुछ लोग उनके प्रचार-प्रलोभन के शिकार बने, किंतु अंग्रेजों को अनुभव ऐसा आया कि यहाँ का जो सामान्य समाज है, वह भूखा रहना पसंद करता है, परंतु अपना धर्म छोड़ना नहीं चाहता। यहाँ तक कि वन्य क्षेत्र में, जहाँ पर लोगों के पास खाने के लिए पर्याप्त भोजन व पहनने के लिए कपड़ा तक नहीं है, रुपया-पैसा तो दूर की बात है, बिल्कुल वन्य पशुओं के समान जीवन बिता रहे हैं, वहाँ भी कट्टर धर्म भाव है। ईसाई मत का प्रसार करना पग-पग पर कठिनाई से भरा हुआ दिखाई देता है। इसका प्रमाण यह है कि गत डेढ़ सौ वर्षों में वन्य क्षेत्रों में हजारों ईसाई मिशनरियों के माध्यम से करोड़ों रुपए खर्च किए गए। वहाँ के राज्य शासन के अधिकारी, जो ईसाईयत के प्रचार के अनुकूल होते हैं, ईसाई धर्मप्रचारकों की अनुमति से नियुक्त किए जाते थे। उस क्षेत्र में अन्य किसी मत का प्रचार करने कोई गया तो उसे बाहर निकाल देते थे। कुछ आर्यसमाजी कार्यकर्ता उस क्षेत्र में काम करने गए, किंतु फिर कभी वापस नहीं आए; उनकी हत्या कर दी गई। संघ के कार्यकर्ता वहाँ काम करने गए उनके साथ भी मार-पीट, अपहरण, हत्या आदि की घटनाएँ हुईं। ऐसी गतिविधियों पर कानून भी मौन बैठा रहता है। इतना सब होने पर भी वे एक-तिहाई

वनवासियों को भी ईसाई नहीं बना सके। इस अनुभव से वे समझ गए थे कि धर्म-प्रसार के द्वारा अपना आसन यहाँ जम नहीं सकता, क्योंकि यहाँ के लोग धर्म छोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं।

प्रज्ञाहरण

फिर यहाँ के लोगों में जो स्वराष्ट्रभक्ति थी, उसे धन से खरीदने अथवा शासन के बल पर सख्ती से दबाने का भरपूर प्रयास किया। उसका भी विशेष फल नहीं निकला। तब समाज के राष्ट्ररूप को विस्मृत कराने का षड़यंत्र रचा, क्योंकि आत्मविस्मृत समाज परकीय राज्य को सहन कर लेता है। उन्हें यहाँ के जीवन का अध्ययन कर राष्ट्रजीवन को समझने में काफी समय लगा। एक बात वे समझ गए कि यहाँ हिंदू, पारसी, मुसलमान इत्यादि समाज रहते हैं। वर्षों से साथ रहने के कारण उनके सहसंबंध भी हैं। फिर भी पराधीनता की सबसे अधिक कसक हिंदुओं को ही है। इसलिए उन्होंने इस बात का प्रयत्न किया कि हिंदू के मन में यह बात बैठा दी जाए कि जैसे अन्य समाज के लोग बाहर से यहाँ आए हैं, उसी तरह हिंदू भी बाहरी हैं। यह सोचकर जैसे मिशनरियों को धर्म-प्रसार के काम में लगाया था, उसी तरह कुछ विद्वानों को हिंदुस्थान के इतिहास को विकृत करने के काम में लगाया। उन्होंने संशोधन करने का आभास उत्पन्न कर अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए आवश्यक, ऐसा मनगढ़ंत इतिहास रचा और उसे पढ़ाया।

उन्होंने पढ़ाया कि पहले यहाँ जो लोग रहते थे, उनको सभ्यता व संस्कृति में श्रेष्ठ द्रविड़ों ने आक्रमण कर जंगलों में भगा दिया। द्रविड़ सुखपूर्वक रहकर राज्य कर रहे थे कि एशिया व यूरोप के संगम क्षेत्र में रहने वाले आर्यों ने उन पर हमला बोल दिया। उन्होंने यहाँ के समाज में परस्पर विद्वेष-निर्माण करने के लिए हमारे प्राचीन ग्रंथों से जानबूझकर 'आर्य' शब्द लिया। आर्य शब्द हमारे प्राचीन ग्रंथों में मिलता जरूर है, परंतु वह 'जातिवाचक' शब्द न होकर 'गुणवाचक' है, किंतु अंग्रेजों ने 'आर्य' को एक जाति बना दिया और बताया कि इन आर्यों के आक्रमण से भयभीत द्रविड़ इस भूमि के दक्षिण भाग में जाकर रहने लगे। तब से आर्यों का यहाँ आधिपत्य हो गया। इसी क्रम में शक, हूण, कुशाण, मुसलमान व अंग्रेज आए। इसलिए वास्तव में तो जंगलों में रहनेवाले लोग ही यहाँ के आदिवासी हैं। अंग्रेजों का कहना त्रिकालाबाधित सत्य होता है, ऐसा माननेवालों की कमी हमारे देश में न तब थी, न अब है। अपने प्रति स्थानीय समाज की

विरोधी भावना कम करने के लिए प्रस्तुत की गई अंग्रेजों की यह असत्य बात मान लेने के कारण अपने लोगों के अंदर की यह भावना कि यह हमारी भूमि है, इससे हमारा अटूट नाता रहा है, हमारा अति उज्ज्वल चिरंतन राष्ट्र-जीवन रहा है, समाप्त होने लगी।

हमने यह भी मान लिया कि यह देश कभी भी एक नहीं रहा। यहाँ कई संस्कृतियाँ हैं। हिंदू, मुसलमान, ईसाई, पारसी जैसे कई समाज हैं और सबका अधिकार एक समान है। अंग्रेजों के आने कारण हमारे आपस के झगड़े समाप्त हुए। भाषा-भेद के कारण जो विच्छिन्नता थी, वह अंग्रेजी भाषा के कारण दूर हुई। अंग्रेजों के कारण यह एक संगठित देश बन सका और एकता स्थापित हो सकी।

दिशा भूल

अंग्रेजों ने यह भी बताया कि ईश्वर ने हमें यहाँ के झगड़े, कुशासन, असभ्यता, भेद दूर करने भेजा था। हमारा वह काम पूरा हो चुका है। इसलिए अब हम यहाँ से जाना चाहते हैं, परंतु यहाँ पहले जैसी स्थिति फिर से निर्माण न हो, इसलिए जरूरी है कि आप लोग जल्दी से जल्दी यहाँ का राज्य सँभालने के लिए तैयार हो जाएँ। फिर से विवाद न हो, इसलिए यदि सारे समाज एक होकर आते हैं, तो हम निश्चिंतता के साथ राज्य आपको सौंप देंगे। फिर क्या था! केवल एक बात के ही प्रयत्न होने लगे कि यहाँ रहनेवाले सारे समाज एक साथ हो जाएँ। उनको अपने साथ लाने के लिए वे जो चाहते थे, वह करने की छूट दी गई। उनकी सारा जायज-नाजायज शर्तें स्वीकार की गईं।

इस सबका परिणाम यह हुआ कि हिंदुओं के मन में एक ही बात रही कि अंग्रेजों को भगाना है। बड़े-बड़े नेता तक एक ही नारा दे रहे थे- 'अंग्रेजों को भगाओ।' कोई यह विचार करने को तैयार नहीं था कि अंग्रेजों को क्यों भगाना है। अंग्रेजों को भगाने चक्कर में यहाँ का इतिहास, यहाँ के राष्ट्रजीवन को भुला दिया गया। किंतु मुसलमान नहीं भूले कि वे यहाँ के शासक रहे हैं और हिंदू उनके गुलाम। अंग्रेजों के साथ मिलकर और बाद में भी उनका पूरा प्रयास रहा कि इस देश की सत्ता उनके हाथ में आए। इसमें सफल न होने पर उन्होंने इस देश का विभाजन करने में भी संकोच नहीं किया। इस देश में शेष बचे परकीय आज भी राष्ट्रविरोधी और विद्रोही गतिविधियों में संलग्न हैं। दुर्भाग्य की बात यह है कि उनकी इस

प्रकार की गतिविधियों का समर्थन करने और हिंदुत्व का अवमान व पूर्वजों का अनादर करने वाले विद्वान इस देश में विद्यमान हैं। इतना ही नहीं तो आज उनका ही बोलबाला है। इन परिस्थितियों में संघ की स्थापना हुई थी।

'हिंदू' शब्द का आग्रह क्यों

यह जो संघ का कार्य है, उसका हेतु हिंदू संगठन है। इसकी आवश्यकता आज भी इसलिए है, क्योंकि जब से मनुष्य समुदाय के रूप में निवास करने लगा या उसका इतिहास उपलब्ध है, तब से यह भूमि और उसका पुत्ररूप हिंदू-समाज विद्यमान है। लोग पूछते हैं कि पहले इस समाज को 'हिंदू' नहीं कहते थे। 'हिंदू' नाम परकीय लोगों द्वारा दिया हुआ होने के कारण इसे ग्रहण करना ठीक नहीं। इसका उत्तर देने के पचड़े में पड़ने की अपने को जरूरत नहीं है। हिंदू कहते ही एक विशिष्ट समुदाय अपने सामने खड़ा रहता है। यही हमारा समाज है। इस भूमि के पुत्र व स्वामी के नाते यही समाज विद्यमान है। वैसे भी मनुष्य का नाम दूसरा कोई ही रखता है। कोई-कोई कहते हैं कि हिंदू के पहले 'आर्य' नाम था। वह कहाँ रहता था– यह पूछने पर बड़ी ही विचित्र कथा बताते हैं कि आर्य एशिया व यूरोप के संगम प्रदेश पर रहता था। वहीं से आर्य सब ओर फैले। उनकी एक शाखा हिंदुस्थान आई और भ्रष्ट हो गई। लेकिन जो यूरोप की तरफ गई वह शुद्ध रही। अपने यहाँ के विद्वानों ने उनकी इस कपोल कल्पना को बिना किसी खोजबीन के जस का तस ग्रहण कर लिया और कहने लगे कि आर्य बाहर से आए थे। 'अब आर्य बाहर से आए' मान लिया तो आर्य के नाम से एक छोटा मानव-समुदाय सामने आता है। यहाँ के मूल निवासी तो द्रविड़, मंगोलियन आदि थे। 'आर्य' शब्द का प्रयोग भ्रम बढ़ाने के लिए ही किया जाता है।

आजकल 'भारतीय' शब्द के प्रयोग पर बल दिया जाता है। किंतु 'हिंदू' के स्थान पर 'भारतीय' शब्द का प्रयोग भी भ्रम निर्माण करने के लिए ही किया जाता है। 'भारतीय' शब्द का अर्थ यह निकाला जाता है कि जो भी इस भूमि पर रहता है, वह भारतीय है। फिर भले ही वह आक्रमणकर्ता के रूप में आया हो अथवा व्यापार के निमित्त आकर यहाँ का मालिक बन बैठा हो। जो इस भूमि और यहाँ के लोगों से शासक व शासित के अलावा अपना अन्य कोई संबंध न मानता हो उसे 'भारतीय' कहना ठीक होगा क्या? जिस समाज को हमने इस भूमि के पुत्र के रूप में माना है, भारतीय कहने से ठीक अर्थ नहीं निकलता। उससे हिंदू समाज

का स्पष्ट चित्र आँखों के सामने नहीं आता। सर्वसमावेशक 'भारतीय' शब्द का प्रयोग करने से भारत को एक धर्मशाला के रूप में मानना पड़ेगा। भ्रमात्मक 'आर्य' शब्द में जैसे अव्याप्ति का दोष है, वैसे ही सर्वसमावेशक 'भारतीय' शब्द में अतिव्याप्ति का दोष है। इसलिए इस भूमि के पुत्र-रूप से रहनेवाले समाज को उसकी सही स्थिति को यथार्थ रीति से प्रकट करनेवाले 'हिंदू' नामाभिधान से संबोधित करना ही अति आवश्यक है।

संघ शिक्षा वर्ग, १९६३

(२)

'संघकार्य' का अर्थ है लोगों को जुटाना और सबके हृदय में एक ही ध्येय, एक ही विचार और जीवन में अनुशासन उत्पन्न हो, ऐसा प्रयत्न करना। मनुष्य को जुटाने के लिए उससे परिचय चाहिए। तभी तो साथी के नाते उसे अपने साथ खड़ा कर सकेंगे। मित्रता प्राप्त करने के कुछ गुण आवश्यक होते हैं। अंतःकरणपूर्वक अपनेपन का भाव रखकर, अकृत्रिम स्नेहयुक्त व्यवहार के साथ अच्छे-बुरे प्रसंगों में हरदम उसके साथ खड़े रहेंगे, तभी उसको अपना बना सकेंगे। अब यह व्यवहार करते-करते आता है। इसके लिए कोई पुस्तक नहीं हो सकती।

मित्र के लिए कष्ट सहन करने की अपनी सिद्धता चाहिए। इससे हृदय की एकात्मता उत्पन्न होगी। अपने संघनिर्माता जब कोलकाता में पढ़ रहे थे, तब एक छात्र उनके साथ पढ़ता था। अत्यंत निर्धन होने के कारण उसके भोजन का कोई प्रबंध नहीं था। उसे कोई कठिनाई न हो, इसलिए वे स्वयं दिन में एक बार भोजन कर अपने हिस्से में से उसे भोजन करवाते थे। आप प्रश्न पूछ सकते हैं कि उन्होंने ऐसा कैसे किया होगा? वे जिस होटल से भोजन मँगाते थे, उस होटल वाले से उन्होंने कहा कि मेरा आहार अधिक है, मैं काफी रोटियाँ खाता हूँ। उतनी रोटियाँ मुझे भेजा करो। होटल वाला भी चतुर था। उसने कहा, 'ऐसी बात नहीं चलेगी। यहाँ बैठकर हमारे सामने खाकर बताओ, तब जितनी रोटी खाओगे, उससे दो अधिक भेजूँगा।' उन्होंने कहा, 'अच्छी बात है।' महीना भर सुबह-शाम ३०-३० रोटियाँ खाकर यह सिद्ध कर दिखाया कि उनका आहार कितना है। तब से वह दो रोटी अधिक भेजने लगा। इस प्रकार मित्र के भोजन का प्रबंध

कर उसका कष्ट दूर किया। स्वयं दरिद्री थे, पास में पैसा नहीं, फिर भी मित्र को कष्ट हो, यह सहन नहीं कर सकते थे। अपने पेट को तकलीफ देकर उन्होंने मित्र के भोजन का प्रबंध किया।

कागजी गाय घास नहीं खाती

वैसे, 'मित्रता' विषय पर एक पुस्तक आप लोगों ने देखी होगी, कुछ ने तो पढ़ी भी होगी। उस पुस्तक की बहुत ख्याति है। उसे पढ़कर कोई मित्र बनाना सीख सकता हो तो सीख ले, परंतु यह संभव लगता नहीं। मुझे स्मरण है कि जब मैं १०वीं कक्षा में पढ़ता था, तब शासकीय विद्यालयों के विद्यार्थियों के लिए एक कार्यक्रम चलता था। उसकी कुछ शर्तें थीं। उनमें से एक थी 'किंग इम्प्रूव'। वह शर्त मुझे मान्य न होने के कारण मैं उसमें नहीं गया। उस योजना में तरह-तरह की शिक्षा दी जाती थी। तैरने की शिक्षा भी देते थे। उस योजना में जो विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करने गए थे, उन्हें एक प्रमाण-पत्र दिया गया था कि उन्होंने तैरना सीख लिया है।

गर्मी के दिनों में हम मित्र लोग नदी पर तैरने जाते थे। प्रमाण-पत्र प्राप्त उन विद्यार्थियों में से भी कुछ साथ गए। हम लोग ऊँचाई पर जाकर नदी में कूदते व डुबकी लगाते थे। वे प्रमाण-पत्र प्राप्त तैराक किनारे पर ही बैठे रहे। हमने उनसे पूछा कि तुम लोग नहीं तैरोगे? उन्होंने कहा कि पानी में उतर कर तैर नहीं सकते। पानी में उतरेंगे तो डूब जाएँगे। हमने पूछा कि तुम्हें तो तैरना सीखने का प्रमाण-पत्र मिला है। उन्होंने बताया कि हमें कक्षा में ही तैरना सिखाया जाता था। मेज पर लिटा देते और हाथ-पैर चलाना बताते थे। अब ऐसा सीखने पर तैरना तो आ नहीं सकता। हाँ, डूबना हो सकता है।

यह बता देने से कि किस प्रकार का व्यवहार कर मित्र संपादन हो सकता है, मित्र प्राप्त करना संभव नहीं। उसका प्रयास भी करेंगे तो केवल कृत्रिमता ही हाथ आएगी, मित्रता नहीं। मुझे अपना ही एक प्रसंग स्मरण आता है। एक प्रचारक ने अपने क्षेत्र की एक शाखा के स्वयंसेवकों को बता रखा था कि शाखा पर नए स्वयंसेवकों को लाना चाहिए। जो भी नया स्वयंसेवक आए उससे सबने परिचय करना चाहिए। संयोगवश एक बार अकस्मात् उस नगर में मेरा जाना हुआ। शाखा का समय था, इसलिए स्टेशन से निकलकर सीधे शाखा चला गया। उस शाखा पर कोई मुझे पहचानता नहीं था। प्रार्थना आदि होने के बाद मैं शाखा के मुख्यशिक्षक,

कार्यवाह आदि से बातचीत करने के लिए ठहरा था। मुझे नया देख परिचय करने के उत्साह में सारे स्वयंसेवक मेरे आसपास एकत्र हो गए और पूछताछ करने लगे। उन्होंने नाम पूछा। मैंने बताया कि मेरा नाम माधव है। फिर पूछा– कहाँ रहते हो? बताया कि भटकता रहता हूँ। तब उन्होंने प्रश्न किया कि शाखा नहीं जाते क्या? बताया कि मेरा ऐसा ही चलता है। वे शाखा जाने के महत्त्व पर भाषण देने लगे। मैं नम्रतापूर्वक उनकी बात सुनता रहा। मैंने उन्हें यह भी बताया कि नियमपूर्वक शाखा न जाने के कारण वहाँ के अनियमित स्वयंसेवकों की सूची में मेरा पहला नाम है। यह सब सुनकर कार्यवाह मुझपर नाराज हो रहा था, कि इतने में वह प्रचारक, जिन्होंने उन्हें बताया था कि नए लोगों से परिचय करते जाओ, आ पहुँचे। कहने का मतलब यह है कि बताए हुए काम में एक प्रकार की कृत्रिमता आ जाती है, तब उसमें न विवेक रहता है, न सामंजस्य। केवल औपचारिकता रह जाती है।

सं वो मनांसि जानताम्

एक साधु था। वह वास्तव में साधुत्व के लक्षण से परिपूर्ण था, परंतु उसके बड़े भाई को इस प्रकार की बातों में कोई रस नहीं था। काफी वर्ष पश्चात् अपने भाई के जीवन में आए परिवर्तन के प्रति उसकी रुचि जागृत हुई। तब वह छोटे भाई के गुरु के पास गया और दीक्षा लेने की इच्छा प्रकट की। गुरुजी ने कृपापूर्वक बड़े भाई को दीक्षा दी। दीक्षा-विधि होने के पश्चात् उन्होंने कहा कि अब आप वास्तव में भाई बन गए हो। अभी तक एक परिवार में जन्म लेने के कारण भाई थे, किंतु अब विचार व जीवन के लक्ष्य के एक हो जाने से वास्तव में भाई हो गए हो। हमारी मित्रता भी संगठन की दृष्टि से उसी तरह की वास्तविकता से पूर्ण होनी चाहिए।

इस वर्ग में सब एक ही विचार, मन एक ही की तैयारी और एक ही लक्ष्य लेकर आए हैं। सबकी प्रेरणा, रचना एक ही ढंग की हो रही है। इसलिए आपस में परिचय होने में कठिनाई बिल्कुल नहीं है। आसानी से एक-दूसरे से परिचित हो सकते हैं। किसी भी शाखा के हों, नगर के हों या देहात के, जो आए हैं, उनको बराबरी का मानकर और यदि बराबरी का न मान सकते हों तो अपने से बड़ा मानकर, (क्योंकि किसी को कभी छोटा नहीं मानना चाहिए) किसी प्रकार का परदा न रखते हुए शुद्ध हृदय से मिलना चाहिए। परिचय करने का यहाँ जो अभ्यास होगा वह अपने से या अपने विचारों से सर्वथा अपरिचित व्यक्ति से परिचय करने में सहायक

होगा। हम लोगों को इसकी शिक्षा भी यहाँ प्राप्त करनी है।

योग्य सहभागिता

वर्ग में दिनभर भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्यक्रम होंगे। उनको ध्यानपूर्वक ग्रहण करना चाहिए। चर्चा या प्रश्नोत्तर के कार्यक्रम में बैठने पर उससे अपने को अलिप्त नहीं रखना चाहिए। नहीं तो कुछ की आदत होती है कि इस प्रकार के कार्यक्रम में कोने में सिर लटका कर बैठ जाते हैं। उसी प्रकार आगे बढ़कर अन्य किसी को बोलने का अवसर न देते हुए हर प्रश्न का उत्तर देने के लिए खड़ा होना भी ठीक नहीं है। ऐसा करके अपनी बुद्धि व गुणों के बढ़ने के अवसर को स्वयं होकर रोक देते हैं, अर्थात् हम स्वयं के शत्रु बन कर खड़े हो जाते हैं।

अटल विश्वास

अपने कार्य के बारे में किसी प्रकार का संदेह नहीं होना चाहिए। पूर्ण विश्वास हुए बिना पूर्ण शक्ति से काम नहीं होता। दृढ़ विश्वास होने के लिए संपूर्णता से विचार विनिमय करना चाहिए। जो आक्षेप किए जा रहे हो, उनका भी विचार करना चाहिए। सत्यासत्य का निष्कर्ष कर सत्य को अंतःकरणपूर्वक स्वीकार करना उचित होगा। संघ-संस्थापक ने कहा है अथवा मैं कह रहा हूँ, इसलिए मान लेना उचित नहीं। 'बाबा वाक्यं प्रमाणम्' ठीक नहीं। इस प्रकार मान लेने से गड़बड़ होने की संभावना अधिक रहती है। कार्य करते समय पथ-भ्रष्टता भी हो सकती है। सत्य की प्रतीति होनी चाहिए। प्रतीति तीन प्रकार की होती है— शास्त्र प्रतीति, गुरु प्रतीति और आत्म प्रतीति। इसके पश्चात् ही सत्य बद्धमूल हो सकता है।

अपने कार्यवृद्धि की गति हमें मालूम है। समाज अपने को 'हिंदू' कहलाने को तैयार नहीं है। समाज की आत्मविस्मृति अभी कायम है। समाज के घटकों में स्नेहपूर्ण आचरण नहीं है। सब तरफ दुर्भावनापूर्ण व्यवहार दिखाई देता है। भाषा, पंथ, जाति, प्रांत इत्यादि को लेकर आपस में विवाद और झगड़े हैं। इतना ही नहीं तो रोज नए-नए झगड़े खड़े किए जा रहे हैं। निजी स्वार्थ, अनाचार, दुराचार का सर्वत्र बोलबाला है। राष्ट्रभक्ति की भावना सुप्तप्राय होती जा रही है। फिर भी अपने कार्य को देखकर लोग कहते हैं कि 'यह पुरानी, प्रतिगामी विचारधारा वाला, सांप्रदायिक, संकीर्ण मनोवृत्ति का संगठन है।'

यह सब देखकर अपने कार्यकर्ता पूछते हैं कि 'वातावरण अनुकूल नहीं है। परकीय समाज, हिंदू समाज को निगलने की गतिविधियाँ जोरों से चला रहा है। इस स्थिति में आशा की किरण दिखाई नहीं देती। पराभूत मनोवृत्ति के कारण सर्वत्र अंधकार ही अंधकार है। हमारे धीरे-धीरे चलने वाले इस कार्य से काम कैसे होगा?' हम विचार करें, जब पूजनीय डाक्टर जी ने कार्य आरंभ किया था, तब परिस्थितियाँ अनुकूल थीं क्या? क्या तब हिंदू-समाज में संगठन था? आज दिखाई देनेवाले वाद-विवाद तथा समाज के झगड़े नहीं थे क्या? जैसा आज दिखाई देता है, वैसा तब भी था। जैसा भी है, पर आज स्वकीयों का शासन है। तब तो अपने देश पर परकीयों को शासन था। हम पराधीन थे। वे भेदनीति का कुटिल प्रयोग कर अपना शासन चला रहे थे। इस स्थिति में एक अकेला व्यक्ति, साधन-सामग्री से हीन, जिसके पास कुछ भी नहीं था, कार्य करने निकला था, मार्ग का कोई साथी नहीं था।

कुछ लोगों का व्यक्तित्व 'दूर के ढोल सुहावने' अर्थात् जब तक विशेष संपर्क नहीं आता, तब तक दूर से देखने पर अच्छे दिखाई देते हैं। जरा सा संपर्क आने पर उनकी कलई खुल जाती है। डाक्टर जी का सदैव यही प्रयास रहता कि दूसरों के सामने अपने गुण प्रकट न हों। उनके इस विशिष्ट स्वभाव के कारण उनको प्रसिद्धि प्राप्त नहीं थी। प्रसिद्धि के कारण स्वतः प्राप्त होनेवाला मान-सम्मान नहीं था। अत्यंत प्रकांड पंडित होंगे – ऐसी बात भी नहीं थी। विरासत में मिली खानदान की प्रतिष्ठा नहीं थी। लोगों को अपनी ओर आकर्षित कर सके– ऐसा रूप-रंग नहीं था। शरीर का डीलडॉल व रूप असुंदर था, ऐसा ही कहना पड़ेगा। गहरे काले रंग और चेहरे पर चेचक के दाग के कारण देह जरा भी आकर्षक नहीं थी।

डाक्टर होने पर भी पास में पैसा नहीं था, क्योंकि डाक्टरी तो इसलिए पढ़ी थी कि समाज-सेवा हो सके। उसके माध्यम से जीविका चलाने का विचार उन्होंने कभी किया ही नहीं। घर में स्थिति यहाँ तक रहती कि घर में कोई आए तो चाय पिलाना तक कठिन हो जाता था।

ऐसा व्यक्ति इतना महान कार्य कैसे खड़ा कर सका, यह देखने पर एक ही बात दिखाई देगी कि अंतःकरण में तीव्र मातृभक्ति थी। मातृ-भू की दुरवस्था देखकर निश्चय किया कि इसे सुधारकर रहूँगा। इतिहास बताता है कि इस प्रकार के पागलपन के साथ काम करने के लिए जो खड़े होते हैं, वे ही यश प्राप्त करते हैं। केवल आंतरिक शक्ति में ही वह स्वत्व है।

डाक्टर साहब को अपने कार्य पर पूरा विश्वास था। वे उसी विश्वास के बल पर राष्ट्र को खड़ा करने के लिए उद्यत हुए थे।

इसलिए बाकी सारी बातों की चिंता किए बिना शुद्ध चारित्र्य, आत्मविश्वास, निरलस प्रयत्न और व्यक्तिगत अहंकार को समष्टि अहंकार में मिलाते हुए कार्य करने को अग्रसर हों, कोई प्रतिकूलता अथवा बाधा मार्ग रोकने का साहस नहीं कर सकेगी।

संघ शिक्षा वर्ग, १९६३

(३)

आत्मविश्वास सदैव यशस्वी होता है। नेपोलियन का उदाहरण अपने सामने है। सेनापति के रूप में इटली पर आक्रमण करने के लिए वह अपनी सेना के साथ आगे बढ़ा। युद्ध करते-करते जाड़े का मौसम आ चुका था और इटली जाने का रास्ता हिमाच्छादित आल्पस पर्वत लाँघ कर था। उसके उपसेनापतियों ने कहा, 'इस मौसम में आगे बढ़ना ठीक नहीं है। मार्ग में आल्पस पर्वत है, जिसे जाड़े में पार करना असंभव है।' किंतु नेपोलियन ने आत्मविश्वासपूर्ण शब्दों में कहा, 'कोई आल्पस हमारे मार्ग में खड़ा नहीं हो सकता। आगे बढ़ो।' उसके आत्मविश्वासपूर्ण शब्दों से साहस पाकर सेना आगे बढ़ी और उस दुर्गम पर्वत को पार किया। इटलीवाले सोच भी नहीं सकते थे कि कोई आल्पस पर्वत लाँघ सकता है, वह भी ठंड के मौसम में। वे तो सोते में पकड़े गए। नेपोलियन ने इटली की समग्र शक्ति को देखते-देखते उध्वस्त कर विजय प्राप्त की।

नेपोलियन के ही जीवन का दूसरा प्रसंग है– उन दिनों आस्ट्रिया यूरोप का बड़ा साम्राज्य था। आस्ट्रिया व फ्रांस के बीच युद्ध हो गया। सेनापति के नाते वह सेना का संचालन कर रहा था। एक स्थान पर आस्ट्रिया की दो लाख से अधिक सेना शस्त्रास्त्रों से लैस होकर मोर्चा बाँधे मुकाबले के लिए शत्रु की प्रतीक्षा में सज्ज खड़ी थी। गुप्तचरों से प्राप्त सूचना के आधार पर सहयोगी सेनानायक आस्ट्रिया की शक्ति से डर गए। नेपोलियन ने सहयोगियों को आगे की रणनीति बनाने के लिए बुलाया। सबने यही सलाह दी कि हमारे पास सेना काफी कम है, शत्रु की शक्ति अधिक है और वह पहले से उचित स्थान पर मोर्चा बाँधे बैठी है। आगे बढ़ना ठीक नहीं होगा।' नेपोलियन ने पूछा, 'उनकी सेना कितनी है?' उत्तर

मिला, 'लगभग दो लाख।' फिर पूछा, 'अपनी सेना कितनी है?' जवाब मिला, 'तीस हजार।' नेपोलियन ने कहा, 'फिर तो अपनी सेना पर्याप्त है। तीस हजार फौज और बाकी का मैं। अपने से उनकी फौज जितनी अधिक है, उसके बराबर मैं हूँ। निस्संकोच आगे बढ़ो।' उसने युद्ध-कौशल्य का चमत्कार कर दिखाया। वह विजयी हुआ। सारे जानकार हक्के-बक्के रह गए। यह कोई जादू या चमत्कार नहीं था, यह तो उसके आत्मविश्वास का परिणाम था।

संघ शिक्षा वर्ग, १९६४

(१)

शिक्षा वर्ग का जीवनक्रम कुछ शिक्षार्थियों को कठिन लगता है। ऐसे शिक्षार्थियों का सुझाव रहता है कि अपने वर्ग ग्रीष्म काल की कड़ी गर्मी में नहीं होने चाहिए। यदि इन्हीं दिनों में वर्ग लेना अनिवार्य हो, तो नैनीताल जैसे किसी ठंडे स्थान पर होने चाहिए। वर्ग में खाने-पीने की अच्छी व्यवस्था रहे तथा विश्रांति के लिए पर्याप्त समय दिया जाए। परंतु मेरा स्वयं का अनुभव यह रहा है कि स्वयंसेवकों के साथ सुबह साढ़े तीन बजे से रात के दस बजे तक अन्यान्य कार्यक्रमों में भाग लेने तथा वर्ग की व्यवस्था की बाकी बातें देख कर बारह-साढ़े बारह बजे तक सोने के बाद भी वर्ग के अंत में मेरा वजन बढ़ता था। इससे यही सिद्ध होता है कि ग्रीष्म काल में भी यहाँ के सब कार्यक्रम नियमपूर्वक उत्साह से किए तो वे श्रम फलदायी होते हैं। कार्यक्रमों में कठिनाई का विचार आता नहीं, आना भी नहीं चाहिए। कार्यक्रम में जो श्रम हम करते हैं, उनका फल भी हमको मिलना चाहिए। प्रयत्न किए और फल नहीं मिला तो वह आनंददायी बात नहीं होगी। किया हुआ कार्य और निकला हुआ परिणाम— इसमें योग्य प्रमाण रहना चाहिए। यदि नहीं रहा तो हिसाब कि दृष्टि से प्रयत्नों में गड़बड़ होगी।

ऐसा ही इस बारे में भी सोचना चाहिए कि हम यहाँ जो बातें सीख रहे हैं, वे हमारे जीवनक्रम में आ सकें, तो अपने किए हुए श्रम सफल हुए समझना चाहिए, अन्यथा नहीं।

संगठन का आधार

अनेक विविधताओं से युक्त अपने समाज को संगठित करना है।

विश्वभर के मानव-समाज का अनुभव इस विषय में क्या है, इसका ज्ञान भी रखना चाहिए। कुछ दिन पहले पूर्व बंगाल से ईसाइयों को निकाल दिया गया था। उन निकाले गए ईसाइयों की दुःखपूर्ण स्थिति देखकर जगत् के सारे ईसाई चिंतित हो गए। इन विस्थापितों के लिए जगत् भर के ईसाई सहायता करने आगे आए। अपने देश में उनके जो भाईबंद रहते हैं, उनको इतना क्रोध आया कि बाहर निकालने में जिनका हाथ था, उनके अथवा उनके रिश्तेदारों के घरों पर हमले किए। ऐसा इसलिए, क्योंकि जो समाज आज संगठित रूप में खड़े दिखाई देते हैं, उन्होंने अपने अंतःकरण में किसी ना किसी एक श्रेष्ठ, पुनीत वस्तु के प्रति श्रद्धा का भाव धारण किया हुआ है। दुनिया भर के सारे ईसाइयों का एक ही श्रद्धा-स्थान 'ईसा मसीह' है। फिर उन लोगों में राजकीय विचार अथवा प्रदेशों के अनुसार कितनी भी भिन्नता हो, एक श्रद्धा-स्थान होने के कारण वे एकत्र आ गए – यह एक सत्य है। यह यदि स्पष्ट है और हमें अपना समाज संगठित करना है तो समाज के सामने एक श्रद्धा-स्थान होना चाहिए। वह कौन सा हो सकता है?

हमारे भाग्य से जिस भूमि पर हम रहते हैं, वह अपनी मातृभूमि अपना श्रद्धा-स्थान है। सदियों से हम इसे 'माता' के रूप में पूजते आए हैं। इसका एक-एक कण हमारे लिए अति पवित्र और वंदनीय है। यह ईश-सामर्थ्य से ओतप्रोत है– ऐसी हमारी मान्यता है। इसकी धूलि में लोट लगाने के लिए भगवान अवतार लेते हैं। ऐसी महिमामयी भारतभूमि के हम पुत्र हैं, यही भाव हमारी एकता, एकात्मता और संगठन का जागृत सूत्र है।

कोई-कोई कह सकते हैं कि बाकी समाज किसी एक व्यक्ति को श्रेष्ठ मानते हैं। अपने यहाँ भी इस प्रकार क्यों नहीं होना चाहिए? अपने यहाँ इसपर पहले ही विचार हो चुका है। प्रत्येक व्यक्ति की प्रकृति भिन्न प्रकार की होती है। रहने के स्थान, जीवन-निर्वाह के साधन भिन्न-भिन्न रहेंगे। उसके रहन-सहन, खान-पान में भिन्नता रहेगी। इसलिए जीवन-निर्वाह की व्यवस्था और जीवन-लक्ष्य की प्राप्ति के मार्ग भी भिन्न-भिन्न रहेंगे। एक मार्ग से काम चल नहीं सकता। इन सब बातों को ध्यान में रखकर ही व्यक्ति को जीवन-सुरक्षा और जिस भी स्थिति अथवा अवस्था में हैं, उसमें जीवन के अंतिम लक्ष्य को प्राप्त करने में सुविधा हो, इस दृष्टि से चातुर्वण्य व्यवस्था व सैंकड़ों प्रकार के संप्रदायों का निर्माण हुआ। इसलिए ये संगठन के आधार नहीं हो सकते।

अब किसी से कहा कि वह राम व कृष्ण– दोनों की भक्ति करे।

वह दो की भक्ति नहीं करेगा, एक की ही करेगा। समर्थ रामदास पंढरपुर भगवान के दर्शन करने गए। किंतु विठ्ठल भगवान को प्रणाम नहीं किया। संत तुलसीदास वृंदावन पहुँचने पर भगवान कृष्ण को प्रणाम नहीं कर सके। जब विठ्ठल और श्रीकृष्ण ने श्रीराम के रूप में दर्शन दिए तभी समर्थ रामदास व संत तुलसीदास ने प्रभु-विग्रह को प्रणाम किया। माथे पर लगाई गई छाप खड़ी हो कि आड़ी, इसे लेकर विवाद होते हैं। धर्म के आधार पर भी एकता निर्माण हो सकती है, पहले भी थी। परंतु पहले उसके लिए अनुकूल वातावरण निर्माण करना होगा।

त्रिविध भक्ति

पहले भी यहाँ एक उन्नत राष्ट्रजीवन विकसित हुआ है, जिसने न केवल मानव, बल्कि सृष्टि के अणु-रेणु के प्रति संवेदना और एकात्मता का अनुभव किया। ऐहिक और पारलौकिक श्रेष्ठता के उच्चतम मानदंड स्थापित किए। इस विषय में आई विस्मृति का त्याग कर अपने सब के लिए आधारभूत यह अपनी मातृभूमि, उसके पुत्र रूप में रहनेवाला यह अपना हिंदूसमाज और इसको मिलकर बना अपना चिरंतन राष्ट्र-जीवन है। इसलिए यह हिंदूराष्ट्र है। यह त्रिविध भक्तिभाव ही सत्य है। इस त्रिविध भक्तिभाव के आधार पर ही अपने इस समाज में फिर से एक संगठित जीवन निर्माण करना है। इस सत्यों को छोड़ कर यावच्चंद्रदिवाकरौ भी प्रयत्न किए तब भी समाज संगठित नहीं हो सकता। इसलिए इस त्रिविध भक्तिभावों को जागृत करते हुए उनको दृढ़ करना अपना कार्य है।

मातृभूमि के प्रति भक्ति की बात जब कहते हैं तो हमें सोचना चाहिए कि बोलने के लिए तो यह सरल है कि यह अपनी मातृभूमि है, इसका परिपूर्ण रूप जगत् के सामने खड़ा करेंगे। किंतु कठिनाई तब आती है, जब कोई अपने सामने प्रश्न रखे कि तुम यह बात कहते हो, परंतु इसका अंग एक के बाद एक पृथक हुआ, उसकी तुम्हारे हृदय में कितनी व्यथा है? मातृभूमि की भक्ति करें और उसके अंग टूटते जाएँ फिर भी दुःखी न होते हुए आनंद से उसको स्वीकार करें- यह असंभव बात है। इसलिए मुँह से केवल भक्ति की बात न निकले। हृदय के अंदर वास्तविक रीति से वह भाव है, इसकी परीक्षा करने का एक निकष यह है कि पिछले हजार-पंद्रह सौ वर्षों से अपनी इस पवित्र भूमि का छिन्न-विच्छिन्न हुआ, उसका क्षोभ अपने मन में उत्पन्न होता है कि नहीं। जिसके प्रति अपने मन

में सद्भाव है उसका कोई अपमान करे, आघात करे अथवा उद्दंडता का व्यवहार करे, उसे उचित प्रत्युत्तर देने के निश्चय को अपने अंतःकरण में धारण कर अपने जीवन को चलाने के लिए कटिबद्ध होना, भक्ति का लक्षण है।

महाभारत का युद्ध द्रौपदी के अपमान के कारण ही तो हुआ था। अपमान भूलकर समझौता करना चाहिए, ऐसा सुझाव भी आया था। वार्ता करने के लिए हस्तिनापुर जाते समय श्रीकृष्ण से द्रौपदी ने पूछा– 'मेरा जो अपमान हुआ है वह युधिष्ठिर भूल गए होंगे, लेकिन तुम भी भूल गए क्या?' श्रीकृष्ण ने कहा– 'मैं नहीं भूला। भूल जाने की संभावना भी नहीं है। समझौता करने की शक्ति होते हुए भी युद्ध किया– ऐसा आक्षेप नहीं रहना चाहिए, इसलिए जा रहा हूँ। यदि युधिष्ठिर भूल गए, तब भी मैं स्वयं युद्ध कर, तुम्हारे अपमान का बदला लूँगा।' उन्होंने स्वयं युद्ध का संचालन करते हुए द्रौपदी के अपमान का बदला किस प्रकार लिया, यह हम जानते हैं।

हम लोगों को अपने हृदय में यह संकल्प धारण करके चलना है कि हमारी मातृभूमि का वह भाग यद्यपि हमसे पृथक हो गया है, पर हम एक बार फिर से भारतमाता की वही परिपूर्ण मूर्ति संसार के सामने खड़ी करेंगे। इस संकल्प के विपरीत भाव मन में होना, अच्छे पुत्र के लक्षण नहीं हो सकते। उसे कुपुत्र ही कहना पड़ेगा। अपना प्रत्येक हिंदू सुपुत्र रहे, कुपुत्र न रहे– यह भाव, यह आकांक्षा, यह निश्चय प्रत्येक के अंतःकरण में प्रबलता से जागृत रखने के लिए हमें प्रयत्न करना है।

संपूर्ण समाज को हमने अपना कहा है। पर क्या हम सब एक माता के पुत्र हैं, इस तरह का हमारा व्यवहार वास्तव में है? वर्तमान में तमाम प्रकार के भेद हमारे यहाँ उपस्थित हैं। व्यवहार तो भेदभावपूर्ण है ही, सामान्य बातचीत में भी हम एक-दूसरे को नीचा दिखाने की कोशिश करते हैं। उसी प्रकार के किस्से भी गढ़ लिए हैं। बच्चों के मन में भी प्रारंभ से ही जाने-अनजाने इस प्रकार का विष भरते हैं।

नागपुर की घटना है। एक बैठक के निमित्त मैं एक कार्यकर्ता के यहाँ गया था। बाद में चाय-पान के समय परिवार के बाकी सदस्य भी आकर बैठे। उनके घर में लगभग दो साल की एक छोटी बच्ची थी। बड़ी मीठी-मीठी बातें कर रही थी। अपने में से एक कार्यकर्ता ने उससे कहा, 'तुम्हारे पास जो बैठे हैं, उन्हें हाथ मत लगाना। वे बहुत काले हैं। हाथ लगाओगी तो तुम भी काली हो जाओगी।' कभी गलती से उस बच्ची का

हाथ छू जाता तो वे कहते, 'देखो, तुमने छू दिया। इससे तुम्हारे हाथ पर काला दाग पड़ गया है।' बात मजाक में चल रही थी, परंतु उसका परिणाम यह हुआ कि वह बच्ची अपना हाथ रगड़-रगड़कर कपड़े से पोंछती। यह बात उसके अंतर्मन में बैठ जाएगी और बड़े होने पर काले आदमी के प्रति उसके मन में अकारण ही घृणा का भाव रहेगा।

इसी तरह जातियों आदि को लेकर कई प्रकार की कथाएँ चलती हैं। उपहास में कही गई कथाएँ उस जाति के प्रति एक विशिष्ट पूर्वाग्रह उत्पन्न कर देती है। इस सबके कारण आपस में प्रेम का जो अस्तित्व चाहिए, वह नहीं रहता। अपने मन की क्या अवस्था है? क्या अपने को इस बात की अनुभूति होती है कि समाज का एक-एक व्यक्ति चाहे व शहर का हो अथवा वनवासी, शिक्षित हो अथवा अशिक्षित, मेरा अपना है। किसी भी कारण से मेरी आत्मीयता में कोई कमी नहीं आनी चाहिए।

मेरे परिचित एक सज्जन थे। वे अस्पृश्यता-निवारण का कार्य करनेवाली संस्था से जुड़े थे। एक आमसभा में उन्होंने जोरदार भाषण दिया। सभा अभी चल ही रही थी कि अस्पृश्य समझे जाने वालों में से एक मंच पर चढ़ आया। उसके हाथ में पानी भरा गिलास था। उसने कहा, 'महाराज, आपने बहुत अच्छी बात कही है। आप मेरे हाथ का पानी पीकर बता दीजिये कि आपकी बात में सत्यता है।' अब उनके सामने समस्या खड़ी हो गई– पानी पियें या न पियें। यदि पानी पीता हूँ तो जातिवाले जातिच्युत कर देंगे और पानी नहीं पीता हूँ तो भरी सभा में नाक कट जाएगी। सब मुझपर थूकेंगे। उन्होंने उसके हाथ से पानी का गिलास लिया और पानी पीने का नाटक करते हुए चतुराई से सारा पानी नीचे गिरा दिया। दूर से देखनेवालों ने यही समझा कि अछूत के हाथ का पानी पीकर यह तो भ्रष्ट हो गया। सभा समाप्त कर वे घर गए और पंडितों को बुलाकर सक्षौर (बाल कटाकर) प्रायश्चित किया। फिर से जब तक मूँछ नहीं आईं, वे घर के बाहर नहीं निकले।

इस प्रकार का व्यवहार प्रामाणिकता का नहीं है। ऐसे नाटक करने का कोई लाभ भी नहीं। इससे मनुष्य की सच्चाई नष्ट होती है। जहाँ सच्चाई नहीं, वहाँ शब्दों में बल नहीं रहता। इतना ही नहीं, जो प्रामाणिकता से काम करने वाले होते हैं उनके कर्तृत्व पर भी प्रश्नचिह्न लग जाते हैं। अतः ऊपरी तौर पर नहीं, वास्तव में ही हृदय एक हो जाने चाहिए। छत्रपति शिवाजी महाराज ने मिर्जा राजा जयसिंह को पत्र लिखा था, उसमें

एक वाक्य है – 'दो हृदय अगर एक हो जाएँ तो पहाड़ तोड़ सकते हैं।' यहाँ तो ३५ करोड़ हिंदू समाज है, यदि इतने हृदय एक हो जाएँगे, तब उसमें से कितनी भारी शक्ति निर्मित होगी? हमारे ३५ करोड़ हिंदू समाज के हृदय में परिवर्तन, जीवन में परिवर्तन और उसके द्वारा अभेद्य अजिंक्य सामर्थ्य का निर्माण करना ही संगठन का कार्य है।

संघ शिक्षा वर्ग, १९६४

(२)

मेरे एक मित्र कहा करते थे कि हम ऐसे हैं और ऐसे ही रहेंगे, अर्थात् बेढब हैं, बेढब रहेंगे। हमारे में जन्मतः भिन्न-भिन्न प्रकार के गुण-अवगुण होते हैं। उसी को लेकर हम चल सकते हैं, उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन संभव नहीं। अब हम जैसे हैं, हमारा उपयोग कर लो। मैंने उन्हें बताया कि घर के प्रवेशद्वार पर पैर साफ करने के लिए पायदान बिछा रहता है। उसपर कभी-कभी अंग्रेजी में 'यूज मी' लिखा रहता है। पायदान पर लिखा 'यूज मी' तो समझा सकता है, परंतु तुम तो उसके समान निर्जीव और बुद्धिशून्य नहीं हो। अच्छे-खासे आदमी हो। हम लोगों को तो कहना चाहिए कि जिस प्रकार की आवश्यकता होगी, उसके अनुसार अपने में उचित परिवर्तन करूँगा। कम से कम जिसने अपने जीवन में कोई लक्ष्य लिया है, उसने अवश्यमेव अपने में परिवर्तन करने की तैयारी रखनी चाहिए।

यह ठीक है कि कार्यकर्ता अनेक प्रकृति व विकृति के लोगों को उनके गुणावगुणों का उपयोग करते हुए अपने साथ लेकर चलता है। यह उसकी बुद्धिमत्ता, कौशल्य व सामर्थ्य है। इसका अर्थ यह नहीं है कि बाकी के लोग कहें कि वह हमारा उपयोग कर लेगा, हम अपने को कोई कष्ट क्यों दें। अपने संघनिर्माता का ही उदाहरण हमारे सामने है। बड़े उग्र स्वभाव की वंश-परंपरा और घराने में उनका जन्म हुआ था। क्रोध व उग्रता विरासत में पूरेपूर प्राप्त थी। वाणी भी बड़ी तीखी थी। वे किसी प्रकार का अन्याय सहन कर ही नहीं सकते थे। आवश्यकता पड़ने पर दो-दो हाथ करने में भी पीछे नहीं रहते थे। जब वे राजनीतिक क्षेत्र में काम करते थे, तब के उनके भाषण अत्यधिक चुभनेवाले हुआ करते थे। अंग्रेज सरकार के खिलाफ उनके भाषण अंगार के समान होते थे। ऐसे ही एक उग्र भाषण

के कारण उनके विरुद्ध अभियोग चला। उन्होंने न्यायालय में स्वयं अपना बचाव किया था। न्यायाधीश के सम्मुख बचाव का जो भाषण दिया, वह इतना उग्र था कि न्यायाधीश को कहना पड़ा– 'इनके बचाव का भाषण मूल भाषण से अधिक आक्रामक है।' परंतु सब प्रकार का विचार करके संगठन करने का अपने मन में निश्चयकर कार्य का सूत्रपात किया, उसके बाद सब प्रकार की उग्रता को त्याग दिया। वाणी की तीव्रता तो दूर, किसी प्रकार का प्रतिवाद तक नहीं करते थे।

तन-मन की शुचिता आवश्यक

हमें ध्यान रखना चाहिए कि जीवन में शरीर और मन– दोनों की शुद्धता आए। आज देखने में यह आता है कि व्यक्ति शरीर की ऊपरी शुद्धता पर ही अधिक ध्यान देता है। परंतु जब मन अशुद्ध हो, तब बाहरी शुद्धता का कोई मतलब नहीं रह जाता। यह वैसे ही हो गया कि गंगा जी में डुबकी लगाई, फिर भी पापी वैसा का वैसा पापी रह जाए। श्री रामकृष्ण परमहंस से किसी ने पूछा, 'ऐसा कहते हैं कि गंगा में स्नान करने से सारे पाप कट जाते हैं? इतने सारे लोग रोज गंगास्नान करने के बाद भी स्वर्ग क्यों नहीं जाते?' श्री रामकृष्ण के जवाब विनोदी हुआ करते थे। उन्होंने उत्तर दिया, 'लोग स्नान करने जब गंगाजी के निकट जाते हैं, तब वहाँ के पवित्र वायुमंडल के भय से उनके शरीर के सारे पाप उड़कर पास के पेड़ पर बैठ जाते हैं और जब वे स्नान कर वापस लौटते हैं तब फिर से उनपर सवार हो जाते हैं। मन से कोई गंगा स्नान नहीं करता तो मन अशुद्ध ही रहता है।' अपने को दोनों दृष्टि से योग्यता प्राप्त करनी है।

संघ शिक्षा वर्ग, १९६४

(३)

कार्य की निरंतरता का रहस्य

अपने हिंदू समाज को संगठित करने का संकल्प मन में लेकर कई महापुरुषों ने प्रयत्न किए। वह प्रयत्न कुछ समय तक चले, परंतु बाद में बंद हो गए। उसका एक ही कारण दिखाई देता है कि वे सारे प्रयत्न स्वयं के जीवित्व का विचार कर प्रारंभ हुए थे। वे महापुरुष जानकार थे, कर्तृत्ववान थे, मगर चिरंजीव नहीं थे। इस संसार में अजरामर कोई नहीं है। कोई हो

भी नहीं सकता। जो अवतारी पुरुष हुए हैं, उन्हें भी अपने पंचभौतिक शरीर का त्याग करना पड़ा। तब साधारण मनुष्य की क्या बिसात? उस अटल नियम के अनुसार उन कर्तापुरुषों को जाना पड़ा। उनके पश्चात् उनका काम आगे बढ़ाने के लिए उनके जैसी भव्य कल्पना और उद्दंड कर्तृत्व रखनेवाला उत्तराधिकारी न मिलने के कारण उनके द्वारा शुरू किया काम आगे नहीं बढ़ पाता और अच्छा-भला काम थम जाता है।

ऐसा केवल अपने देश में हुआ है – ऐसी बात नहीं है। सभी जगह और सभी संस्थाओं का ऐसा ही होता है। अल्पजीवी होने के कारण कर्तापुरुष के कालवश हो जाने के बाद उस संस्था का प्रभाव कम होने लगता है और धीरे-धीरे पूरी तरह नष्ट हो जाता है। तब मनुष्य यह मानकर अपना समाधान कर लेता है कि भगवान की यही योजना थी, पर अपने इस पराभव को स्वीकार नहीं करता कि उस को वंश-परंपरा से चलाए नहीं रख सके।

विचार करने की बात यह है कि उत्तम विचार, उदात्त लक्ष्य होने के बाद भी संस्थाओं के साथ ऐसा क्यों होता है? गहराई के साथ अध्ययन करने के बाद अपने ध्यान में आएगा कि संस्था को समझदार, कर्तृत्ववान योग्य कार्यकर्ताओं की परंपरा प्राप्त नहीं हुई, अन्यथा वे संस्थाएँ अच्छी तरह चलतीं और अपेक्षित समाज-कल्याण उनसे सिद्ध होता। संस्था के चिरंजीवी होने की यह अनिवार्य शर्त है कि वंश-परंपरा से कार्यकर्ताओं की सतत भरती होती रहे। संघ की दृष्टि से विचार करते समय यह संकल्प लेना होगा कि इस शर्त को हम पूरा करेंगे।

दिन-प्रतिदिन की अपनी शाखा से अनुशासनबद्ध समाज और प्रबल राष्ट्रभक्ति का आविष्कार करना अपना कार्य है। इसके अभाव में इस जगत् में सम्मान से रहना तो दूर रहा, जीवित रहना भी कठिन होगा।

पूर्व और पश्चिम की सोच का अंतर

सर्वप्रथम यह ध्यान में रखना होगा कि राष्ट्र-संवर्धन के लिए हम जिस प्रचंड सामर्थ्य को खड़ा करना चाहते हैं, उसका अंग-प्रत्यंग शुद्ध रहना चाहिए। वह शुद्ध रहा तो ही सामर्थ्य शुद्ध रहेगा। यंत्र का एक भी पुर्जा कमजोर रहने पर संपूर्ण यंत्र निकामी हो जाता है। अर्थात् राष्ट्रीय सामर्थ्य का एक भाग– इस नाते अपने में सब प्रकार की शुद्धता होनी चाहिए। जिसे लोग चारित्र्य कहते हैं, वह निरपवाद होना चाहिए।

लोग पूछते हैं कि जिन्होंने यहाँ आकर यश प्राप्त किया, ऐसे मुसलमान, अंग्रेज (ईसाई), डच, पोर्तुगीज चारित्र्यवान थे क्या? उनके द्वारा किए हुए पापकर्मों की तो कोई सीमा नहीं। इसलिए व्यक्ति इस नाते वह क्या करता है, यह उतने महत्त्व की बात नहीं है, जितनी यह कि राष्ट्र के नाते उसका व्यवहार कैसा है? राष्ट्रीय कर्तव्य को पूरा करने के पश्चात् व्यक्तिगत जीवन में वह क्या करता है, यह उतने महत्त्व की बात नहीं है, किंतु यह भारतीय विचार नहीं, अहिंदू विचार है। सही बात तो यह है कि इस विषय में अंग्रेज आदि का जो उदाहरण दिया जाता है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि राष्ट्र इस नाते से उनकी अभी शैशवावस्था है। बचपन में बच्चे उछल-कूद करते ही हैं। उतने से अपने को लगता है कि उनका कितना पराक्रम है। अभी कुछ समय बीत जाने दें। उनका राष्ट्रजीवन यशस्वी हुआ है अथवा नहीं, इसकी परीक्षा होगी। आज की ही बात लें। जिन अंग्रेजों का प्रशस्तिगान करते कुछ लोग थकते नहीं, हम उनके साम्राज्य का सूर्यास्त होते देख ही रहे हैं। एक राष्ट्र के नाते ३०० वर्ष ही हुए होंगे कि टूटन आने लगी। कुछ वर्ष पूर्व एक अमरीकी समाचार-पत्र के संवाददाता मुझसे मिलने आए थे। उन्होंने प्रश्न किया, 'अमरीकी जीवन के बारे में आपका क्या मत है?' मैंने कहा, 'मेरा मत आपको पसंद नहीं आएगा। आपके कदम सर्वनाश की ओर अग्रसर हो रहे हैं।' उन्होंने पूछा, 'हमारे बारे में आपका ऐसा मत क्यों बना?' मैंने बताया, 'आपकी सारी सामाजिक व्यवस्थाएँ टूट रही हैं। नीति-अनीति का विचार लुप्तप्राय है। चारित्रिक दृष्टि से व्यक्ति गिरता जा रहा है। अत्यधिक सुखलोलुपता की ओर बढ़ते कदम सर्वनाश का कारण बनेंगे।' एक दूसरा कारण भी उन्हें बताया, वह यह कि 'आपके लिए हमारे मन में आदर-प्रेम क्यों रहे? आपकी विदेश-नीति कभी सफल नहीं रही। जिस किसी राष्ट्र में आप लोगों ने हस्तक्षेप किया, उसका अहित किया। कोरिया, लाओस, वियतनाम इसके प्रत्यक्ष प्रतीक हैं। हमारे ही देश के एक भाग को कुटिलता से काटकर बनाए गए पाकिस्तान को हमारे विरुद्ध सब प्रकार की सहायता देते हैं। हमारे शत्रु का पोषण करनेवाले को हम अच्छा कैसे मानें? आपकी इस प्रकार की नीति के कारण एक समय आएगा, जब ये सारी शक्तियाँ आपके विरुद्ध उठ खड़ी होंगी, तब आपका विनाश हो जाएगा।' जहाँ कहीं व्यक्तिगत चारित्र्य की ओर दुर्लक्ष्य किया जाता है, उसका विनाश अवश्यंभावी है। आज बड़े-बड़े राष्ट्र दिखाई देते हैं, उनकी बुलंद इमारत अंदर से खोखली है। भारतीय विचार-प्रणाली में अंतर्बाह्य शुद्धता की आवश्यकता बताई गई है।

पथ-प्रदर्शनों की परंपरा

अपने इतिहास का अवलोकन करने पर यही देखने को मिलेगा कि बड़े-बड़े पुरुष उत्पन्न हुए, बड़े-बड़े शूर हुए, उन्होंने बड़े-बड़े पराक्रम किए। राजसत्ता स्थापित की। उस सबके पीछे शुद्ध चरित्र, ज्ञानसंपन्न, स्वार्थविहीन होकर अपना जीवन चरितार्थ करने वाले जो त्यागी ऋषि-मुनि हुए, उन्होंने भूमिका तैयार की थी। जिसके अधिष्ठान पर राजसत्ता, दंडसत्ता खड़ी हो सकी।

पूर्वकाल में जो ऋषि हुए, उन्होंने यज्ञ की विधि बताई। जीवन में यज्ञ का महत्त्व कम होने के बाद वही कार्य संन्यासियों ने किया। श्री शंकराचार्य ने एक जीवन-पद्धति का आविष्कार कर उसका पोषण करने के लिए दस प्रकार के संन्यासियों की व्यवस्था की। कुछ को नगरों में रहने का आदेश दिया तो कुछ को जंगलों में, कुछ को तीर्थस्थानों पर रहने को कहा तो कुछ को निरंतर भारत-भ्रमण करने का आदेश दिया। इस परंपरा में जीवन व्यतीत करनेवालों ने व्यक्तिगत व्यामोहों को छोड़कर व भगवा धारण करके समाज-जागरण के कार्य को करना अपना श्रेष्ठ कर्तव्य माना।

शिवाजी का जन्म हुआ, उस काल में म्लेच्छों द्वारा हिंदू और हिंदुत्व का विध्वंस हो रहा था। उत्तर से दक्षिण तक का भ्रमण करते समय समर्थ रामदास जैसे महापुरुष ने उसे प्रत्यक्ष अपनी आँखों से देखा। उन्होंने देखा कि 'धर्म का विनाश हो रहा है। लोग भ्रष्ट होते जा रहे हैं। हिंदुओं का वैभव गया। कुलवधुएँ भ्रष्ट की जा रही हैं। आज खाने को मिल गया, पर कल की आशा नहीं रही। तीर्थस्थान गए कुछ भी शेष नहीं रहा, ऐसी भीषण परिस्थिति है।' उन जैसे संन्यासी भी देश की परिस्थिति देखकर इतने व्यथित हुए, तब सामान्य आदमी की क्या मनोदशा होगी? वह अपना जीवन चलाने के लिए सारे अपमानों को सह रहा था। ऐसे समय में देश में तुलसीदास, कबीरदास, रामानंद, चैतन्य महाप्रभु जैसे संतों की परंपरा खड़ी हुई, जिसने ईश्वर भक्ति के माध्यम से लोगों में जागृति लाई और नवसंचार कर आशा की किरण दिखाई। भजन-कीर्तन, यात्रा-जुलूसों के लिए लोग एकत्र आने लगे। अंततः धर्म की जय होगी— इस आश्वासन ने लोगों का विश्वास बढ़ाया। समर्थ रामदास ने तो प्रत्यक्ष में मठ और देवालयों की स्थापना कर सारी परिस्थितियों का सामना कर सकने लायक योग्य व्यक्तियों का निर्माण कर, शिवाजी के लिए अनुकूल वातावरण तैयार किया।

धैर्य व विश्वास

ऋषियों से लेकर संतों तक, पद्धति कोई भी रही हो, उसका बाह्य स्वरूप कुछ भी रहा हो, परंतु अंतरंग एक ही है– किसी प्रकार से लोक-जागरण, एकता के सूत्र का बोध और संगठन कर परिस्थिति का सामना करते हुए समाज को संकटों से उबारना। चारों तरफ अनेक प्रकार के कोलाहल, अराजकता, अन्याय, अत्याचार दिखाई देते हुए भी अपने संघनिर्माता ने बहुत सोच-समझकर हिंदू जीवन-पद्धति के अनुकूल समाज के सत्व जागरण और संगठन का प्राचीन मार्ग चुना। अपने यहाँ राजसत्ता के द्वारा कभी भी परिवर्तन हुआ नहीं, कभी होता भी नहीं। इसीलिए डाक्टर जी ने केवल अंग्रेजों को हटाने अर्थात् राजसत्ता बदलने को अधिक महत्त्व नहीं दिया। उन्होंने अपने पुराने ढाँचे पर एक नई पद्धति की रचना करके मार्ग बताया।

कुछ लोग कहते हैं कि यह मार्ग तो काफी लंबा है। इतने समय तक धैर्य और साहस रखना कठिन है। किसी कारण से व्यक्ति मार्ग से हट भी सकता है अथवा टूट सकता है, किंतु यह ध्यान रखना चाहिए कि किसी भी प्रकार की उतावली से हम लोगों को दूर रहना चाहिए। उतावली से यह काम होनेवाला भी नहीं। काम शीघ्र होने का एक ही रास्ता है कि हम एड़ी-चोटी का जोर लगाकर काम करें। यह तो यावज्जीव करने का काम है। इसकी पूर्ण अवस्था प्राप्त भी कर ली तो उसको सुव्यवस्थित रखने और संरक्षण करने के लिए सतर्क रहना होगा।

अपने यहाँ जीवन का अंतिम लक्ष्य प्राप्त करने के लिए मन को एकाग्र करने का मार्ग बताया गया है। उस मार्ग के परमाचार्य ने यह भी बताया कि अभ्यास जीवनभर करना पड़ेगा, तभी अपने हृदय की भूमि स्थिर बनी रहेगी, अन्यथा नहीं। इस बारे में स्वामी विवेकानंद जी एक कथा बताया करते थे– केवल वर्षानुवर्ष ही नहीं, वरन् जन्म-जन्मों से कुछ तपस्वी तप कर रहे थे। उनकी कुटी के सामने से देवर्षि नारद का निकलना हुआ। उनकी वीणा की झंकार सुनकर तपस्वी ने कहा– देवर्षि के दर्शन हुए, यह तो शुभ लक्षण है। उसने पूछा, 'देवर्षि आप किधर जा रहे हैं?' नारद जी ने उत्तर दिया, 'मैं भगवान विष्णु के दर्शन करने जा रहा हूँ।' तपस्वी ने कहा, 'यह तो बहुत अच्छी बात है। आप मेरा एक काम करेंगे?' नारद जी के 'हाँ' कहने पर उसने कहा, 'आप भगवान विष्णु के पास जा

रहे हैं, उनसे मेरी ओर से एक प्रश्न पूछिए, मुझे उनके दर्शन की अभिलाषा में तपस्या करते हुए कई जन्म बीत चुके हैं। दर्शन होने में अब कितने वर्ष बाकी हैं?' आगे बढ़ने पर दूसरा तपस्वी मिला। उसने भी नारद जी से यही निवेदन किया। भगवान के दर्शन कर जब देवर्षि वापस लौटे, तब पहले तपस्वी ने पूछा, 'मेरे प्रश्न का क्या हुआ?' नारद जी ने कहा, 'भाई, मैंने भगवान से पूछा था। उन्होंने कहा तुम्हारे मन में बहुत विपरीत संस्कार बैठे हुए हैं। उन्हें निकलने में बहुत समय लगेगा।' उसने पूछा 'बहुत याने कितना समय लगेगा?' नारद जी ने बताया कि भगवान ने कहा है, 'जिस पेड़ के नीचे बैठ कर वह तपस्या कर रहा है, उस पेड़ पर जितने पत्ते हैं उतने जन्म अखंड तपस्या करने पर मेरे दर्शन होंगे।' यह सुनकर वह तपस्वी आनंद से नाचने लगा। नारद जी ने उससे पूछा, 'अरे, तुम प्रसन्न हो रहे हो। उन्होंने तो अगणित जन्म के लिए कहा है। इसमें प्रसन्न होने की कौन सी बात है?' तपस्वी ने उत्तर दिया, 'देवर्षि, यह बात तो पक्की हो गई कि मुझे भगवान के दर्शन होंगे। मेरी तपस्या व्यर्थ नहीं जा रही।' आगे चलकर दूसरा तपस्वी मिला। नारद जी ने उसे भगवान का संदेश बताया– 'तुम्हें अभी चार जन्म बाकी हैं।' दूसरा तपस्वी तो चार जन्म बाकी होने की बात सुन दुःखी हो, माथा पीटकर रोने लगा। वह बोला, 'यह अच्छा न्याय है। उनके दर्शन के लिए इतने जन्म बरबाद करके तपस्या की और वे कहते हैं कि अभी भी चार जन्म बाकी हैं। चार जन्म बाद का भी क्या भरोसा, फिर कुछ बहाना न कर दें। मैं ऐसे भगवान की प्रतीक्षा में अपना जीवन नष्ट नहीं कर सकता।' इतना कह वह जंगल छोड़कर घर चला गया। कथा कहती है कि पहलेवाले तपस्वी का दृढ़ भाव व विश्वास देखकर भगवान तत्क्षण प्रकट हुए और उसे दर्शन दिए।

अपने कार्य के बारे में भी स्वयंसेवक इसी प्रकार की बातें करते हैं। कोई कहते हैं कि डाक्टर जी ने कहा था कि हम अपने इसी जीवन में 'याचि देहि, याचि डोळा' संघकार्य की पूर्ति देखेंगे, परंतु वह तो चले गए। इतना ही नहीं उनके जाने के बाद २४ वर्ष हो चुके हैं, फिर भी अपना काम जारी है। यह क्षितिज की तरफ बढ़ने जैसा तो नहीं कि जितना आगे जाओ, वह उतना ही दूर होता जाता है। कभी हाथ नहीं आता। मगर ऐसा नहीं है। अपने संघ का काम शून्य से प्रारंभ हुआ था। पहले नागपुर में कितने लोग थे, यह इतिहास आपने सुना होगा। ऐसा कोई काम शुरू हुआ है– लोगों को इसकी कल्पना भी नहीं थी। फिर लोग जानने लगे।

पहले उपेक्षा हुई। फिर संघ से जिनको पंडागिरी अथवा स्वार्थसिद्धि के लिए खतरा अनुभव हुआ, उनके क्रोध और विरोध का शिकार होना पड़ा। संघ की शक्ति देखकर कुछ ने इसका अपने लिए उपयोग करने का प्रयास किया। असफल होकर इसे जड़-मूल से उखाड़ने का प्रयत्न भी किया। अब लोगों को लगने लगा है कि इसको नगण्य मानकर चलेगा नहीं। अपने को तो किया हुआ कार्य और उसका परिणाम प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है। अतः निराश होने या उतावली में आने की कोई आवश्यकता नहीं है।

संघ शिक्षा वर्ग, १९६५

(१)

वैसे तो आप पूरी तैयारी से ही संघ शिक्षा वर्ग करने आए होंगे। इसलिए यहाँ के कार्यक्रम करने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं आनी चाहिए। शारीरिक कार्यक्रमों का पौरुष, निर्भयता, साहस, उत्साह निर्माण करने के लिए बड़ा महत्त्व है। अपनी-अपनी शाखाओं में इन कार्यक्रमों को ले सकें, इसलिए इनको ठीक ढंग से सीखना चाहिए। शरीर में सामर्थ्य तो हो ही, इसके अलावा कार्यक्रमों को मनःपूर्वक करना भी आवश्यक है, तभी इनको सीख सकेंगे। गत वर्ष एक स्वयंसेवक वर्ग करने आया था। दो बच्चे होंगे, इतनी उसकी आयु थी। किंतु समता करते समय उसके हाथ और पैर जिस रीति से चलने चाहिए, चलते नहीं थे। शिक्षक ने बहुत प्रयास किया, पर वह सीख न सका। प्रयत्न करने पर भी कोई सीख न सके, तो उसका एक ही कारण होता है कि सीखनेवाले ने सीखने में अपना पूरा मन नहीं लगाया।

मेरा एक अनुभव है- अपने ऐसे ही एक वर्ग में संघ का नाम भी न सुने हुए कुछ युवक आए थे। वे ठेठ ग्रामीण क्षेत्र के थे। उन्होंने रेलगाड़ी के दर्शन तक नहीं किए थे। अपने संघनिर्माता रेल से आने वाले थे। उन्हें लेने मेरे साथ उनमें से कुछ स्वयंसेवक आए थे। रेलगाड़ी आने पर ये लोग एक छोर से दूसरे छोर तक दौड़ते रहे। पूछने पर उन्होंने बताया कि वे यह देख रहे हैं कि इतनी बड़ी गाड़ी को कितने बैल खींचते हैं। वे इतने कोरे थे। बाकी के सब लोग उन पर हँसते थे, परंतु ऐसे लोगों ने भी एक माह में सारे कार्यक्रम सीख लिये, जबकि उन दिनों शिक्षाक्रम आज से अधिक विस्तृत था। वहाँ अंतिम दिन जो प्रदर्शन हुए, उन्हें देखकर आसपास के

लोग अवाक् रह गए। अतः कार्यक्रम करते समय उनपर मन की एकाग्रता होनी चाहिए।

संघ का दूसरा अंग है– संघ की विचारधारा। संघ की विचारधारा को समझना और उसे आत्मसात करना अनिवार्य है। कार्य का बाह्य स्वरूप भी समझना आवश्यक है, परंतु केवल बाह्य स्वरूप समझने से ही कार्य ठीक तरीके से नहीं हो सकेगा। एक सज्जन मेरे पास आए और बोले कि 'हमारे कुछ लोगों को प्रशिक्षण दो। शुल्क आदि जो होगा, हम देंगे।' मैंने कहा, 'आप अपने कार्यकर्ताओं को भेजिए, हम उन्हें प्रशिक्षण अवश्य देंगे। हम शिक्षा निःशुल्क ही देते हैं।' वह सज्जन बहुत प्रसन्न हुए, परंतु उनका एक भी कार्यकर्ता आया नहीं। बाद में मिलने पर मैंने पूछा, 'क्या हुआ? कोई भी नहीं आया।' उन्होंने बताया कि 'हमारे एक साथी ने मना कर दिया। उसका कहना है कि किसी को भेजना नहीं, क्योंकि जो भी संघ में जाएगा, वापस नहीं आएगा।' उन्होंने अपना काम चलाने की कोशिश की, किंतु कुछ दिनों बाद वह बंद हो गया।

कांग्रेस के अंग इस नाते से सेवादल चलता है। वह भी संगठन करने की दृष्टि से प्रयत्नशील है किंतु उनको भी यश मिलता नहीं। उसके प्रमुख एक बार मुझे मिले थे। उन्होंने कहा, 'आपका संघ चलता है, हमारा सेवादल नहीं चलता, इसका क्या कारण है?' मैंने कहा, 'आप अनुभवी हैं, आप ही बताइए।' वे बोले, 'आपने सब अच्छे-अच्छे लोग संघ में खींच लिए हैं। अब सेवादल चलाने के लिए कोई बचा ही नहीं।' मैंने कहा, 'ऐसी बात नहीं है। इतना विशाल अपना समाज है, इसमें गुणवान, बुद्धिवान लोगों की कोई कमी नहीं। संघ तो बहुत छोटा है। बहुत थोड़े लोग इसमें आए हैं। बाकी विपुल संख्या बाहर है। आपको उसमें से पर्याप्त कार्यकर्ता मिलेंगे। शेष समाज के बारे में इस प्रकार सोचना ठीक नहीं। सेवादल चले, इसके लिए आपके पास कोई लक्ष्य है कि कांग्रेस जो कहे उसके पीछे दौड़ना, उसके चुनाव कार्य में सहायता करना, सभाओं की व्यवस्था करना, इसके अलावा अन्य कोई लक्ष्य है क्या? कोई स्वतंत्र विचारधारा है क्या? एक राजनैतिक दल का पिछलग्गू बन कर कैसे चलेगा?' संघ की यही विशेषता है कि वह किसी राजनीतिक दल की दुम बनकर नहीं चलता। उसकी अपनी स्वतंत्र विचारधारा है। यदि कोई राजनीतिक दल संघ के निकट आने का प्रयत्न करे तो उस दल पर अपनी विचारधारा प्रस्थापित करने की इच्छा और शक्ति – दोनों भी हैं।

केवल कार्यक्रम से संगठन नहीं चलता। इसलिए केवल कार्यक्रमों को देखना ही पर्याप्त नहीं है। कार्यक्रम क्यों कराए जा रहे हैं, उसके पीछे का हेतु क्या है, इसका ज्ञान भी होना चाहिए। कार्य की शाश्वत प्रेरणा मिले, इसके लिए विचारधारा को समझना आवश्यक है। हमारा कार्य सरल है। वैसे ही हमारी विचारधारा भी सरल है, क्योंकि वह सत्य पर आधारित है। मन लगाकर समझने की कोशिश की तो समझने में कठिन नहीं है।

संघ शिक्षा वर्ग, १९६५

(२)

देश स्वतंत्र होने के पश्चात् राष्ट्रहित की दृष्टि से जो कार्य प्रथम करने चाहिए थे, उनपर किसी ने ध्यान तक नहीं दिया। जिनके मन में ऐसे विचार थे, वे परिस्थितिवश कुछ करना नहीं चाहते थे। ऐसे कामों में से एक हिंदूसमाज को संगठित करने का कार्य है। पूजनीय डाक्टर जी ने कहा— कोई करता नहीं तो न करे, मैं करूँगा। ऐसा दृढ़ संकल्प करते हुए उन्होंने कार्य शुरू किया।

संगठन उनका ही हो सकता है, जिनमें किसी प्रकार की सहज एकात्मता हो। एकात्मता का किसी कारण से लोप हो जाने पर उसे जागृत कर संगठन खड़ा करने की आवश्यकता रहती है। समाज के सुख-दुःख में शामिल होने और उसके लिए कुछ भी करने की तैयारी होने पर संगठन सुदृढ़ होता है। अर्थात् समाज के प्रति स्नेह, संगठन का मूल आधार है, फिर भी इतने मात्र से पर्याप्त होता नहीं। सद्विवेक बुद्धि और योग्य व्यवहार की भी आवश्यकता रहती है। ऐसा कहते हैं कि एक महिला का बच्चा अस्वस्थ हुआ। उसका पिता बच्चे को चिकित्सक के पास ले गया और उसने बताई हुई औषधि लाकर घर में रखी। नौकरी पर जाने का समय होने पर औषधि के बारे में अपनी पत्नी को बताया और कार्यालय चला गया। बच्चे की माँ को पर्याप्त ज्ञान न होने के कारण उसने दूसरी किसी बोतल की दवाई बच्चे को पिला दी। दुर्भाग्य से वह आयोडीन था। आयोडीन के कारण बच्चे की मृत्यु हो गई। माँ का प्रेम कम न था, परंतु उसके अज्ञान के कारण बच्चे की मृत्यु हुई। इसलिए केवल प्रेम से कुछ नहीं होता। कर्तव्य-अकर्तव्य बुद्धि भी चाहिए।

जैन तत्त्वज्ञान आत्यंतिक हिंसा-विरोधी है। जैन-सिद्धांत ने चार प्रकार की हिंसा मानी है। उनमें सांकल्पिक हिंसा को भी त्याज्य माना गया है। परंतु कोई अन्याय करने के लिए आता है, आघात कर हिंसा करता है, उस समय विरोध न कर जो चुप बैठ कर हिंसा करने देता है, वह स्वयं हिंसा करने में सम्मिलित माना जाता है। पाप करने वाले को पाप करने देनेवाला, पापी के बराबर का पापी है। भारतीय दंड विधान में भी इसे अपराध माना गया है। इसी प्रकार आत्मरक्षा करते समय हिंसा हो गई तो वह हिंसा नहीं होती। अपने यहाँ प्राचीन काल से कहा गया है कि जो आततायी है, उसको क्षमा करने की आवश्यकता नहीं। उसे योग्य दंड देना ही चाहिए। फिर आततायी कोई भी हो–

गुरुं वा बालवृद्धं वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतं।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्।।

(मनुस्मृति ८-३५०)

(अर्थ– गुरु, बालक, वृद्ध, ब्राह्मण अथवा ज्ञानी भी आततायी हो, तो बिना विचार किए, अर्थात् तत्काल उसे मारना चाहिए।)

हमारे नेताओं ने शब्दाडंबर खड़ाकर हिंसा-अहिंसा का अपने मतलब का अर्थ निकाला। बिना सोचे-समझे केवल अधूरेपन से कोई कार्य किया जाता है, तब उसके सुपरिणाम मिलने के स्थान पर दुष्परिणाम ही मिलते हैं। ऐसे ही कुछ बातों को हमारे नेताओं ने मन में बैठा लिया है, उसके दुष्परिणामों को देखने के बाद भी उसी की रट लगाए रहते हैं। वैसा ही अपने देश में अहिंसा को लेकर हो रहा है।

संघ शिक्षा वर्ग, १९६६

(१)

अपने शरीर के जो भिन्न-भिन्न अवयव हैं, उनका अपने शरीर के प्रति कर्तव्य है। सब अवयवों की यह जिम्मेदारी है कि इस देह का रक्षण एवं भरण-पोषण करें। कोई भी अवयव अपने कर्तव्य को नहीं छोड़ता। इसी प्रकार मैं राष्ट्र का एक घटक हूँ– इस बात को नित्य स्मरण रखना चाहिए। मैंने शारीरिक शिक्षण के एक तज्ञ के पास शिक्षा ग्रहण की है। दंडयुद्ध में अपने शरीर की रक्षा किस प्रकार करनी चाहिए, वह सिखाते थे। जब वे शिरोघात करते, तब मेरा हाथ अनायास ही सिर पर चला जाता

था। चोट लगकर हाथ टूट भी सकता है, फिर भी वह शरीर या कम से कम सिर को बचाने का प्रयास करता है। जिस प्रकार शरीर की रक्षार्थ हाथ सक्रिय रहता है, उसी प्रकार राष्ट्र की रक्षा के लिए राष्ट्र के प्रत्येक घटक को तैयार रहना आवश्यक है।

सारे घटक अभिन्न हैं— हमें इस भाव की अनुभूति करानी है। एक परिवार के घटक आपस में एक-दूसरे के सहयोगी होते हैं। अड़ोसी-पड़ोसी, मुहल्ले के लोग मिलकर एक विशाल परिवार बनता है। अंतःकरणपूर्वक सहायभूत बनने का प्रयत्न करें। उसके लिए आवश्यक कष्ट उठाएँ। पड़ोस में कोई बीमार हो, भूखा हो और उसकी कोई चिंता न करे, यह तो बड़ी दुःखपूर्ण स्थिति है। हम स्वयंसेवक हैं, यह कभी न भूलें। सबके घर जाएँगे और प्रेमपूर्ण व्यवहार कर सौख्यपूर्ण संबंध रखेंगे। अपने स्नेह का सबको अनुभव कराना चाहिए।

एक बार एक सायं शाखा पर जाना हुआ। उस शाखा की उपस्थिति पहले बहुत अच्छी थी, परंतु उस दिन काफी कम थी। पूछने पर मुख्यशिक्षक ने बताया – 'परीक्षा के कारण स्वयंसेवक ट्यूशन पढ़ने जाते हैं, वह क्लास शाखा के समय ही चलती है।' मैंने उन कार्यकर्ताओं से कहा, 'जब हम पढ़े-लिखे हों और हमारी शाखा के स्वयंसेवक दूसरों के पास पढ़ने के लिए जाएँ, इसमें तुमको लज्जा नहीं लगती।' मैंने उन्हें अपना उदाहरण बताया। जब मैं काशी हिंदू विश्वविद्यालय में प्राध्यापक था, उस समय सब स्वयंसेवकों से कह रखा था कि पढ़ाई के मामले में भय मत रखिए। जिस प्रकार की सहायता आवश्यक होगी, मैं करूँगा। अपने एक अच्छे कार्यकर्ता दिनभर संघ के काम में व्यस्त रहते थे। एक माह शेष रहा तब उन्हें परीक्षा की याद आई। कौन से विषय लिए हैं, कौन सी किताबें लगेंगी, उन्हें कुछ भी मालूम नहीं था। मैंने उनकी स्थिति देखी और आवश्यक पुस्तकें एकत्र कीं। उन्होंने अंग्रेजी, अर्थशास्त्र आदि विषय लिए थे। हालाँकि ये मेरे विषय नहीं थे। इसलिए पुस्तकों को पढ़कर पहले स्वयं तैयारी करता, तब रात में उन्हें पढ़ाया करता। मेरे प्रयत्नों को उन्होंने यश दिया और वे परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। स्वयंसेवक होने के नाते अपने साथी स्वयंसेवकों की चिंता करना हमारी जिम्मेदारी है।

चंचल वृत्ति पर नियंत्रण चाहिए

अपने अनेक कार्यकर्ता यह प्रश्न पूछते हैं कि कितने दिन तक यह

काम करना पड़ेगा? इसकी कोई मर्यादा है क्या? मेरी दृष्टि से यह प्रश्न विचित्र है। बीमार होने पर लोग वैद्य को दिखाने जाते हैं। औषधि देने पर वैद्य से यह पूछा कि कितने दिन औषधि लेनी पड़ेगी? तो वैद्य यही कहेगा कि स्वस्थ होने तक लो। तुम्हारा स्वास्थ्य बार-बार खराब होने वाला हो तो जन्म भर लो। हम लोगों ने जब कार्य करने का संकल्प लिया, तब यह कहा था क्या कि मैं संघकार्य इतने दिन तक करूँगा? हमने निरंतर, जीवनभर, अंतिम सांस तक कार्य करते रहने का संकल्प किया है। किंतु आजकल मन का नियंत्रण कम हो जाने के कारण, लगकर एक काम करने की प्रवृत्ति कम हो गई है। कोई काम चार दिन करके छोड़ देंगे, फिर दूसरा कुछ करेंगे। Variety is the spice of life का बोलबाला है। उन्हें जीवन में आनंद तभी आता है, जब बदल होता रहे।

ऐसी विकृति लोगों में आई है। जैसे कोई पशु चरने के लिए खेत में छोड़ दिए जाने पर भले ही एक स्थान पर अच्छी घास हो, वह वहाँ पेट-भर नहीं खाता। थोड़ा इधर खाता है, थोड़ा उधर खाता है। दूसरे किसी पशु को खाता हुआ देखेगा, तो वहाँ जाकर झगड़ा कर उधर की घास खाने की चेष्टा करेगा। इसी प्रकार की आदत मनुष्य को लग गई है। ऐसी निरुपयोगी, अनिष्ट आदत का शिकार हममें से किसी को नहीं बनना है तथा अपने निश्चय पर अडिग रहना है। यह मेरा जीवनकार्य है। इसे निरंतर करूँगा, बाकी का हो चाहे न हो, यह विचार हृदय में रखकर नित्य चलना है।

जीवन के तीन मोड़

तरुण लोग सोचते हैं कि हमारे समान अन्य लोग सिनेमा, खाना-पीना, मौज-मस्ती में लगे रहते हैं, परंतु हम उस सबसे वंचित रह जाते हैं। ऐसा सोचते समय वे यह भूल जाते हैं कि यह कार्य क्यों करना है? वैसे ही मनुष्य कार्य करते-करते अनेक कारणों से मार्ग से हट जाता है। पूजनीय डाक्टर जी के समय के अपने एक कार्यकर्ता हैं। वे ऐसा कहते हैं कि व्यक्ति के जीवन में तीन मोड़ (Turning Point) आते हैं, जब उसके विचारों में बदल होने की संभावना रहती है।

बचपन में स्वयंसेवक शाखा में आता है, उत्साह से खेलता-कूदता है। साथी बराबरी के रहते हैं, इसलिए उसे आनंद आता है। लेकिन जब वह महाविद्यालय में पढ़ने के लिए जाता है, तब उसका सारा वातावरण

बदल जाता है। नए-नए लोग उसके मित्र बनते हैं। नए-नए ग्रंथ व नई-नई बातें सुनने को मिलती हैं। तब उसकी विचार-दृष्टि में परिवर्तन होता है। उस समय उसके मन में विचार आते हैं कि तारुण्य सुलभ ऐशो-आराम में रहूँगा, उच्छृंखलता करूँगा। उसे किसी प्रकार का बंधन अथवा अनुशासन अच्छा नहीं लगता। तब वह अपने कार्य से निवृत्त होता है।

दूसरा मोड़ तब आता है, जब पढ़ाई पूरी कर उदर-भरण के लिए काम-धाम करता है। नौकरी मिल जाने पर पैसा हाथ में आने लगता है। कुछ मौज-मजा करने की इच्छा होती है। इसलिए होटलबाजी, घूमना-फिरना होने लगता है। उसे भ्रम हो जाता है कि मैं प्रतिष्ठित हो गया हूँ, कैसे हाफ पैंट पहनूँ? हाथ में दंड लेकर सड़क से कैसे निकलूँ? मालिक को मेरा संघ में जाना अच्छा लगेगा या नहीं? ऐसे विचार मन में आने लगते हैं। कहीं शासकीय नौकरी हो, तब तो नौकरी चले जाने के भय से उसके प्राण सूखने लगते हैं। एक बार एक सज्जन ने मुझसे कहा, 'मैं अब सरकारी नौकरी में हूँ। क्या करूँ? शाखा में उपस्थित नहीं हो सकता।' मैंने कहा, 'तुमको सरकारी नौकरी में जाने के लिए किसने कहा था?' क्या सरकार के लोग तुम्हारे पैर पकड़ कर बैठ गए थे कि तुम हमारे यहाँ नौकरी करने आओ। सरकारी नौकरी में जाने पर संघकार्य करने में बाधा– यह आएगी मालूम था, तब गया ही क्यों? कह देना था कि मेरा पहला जुड़ाव संघ के साथ है, सरकार के साथ नहीं, हृदय में कमजोरी के कारण इस प्रकार की लाचारी की बात बोलता है। कहीं व्यवसाय आदि शुरू किया हो तो सुबह से रात तक दुकान पर बैठने के बाद थका होने का बहाना करता है। इस सबके पीछे मन की कमजोरी ही प्रमुख कारण रहती है। यह दूसरा मोड़ है, जब वह संघकार्य से दूर हो सकता है।

काम-धंधा मिलने के बाद सामान्यतः उसका विवाह होता है। विवाह होना एक नैसर्गिक बात है। बहुतेरे करते हैं, परंतु विवाह करने से मनुष्य के अंदर कोई ऐसा परिवर्तन आना चाहिए क्या? संघकार्य के प्रति मन में संकोच होने का कोई कारण नहीं है। विवाह होने पर एक नया जीवन-साथी और अभी तक जिसका अनुभव नहीं था, ऐसा जीवन शुरू होता है। जीवन-साथी के प्रति आकर्षण के कारण उसे छोड़कर जाने की इच्छा नहीं होती। विवाह के बाद अपने ध्येयमार्ग पर आत्मविश्वास से चले, तो स्त्री से प्रोत्साहन प्राप्त कर सकता है। ऐसा होने के बाद भी यदि कोई मनुष्य अपनी स्त्री के कारण कहे कि मैं कार्य कैसे करूँ? तो इसका मतलब

है कि वह स्त्रैण है। दुर्बल मनोवृत्ति का है और अपनी स्त्री का केवल बहाना बनाकर उसे बदनाम करता है। जिनका विवाह हुआ है, वे कहते हैं कि गृहस्थ जीवन महाकठिन और भयंकर है। जो मोह से ऊपर उठ जाता है, वह सबके प्रति कर्तव्य निभाते हुए जीवन उचित रीति से बिता सकता है। स्त्री के संसर्ग में रहने व उसका ही विचार मन में होने के कारण उसमें स्त्री के गुण आ जाते हैं, अर्थात् संघ जो पौरुष का कार्य है, उससे वह दूर होने लगता है।

यहाँ नागपुर की ही बात है। प्रतिवर्ष संचलन निकलता है। अपनी पद्धति है कि मार्ग तय करने के पश्चात् उसका आलेख व मानचित्र बनाकर मुख्यशिक्षक व घोषप्रमुख को बता दिया जाता है। एक वर्ष जब घोषप्रमुख को मार्ग बताया गया, तब उसने कहा, 'बाकी सब ठीक है, परंतु यह एक गली ठीक नहीं है, वहाँ मार्ग जरा संकरा है।' उसे कहा भी – क्या हुआ? पहले भी इस मार्ग से संचलन निकलता रहा है। किंतु वह हठ पकड़ कर बैठ गया। आखिर मार्ग बदलना पड़ा और उस परिवर्तित मार्ग से संचलन निकला। बाद में मुझे बताया गया कि घोषप्रमुख के हठ के कारण संचलन-मार्ग में कुछ परिवर्तन करना पड़ा था। विचार करने पर मेरे ध्यान में आया कि कुछ समय पूर्व उसका विवाह हुआ है और उस मार्ग पर उसकी ससुराल है। वह नहीं चाहता था कि उसकी नवविवाहिता उसे बाजा बजाते हुए देखे। इस प्रकार स्त्री का बहाना कर कर्तव्य-पथ से दूर होने की अवस्था मन में उत्पन्न हो जाती है। इसलिए वे बुजुर्ग सज्जन कहते हैं कि विवाह महा भयंकर चीज है, जो जीवन में मोड़ का कारण बनती है।

इस विषय में मेरा तो कोई अनुभव है नहीं। इसलिए अधिकृत वाणी से कुछ कहना संभव नहीं है। ये सारी बातें उन अनुभवी सज्जन ने कही हैं। अपने को कार्य करते समय कई बार इस प्रकार का अनुभव आता है। जीवन के ये जो मोड़ हैं, उनपर स्वयंसेवक को सँभालने की जरूरत होती है। इन अनुभवों को ध्यान में रखकर अपने जीवन में इस प्रकार की त्रुटि न हो, ऐसा निश्चय कर अपने कार्य में लगना चाहिए। सभी प्रकार के मोह, आकर्षण होते हुए भी अपने कर्तव्य करेंगे– घर के प्रति, स्त्री के प्रति और राष्ट्र के प्रति भी। उसमें किसी प्रकार की न्यूनता नहीं आने देंगे। संकट आते हैं, तब उद्दंडता करने से काम नहीं चलता। कौन सा काम महत्त्वपूर्ण है और कौन सा गौण– इसका विवेक करते आना चाहिए। ऐसे समय अपने पूर्वजों के उदाहरण अपना मार्गदर्शन कर सकते हैं। उदाहरण

देखना हो तो तानाजी का प्रसंग अपनी आँखों के सामने लाना चाहिए। वे अपने पुत्र रायबा के विवाह का निमंत्रण देने शिवाजी के पास आए थे। परंतु शिवाजी से मिलने के बाद तय किया कि 'पहले विवाह सिंहगढ़ का, फिर रायबा का।'

मन का नियंत्रण

मन पर नियंत्रण रहता है, तब भटकने की संभावना कम रहती है। किंतु यह तभी संभव है, जब मन में यह विचार रहे कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ, उससे ज्ञानवृद्धि हो, राष्ट्रसेवा हो, अपनी क्षमता बढ़े, परंतु ऐसा विचार बहुत थोड़े लोग करते हैं। मेरे एक परिचित सज्जन डाक्टरी पढ़ने इंग्लैंड गए थे। लगभग ७ वर्ष वहाँ रहकर उन्होंने अपनी पढ़ाई पूरी की और एफ.आर.सी.एस. की उपाधि प्राप्तकर वापस आए। हिंदुस्थान वापस लौटने पर मित्रों ने उनके सम्मान में प्रीतिभोज आयोजित किया। भोज के पूर्व सबको शराब परोसी गई। इन्होंने लेने से मना कर दिया। सबको धूम्रपान की वस्तुएँ पेश की गईं। इन्होंने उसे भी नहीं लिया। यह देखकर मेजबान में से एक ने कहा, 'अरे, तुम इतने वर्ष इंग्लैंड में रहे हो, फिर भी न तो धूम्रपान करते हो न और न ही सबके समान शराब पीते हो। यह तो प्रतिष्ठा का लक्षण है। इतने दिन वहाँ रहकर तुमने किया क्या?' उसने उत्तर दिया, 'मेरे पिता ने मुझे डाक्टर बनने के लिए भेजा था, शराबी अथवा धूम्रपानी बनने के लिए नहीं। जिस काम के लिए भेजा था, वह मैंने पूरा किया। जिस काम के लिए भेजा नहीं था, वह मैं क्यों सीखूँ?' दूषित वायुमंडल में रहकर भी अपने को शुद्ध रखनेवाले कितने मिलेंगे?

संघ शिक्षा वर्ग, १९६६

(२)

लोग एक प्रश्न यह भी पूछते हैं कि संघ में आकर सातत्य से इतने कष्ट करने से लाभ क्या है? अब यह बात तो ठीक है कि बिना लाभ की आशा के कोई कुछ काम नहीं करता। तब संघ में आने से लाभ कौन सा है? एक तो व्यक्ति इस नाते से लाभ है और दूसरा व्यापक दृष्टि से लाभ है। मैंने सुना हुआ एक लाभ आपको बता रहा हूँ। एक सज्जन कह रहे थे कि किसी को बीमार पड़ना हो तो पहले उसे संघ का स्वयंसेवक होना

चाहिए। अब दिखने में यह वाक्य बहुत बेढब है, परंतु इसका अर्थ बहुत गंभीर है। स्वयंसेवकों के बीच आत्मीयता का व्यवहार रहता है, वे एक-दूसरे की चिंता करते हैं। इस कारण किसी के यहाँ कोई बीमार हो जाने पर सेवा-सुश्रुषा करनेवालों की कमी नहीं रहती।

व्यक्तिगत लाभ

राजस्थान की घटना है। ऐसा ही संघ शिक्षा वर्ग चल रहा था। एक दिन कबड्डी के खेल में एक स्वयंसेवक के पेट में दूसरे स्वयंसेवक का सिर जोर से लग जाने के कारण वह बेहोश होकर गिर पड़ा। उसे तुरंत वर्ग के चिकित्सालय में ले जाया गया। प्राथमिक उपचार से वह कुछ सँभला, परंतु थोड़ी देर बाद पेशाब में खून आने लगा। तब बड़े चिकित्सालय ले जाया गया। सारी जाँच करने पर मालूम हुआ कि चोट लगने के कारण किडनी को नुकसान पहुँचा है। अतिशीघ्र शल्यक्रिया कर उसे निकालना होगा। उस शल्यक्रिया में रक्तस्राव अधिक होगा। इस कारण शल्यक्रिया के दौरान उसे काफी रक्त देना पड़ेगा। यह बात जैसे ही वर्ग के प्रशिक्षार्थियों तथा नगर के स्वयंसेवकों को मालूम हुई, रक्त देनेवालों का ताँता लग गया। सब अपना रक्त देना चाहते थे। रक्त का परीक्षण कर आवश्यक स्वयंसेवकों को रोक लिया गया। चिकित्सकों ने अथक प्रयास कर सफल शल्यक्रिया की।

चिकित्सालय में यह सब चल रहा था, उसी समय चिकित्सा के निमित्त नगर के एक धनी सज्जन वहाँ भर्ती थे और उनपर होने वाली शल्यक्रिया रक्त के अभाव में हो नहीं पा रही थी। साथ में उनकी पत्नी थी, बच्चे थे। उनके धन पर पलने-पोसनेवाले भाई-बंधु, सैंकड़ों रिश्तेदार व नौकर-चाकर थे। नगर के जाने-माने व्यक्ति होने के कारण कुछ अनुयायी भी थे। रक्त के लिए डेढ़ सौ रुपए प्रति बोतल देने को तैयार थे, फिर भी खून की व्यवस्था नहीं हो पा रही थी। यह देखकर चिकित्सक आदि सब चकित थे कि यहाँ सब कुछ होने पर भी रक्त की व्यवस्था नहीं हो रही है और स्वयंसेवक का कोई सगा-संबंधी न होने पर भी रक्त देने वालों की लाइन लगी थी। अब अपने स्वार्थ की दृष्टि से देखना हो तो यह कितना लाभदायक है।

शाखा में अच्छा सुसंगठित स्नेहमय जीवन बनता है, वह अपने लिए नितांत आवश्यक है। जितनी मात्रा में अपना दिन-प्रतिदिन का संबंध रहेगा, उतनी मात्रा में आत्मीयत्व प्रबल रहेगा। अपना हित चाहनेवालों की

संख्या बढ़ेगी। उसमें ही अपना, अपने परिवार का हित है, सुरक्षा है। यह कार्य यावज्जीवन करेंगे तो यावज्जीवन दुःख नहीं होगा। यह हुआ अपने स्वार्थ का विचार। यदि हम, लोगों से निवृत्त रहेंगे तो लोग भी हमसे निवृत्त रहेंगे। यह तो परस्पर आदान-प्रदान का विषय है।

समष्टि-बोध

वैसे तो स्वार्थ से हटकर समग्र विचार करना चाहिए कि हम लोग जीवित हैं, हमारा परिवार जीवित है, वह अकेला तो जंगल में अथवा आकाश के नीचे पड़ा हुआ नहीं है। हम समाज के बीच में रहते हैं। मनुष्य की स्वाभाविक इच्छा रहती है कि उसके ही विचारों के लोग, जिनसे उसका मेल आसानी से बैठ सके, आसपास हों। वंश-परंपरा, स्वार्थ-संबंध व समान गुण-संपदावालों से आसानी से मेल बैठ जाता है। यह जमाव जब एक दिशा में, एक ही मार्ग से चलता है तब समाज बनता है। ऐसे अपने समाज का नाम है– 'हिंदू'।

समाज में एक-दूसरे के सहारे रहने के कारण सबको उदर-निर्वाह के साधन मिलते हैं, सुरक्षितता मिलती है और इस कारण सुख की अनुभूति होती है। हिंदू समाज में जन्म लेने के कारण अपने पूर्वजों ने जो नाम कमाकर रखा है, उसकी श्रेष्ठता का भाग भी वंश-परंपरा में हमको मिलता है। यद्यपि उस धन को प्राप्त करने की अपनी योग्यता न हो, तब भी प्राप्त होता है। इस प्रकार समाज के अनेकविध उपकार हम पर हैं।

तब विचार यह करना चाहिए कि जिस समाज के हमारे ऊपर उपकार हैं, क्या हम वह ग्रहण ही करते रहेंगे? उसके बदले में समाज को कुछ नहीं देना चाहिए? यह मानवता को शोभा देनेवाली बात है क्या? अपने समाज की भावना कृतज्ञता की रही है। तभी तो हमने हमारा पोषण करनेवालों से अपना नाता बनाया है, फिर वह पशु हो, पेड़ हो, नदी हो, पहाड़ हो चाहे भूमि हो और इनका संवर्धन, रक्षा तथा पूजा करना अपना धर्म माना है। अर्थात् हमारी वंश-परंपरा ने सिखाया कि जो अपने पर उपकार करता हो, उस उपकारकर्ता के प्रति कृतज्ञ रहो और उसकी कुछ न कुछ सेवा अवश्य करो।

इस प्रकार की कृतज्ञता की भावना को हृदय में रखकर हम अपने संबंध में सोचें कि अपने पर निरंतर उपकार करनेवाले अपने समाज के लिए हमें कुछ करना चाहिए कि नहीं? उत्तर मिलेगा कि हाँ, करना चाहिए।

करना है तो सबसे अधिक आवश्यक कार्य क्या है? हमें दिखाई देगा कि अपने समाज में बुद्धि की कोई कमी नहीं है। धन-दौलत कमाने की पात्रता भी बहुत है। शरीर-बल और पौरुष प्रकट करनेवालों की भी कोई कमी नहीं है। जनसंख्या पर्याप्त है। भगवान की कृपा से अत्यधिक उत्तम भूमि अपने को प्राप्त है। अर्थात् संसार में सब प्रकार का सुख समृद्धि से भरा हुआ जीवन अपने पौरुष व पराक्रम से प्राप्त कर संसार में सर्वश्रेष्ठ होने में किसी प्रकार की बाधा नहीं है। परंतु इतना सब होते हुए भी वर्तमान में हमारी स्थिति इतनी निकृष्ट क्यों है? समृद्धि सब चली गई। खाने को पर्याप्त मिलता नहीं। हम पर परकीयों ने वर्षानुवर्ष राज्य किया। शत्रु प्रतिदिन घुड़की देता रहता है और संपूर्ण समाज उसके सामने भयकंपित रहता है। विचार करने पर एक ही बात ध्यान में आएगी कि हमारा समष्टि-जीवन समाप्त हो गया है। संगठन व अनुशासन का अभाव है। एकसूत्रता को भूल गए हैं। इसका परिणाम यह होता है कि एक आदमी पर किसी प्रकार का संकट आने पर सब तमाशा देखते रहते हैं, कोई उसकी सहायता नहीं करता। कई बार तो अपने समाज-बंधु को लुटता-पिटता देखकर प्रसन्न ही होते हैं। ऐसी आत्मघाती प्रवृत्ति हो गई है। बड़े-बड़े समाजसेवी भी इस प्रवृत्ति से मुक्त नहीं हैं।

एक प्रसंग मेरे सामने घटा और उससे मेरा संबंध भी रहा है। बहुत वर्ष पहले की बात है। एक व्यक्ति ताँगे से रेलवे स्टेशन जाना चाहता था। उसे घर से निकलने में देर हो गई थी, इसलिए उसने ताँगेवाले से कहा, 'मुझे जल्दी से स्टेशन पहुँचा दो। गाड़ी का समय हो गया है, यदि गाड़ी छूटने से पहले पहुँचा दोगे तो एक रुपया दूँगा, परंतु ताँगा धीरे चलाया और समय के पूर्व नहीं पहुँचाया तो कुछ नहीं दूँगा।' ताँगेवाला प्रसन्न हुआ क्योंकि सामान्यतः इतनी दूरी के चार आने मिलते थे, इसलिए उसने शर्त स्वीकार कर ली। वे सज्जन ताँगे पर बैठ गए। मगर ताँगा आराम से ही जा रहा था। न तो घोड़ा तेज चलने को तैयार था और ना ही ताँगेवाला चलाने को। ये बार-बार कहते कि जल्दी चलो। ताँगेवाला रटे-रटाए जवाब देता रहा– घोड़ा है मोटर नहीं, सड़क अच्छी नहीं है। नागपुर का स्टेशन आज की तरह भरा-भरा नहीं था। काफी दूर से ही दिखाई देता था। इन्हें दूर से ही दिखाई दिया कि रेल चली जा रही है। तब उन्होंने कहा, 'भाई, गाड़ी तो जा रही है। अब स्टेशन जाने से कोई मतलब नहीं। मैं यहीं उतरता हूँ', ऐसा कहकर वे उतर गए। उनकी शर्त

थी कि समय पर पहुँचाओगे तो रुपया दूँगा, अन्यथा नहीं। इसलिए वे उतरकर चल दिए। ताँगेवाले ने उन्हें बिना पैसे दिए जाते देखा तो पकड़ लिया और एक रुपया माँगने लगा। उन्होंने कहा, 'रुपया देने की बात रेल के समय पर पहुँचाने की थी। तुमने पहुँचाया नहीं, इसलिए पैसा दूँगा नहीं।' वाद-विवाद होने लगा। उन्होंने ताँगेवाले की पिटाई कर दी। ताँगेवाला मुसलमान था। उसे पिटता देखकर उसके कई जातभाई एकत्र हो गए और मारपीट करने पर ऐतराज करते हुए इन्हें मारने लगे। किसी ने घड़ी छुड़ाई, किसी ने जेब में हाथ डालकर पैसे निकाले। मारनेवाले पचास और बचानेवाला कोई नहीं। उनकी हालत खराब हो गई। कई देख रहे थे, पर कोई झंझट में नहीं पड़ना चाहता था।

जहाँ यह झगड़ा चल रहा था, उसके सामने एक डाक्टर का दवाखाना था। उनके कंपाउंडर ने रास्ते का कोलाहल सुनकर खिड़की से झाँककर देखा कि क्या बात है। उसने देखा कि एक हिंदू आदमी को चारों ओर से घेरकर मुसलमान मार रहे हैं। उसकी रक्षा करनेवाला कोई नहीं है। वह अपने पास एक डंडा रखता था। उसने अपना डंडा उठाया और दवाखाने से बाहर निकला। उसे बाहर निकलता देख समाजसेवी कहलानेवाले डाक्टर बोले, 'कहाँ जा रहा है? क्यों आफत मोल लेता है? बेमतलब पुलिस की झंझट आएगी?' वे रोकते रहे पर यह दौड़कर भीड़ में घुस पड़ा। मैं उधर से गुजर रहा था। उसे डंडा लेकर भीड़ में जाते देखा तो मैं भी उसके पीछे हो लिया। उस कंपाउंडर को मैं जानता था। उससे ही मैंने लाठी चलाना सीखा था। उसने ४-६ को डंडे का अच्छा प्रसाद देकर भीड़ को तितर-बितर किया और दवाखाने में ले जाकर उसकी मरहम-पट्टी की।

मेरे मन में प्रश्न उठा कि बड़े समाजसेवी माने जानेवाले डाक्टर अपने समाज-बंधु की रक्षा करने के स्थान पर, रक्षा करनेवाले को ही रोक रहे थे। अपना समाज ऐसा व्यक्तिनिष्ठ व स्वार्थनिष्ठ बना हुआ है। अपने समाज की इस निकृष्ट अवस्था के लिए दोषी अपन ही हैं। हमें यह निश्चय करना चाहिए कि अपने पर अखंड रूप से पीढ़ी-दर-पीढ़ी उपकार करनेवाले इस समाज की जो न्यूनता है, दोष है, उसे दूर करना है।

राष्ट्रसेवा का उपकरण

यह कहने पर कि यह मेरा राष्ट्र है, प्रत्येक पर यह दायित्व आता है कि राष्ट्रजीवन सब प्रकार से श्रेष्ठ बने, सुरक्षित रहे व निष्कंटक चले।

ऐसा करने के लिए प्रत्येक को आवश्यक योग्यता प्राप्त करनी होगी। यह भी देखना होगा कि व्यक्तिगत और पारिवारिक– दोनों पहलुओं से चलनेवाला स्वयं का जीवन राष्ट्र के अनुकूल है कि नहीं। जीवन चलाने की अपनी पद्धति स्वत्व से भरपूर है या नहीं। संपर्क मात्र से दूसरों की जीवन-प्रणाली स्वीकार करनेवाला स्वाभिमान-शून्य, स्वत्व-शून्य होता है। अपने समाज की ऐसी स्थिति नहीं रहनी चाहिए।

अति प्राचीन काल से अपने यहाँ कहा गया है कि व्यक्ति को अपना शरीर स्वस्थ व शुद्ध रखना चाहिए। दुर्बल के लिए इहलोक-परलोक कुछ भी नहीं है। सभी प्रकार के कष्टों को सहन करने की क्षमता होनी चाहिए। दुर्भाग्य से आजकल इस बात की ओर समाज का दुर्लक्ष्य है। नवयुवकों को देखें तो ऐसा लगेगा कि शरीर में कोई त्राण ही नहीं है। कहीं जरा धूप लगी कि बीमार होता है, जरा पानी में भीगा कि जुकाम हो जाता है, जरा हवा चली कि ठंड से कुड़कुड़ाने लगता है। स्वामी विवेकानंद अपने आश्रम के संयासियों को प्रतिदिन व्यायाम करवाते थे। वे कहते थे– 'साधु होने पर अनेक संकटों का सामना करना पड़ता है। मार खानेवाली दुर्बल देह लेकर हम क्या करेंगे?

उनके जीवन का ही एक प्रसंग है। वे एक बार रेलगाड़ी से प्रवास कर रहे थे। किसी भक्त ने पहले दर्जे का टिकट लिया था, इसलिए पहले दर्जे के डिब्बे में बैठे थे। उस डिब्बे में यात्रा कर रहे दो अंग्रेजों ने भगवे कपड़े पहने साधु को प्रथम श्रेणी में बैठते देखा, तो नाराज हो गए। उन्होंने टिकट चेकर से शिकायत कर इन्हें उतारने को कहा। टिकट चेकर ने बताया कि इस साधु के पास प्रथम श्रेणी का टिकट है, इसलिए इसे यहाँ बैठने का अधिकार है। हम इसे उतार नहीं सकते।

यात्रा प्रारंभ होने पर वे आपस में चर्चा करने लगे– 'देखो, तो कैसा हट्टा-कट्टा है, परंतु घर-घर भीख माँग कर खाता है। ऐसे परजीवी साधुओं के कारण ही भारत की यह दुर्दशा है। इन निकम्मे लोगों को पकड़कर सड़क बनाने अथवा पत्थर तोड़ने के काम में लगाना चाहिए।' स्वामी जी उनका अनर्गल वार्तालाप सुनकर भी बड़े निर्विकार भाव से बैठे रहे। वे अंग्रेज सोच रहे थे कि यह साधु अंग्रेजी में चल रही हमारी बात को क्या समझ रहा होगा। किसी स्टेशन पर स्वामी जी ने रेलवे के अधिकारी से अंग्रेजी में कहा, 'भाई, मुझे एक गिलास पीने का अच्छा पानी

चाहिए।' साधु को अंग्रेजी में बोलता देख अंग्रेज सकुचा गए। गाड़ी चलने पर एक अंग्रेज ने हिम्मत करके स्वामी जी से पूछा, 'आप अंग्रेजी जानते हैं?' उन्होंने उत्तर दिया– 'थोड़ी-थोड़ी जानता हूँ।' उसने पूछा– 'हम लोग जो बातें कर रहे थे, वह आपकी समझ में आ गई होंगी?' स्वामी जी ने कहा, 'हाँ, मैंने सब कुछ समझ लिया।' अब उसने पूछा, 'तब आपने प्रतिवाद क्यों नहीं किया?' स्वामी जी ने उत्तर दिया, 'मित्र, ऐसे मूर्ख मिलते रहते हैं, किस-किस पर नाराज हुआ जाए।' यह सुनते ही दोनों क्रुद्ध हो गए– 'यह काला साधु हम राज करने वाले गोरे अंग्रेजों को मूर्ख कहता है।' वे अपनी बाँहें चढ़ाकर लड़ने को तैयार हो गए। स्वामी जी ने कसकर उनके हाथ पकड़े और कहा, 'तुम दोनों के लिए मैं अकेला ही पर्याप्त हूँ। गड़बड़ करोगे तो गाड़ी से बाहर फेंक दूँगा।' स्वामी जी की पक्की पकड़ से उनकी शक्ति का अनुमान लगा, वे शांत होकर बैठ गए और अगला स्टेशन आते ही दूसरे डिब्बे में चले गए। हम विचार करें– ऐसे प्रसंग सब पर आते रहते हैं, फिर वह साधु हो या सामान्य व्यक्ति। मुर्दा बन कर रहने का कोई मतलब नहीं। शरीर में चैतन्य, तेजस्विता और बल होना चाहिए।

तन के साथ मन भी

शरीर मजबूत रहने पर भी मन दुर्बल रहा तो काम नहीं चलेगा। मुझे एक प्रसंग स्मरण आता है। विद्यार्थी जीवन में कुछ समय के लिए मैं इलाहबाद में था। जिस पुस्तकालय में अध्ययन के लिए जाता था, वहाँ एक तंदुरुस्त छात्र भी आता था। वह पहलवानी में कई पदक प्राप्त कर चुका था। एक दिन की बात है, वह अलमारी से पुस्तकें निकाल रहा था, तब उसका एक बंगाली युवक से विवाद हो गया। विवाद बढ़ते-बढ़ते हाथा-पाई होने लगी। आश्चर्य यह कि उस दुबले-पतले बंगाली युवक ने उस बलवान छात्र की गर्दन पकड़ी व ढकेलते-ढकेलते सीढ़ी तक ले गया और नीचे फेंक दिया। लोग आश्चर्यचकित हो देखने लगे। एक दुबले-पतले छात्र ने पहलवान किस्म के छात्र को नीचे कैसे फेंक दिया? ऐसा इसलिए हो सका, क्योंकि शरीर से बलवान होते हुए भी वह पहलवान छात्र मन से निर्बल था। शरीर व मन की शक्ति में काफी अंतर होता है। इन दोनों के संयोग से ही जीवन शक्तिसंपन्न हो सकता है।

संघ शिक्षा वर्ग, १९६६
(३)

आज की परिस्थिति में पराभूत मनोवृत्ति को बदलकर अंतःकरण में आत्मविश्वास जागृत करने के लिए इतिहास के किसी आदर्श से मार्गदर्शन, विश्वास व प्रेरणा प्राप्त करें। अपने यहाँ बहुत से श्रेष्ठ पुरुष हुए हैं। कुछ ऐसे हैं, जो बड़े श्रेष्ठ, त्यागी व निःस्वार्थ थे, फिर भी उनको यश नहीं मिला। जैसे कई क्रांतिकारी हुए। उनका ध्येय स्वातंत्र्य-संपादन का था। इसलिए उन्होंने अपना जीवन समर्पित किया, हुतात्मा बने। उन्होंने देश के लिए मरने का विचार किया और मृत्यु प्राप्त की। जैसा मनुष्य सोचता है, वैसा ही उसे फल मिलता है। यह महापुरुषों की प्रथम श्रेणी है।

दूसरी श्रेणी के महापुरुष विजय की आकांक्षा रखकर आगे बढ़ते हैं। वह सोचता है कि शत्रु के कुछ लोगों को मार कर ही मरूँगा। अकेला क्यों मरूँ? उनमें अंतिम विजय के बारे में आत्मविश्वास नहीं होता। महाराणा प्रताप का जीवन ऐसे ही तेजस्वी जीवनों में से एक है। पराक्रमी होते हुए भी उन्हें अंतिम यश प्राप्त नहीं हुआ। उनका स्थान बहुत ऊँचा है, परंतु यह द्वितीय श्रेणी का पद है, जिन्होंने स्वातंत्र्य-प्राप्ति के लिए आत्मोत्सर्ग किया।

तीसरी श्रेणी में वे आते हैं जो विजय की आकांक्षा से प्रेरित रहे। उसके लिए ही अपनी रीति-नीति बनाई और विजय प्राप्त की। उन्होंने केवल सफलता का ही विचार किया। आज की परिस्थिति में इस श्रेणी के महापुरुषों का उदाहरण अपने सामने रखने की आवश्यकता है। निकटवर्ती इतिहास में इस श्रेणी में शिवाजी का उदाहरण हमारे सामने है, जो कठिन परिस्थितियों में विजय प्राप्त कर यशस्वी हुए।

सर्वमान्य श्रद्धा-केंद्र चाहिए

एक बार एक बड़े जाने-माने सज्जन ने मुझसे कहा, 'जिस धर्म और समाज में व्यक्तिनिष्ठा प्रधान हो गई हो, उसमें समष्टि जीवन कैसे उत्पन्न हो सकता है? निराशा और विफलता का ऐसा वातावरण चारों ओर दिखाई देता है। पृथकता की भावना से हमारे विचार विकृत हो चुके हैं। समाज में निहित विकृतियों को नष्ट कर सामर्थ्ययुक्त राष्ट्र के नाते संसार के सामने खड़ा होने का विचार हृदय को स्पर्श भी नहीं करता।'

संगठित जीवन-निर्माण करने के लिए एक लक्ष्य, एक उपास्य, एक ध्येय की आवश्यकता है। यह उपास्य लक्ष्य कौन-सा हो, यह हमें विचार करना है। कभी-कभी चार लोग मिलकर कोई काम करते हैं। चार डाकू भी डकैती का लक्ष्य सामने रखकर संगठित रूप से प्रयत्न करते हैं। राजनीतिक दलों के भी संगठन होते हैं। किंतु यह संगठन तात्कालिक होते हैं, स्थायी नहीं रह पाते। किसी तात्कालिक लक्ष्य को सामने रखकर समाज को संगठित नहीं किया जा सकता।

हम स्वयंसेवक हैं, इसलिए दूसरे की आलोचना नहीं करनी चाहिए। उसका कुछ लाभ नहीं होता। हमने अपने स्वयं का विचार करना चाहिए कि हमारा व्यवहार कैसा है। ज्ञान के क्षेत्र में भारत जगद्गुरु था। एक समय था जब विश्व हमारा अनुकरण करता था, किंतु आज हमें उनका अनुकरण करने में गौरव का अनुभव होता है। इतिहास गवाह है कि परानुकरण करनेवाले समाज कालांतर में नष्ट हो गए। आज उनका नामोनिशान भी शेष नहीं है। परानुकरण का अर्थ ही दास्यत्व है। इस प्रकार की दास्यवृत्ति समाप्त होनी ही चाहिए। शरीर को प्राप्त दास्यत्व समाप्त किया जा सकता है, किंतु मन व बुद्धि की दास्यवृत्ति समाप्त करना कठिन जाता है। मन का दास्यत्व विनाश-पूर्व की स्थिति है। इस कारण मृत्युमुखापेक्षी अपने समाज की स्थिति चिंतनीय है।

पूर्व में इस प्रकार की स्थिति निर्माण होने पर समाज को संगठित करने के प्रयास हुए हैं। लेकिन तब तात्कालिक लक्ष्य सामने रखे गए थे। समाज का आह्वान करने पर समाज संगठित भी हुआ और संगठित शक्ति के बल पर आए संकट का निवारण हुआ, लेकिन उस कारण के दूर होते ही संगठन के लिए कोई प्रेरणा शेष न रहने से धीरे-धीरे वह संगठन समाप्त हो गया।

वर्तमान स्थिति का परिणाम

अपने यहाँ समाज को संगठित करने के लिए धर्म की रक्षा का आह्वान प्रबल हुआ करता था। लोग तुरंत सिद्ध हो जाते थे। उससे अनेक बातें सहज साध्य हो जाती थीं। अब अनेक बातों के समान ही धर्म के प्रति श्रद्धा का भी ह्रास हुआ है। धर्मयुक्त जीवन की अवहेलना आम बात हो गई है। मनुष्य को मनुष्यत्व प्राप्त करा देनेवाले धर्म को हम भूल गए हैं। परंतु जीवन में धर्म नहीं रहने पर मनुष्य और पशु के बीच का भेद ही

समाप्त हो जाएगा। आहार, निद्रा, भय व मैथुन की इच्छा मनुष्य व पशु में एक समान ही होती है। धर्मयुक्त बुद्धि होने के कारण ही वह मनुष्य बनता है। सद्यः परिस्थिति में बहुत सूक्ष्म विचार और सूक्ष्म विषय लेकर मनुष्य को उसका बोध कराना कठिन है। आज धर्म का अर्थ केवल उपासना-पद्धति से लिया जाता है। और अपने यहाँ तो असंख्य पंथ, उप-पंथ है। पंथाभिमान के कारण विवाद भी पर्याप्त हैं। इसलिए अपने पूर्वजों द्वारा संगठन के लिए दिया गया धर्म का आधार आज की परिस्थिति में उतना प्रेरणास्पद नहीं रहेगा।

धर्म के तत्त्व बहुत ही सूक्ष्म हैं और वेद तथा श्रुति भिन्न-भिन्न बातें बोलती हैं। उनके बाद स्मृतियाँ बनीं। वे भिन्न-भिन्न बातें कहती हैं। जितने ऋषि हैं, उनके वचन देखेंगे तो किसे प्रमाण माने, किसे न माने, यह संदेह उत्पन्न होता है। धर्म का तत्त्व तो बड़ा गूढ़ है, अच्छों-अच्छों की समझ में नहीं आता। आज ९९ प्रतिशत लोग धर्म के तत्त्व को न जाननेवाले हैं। इनमें सुशिक्षित समझे जानेवाले लोग भी शामिल हैं। वर्तमान शिक्षा-पद्धति के कारण मनुष्य का मानस स्थूल स्वरूप का हो गया है। अतः धर्म का सूक्ष्म स्वरूप समझना कठिन जाता है। इसलिए धर्म को संगठन का आधार बनाने का उपयोग नहीं। तब सर्वसाधारण समाज जिसपर श्रद्धा रख सकता है, ऐसा आधार अपने को मिल सकता है क्या? सामान्य आदमी को अमूर्त देवता की कल्पना करना कठिन जाता है, इसलिए वह आँखों को प्रत्यक्ष दिखाई दे, ऐसी प्रतिमा को भगवान मानकर उपासना करता है। वैसे ही संपूर्ण समाज जिसको आराध्य मान सके, ऐसी चीज क्या हो सकती है?

मातृभूमि सर्वमान्य आधार

जन्म के साथ सर्वप्रथम जिसके साथ हमारा संबंध आता है, वह मातृभूमि ही हमारी एकता का आधार है। पैर के नीचे से भूमि हटा लेने पर किसी को हवा में रहना संभव नहीं होगा। इस मिट्टी से अपना शरीर बना है और अंततोगत्वा उसी में मिल जानेवाला है। इस प्रकार जन्म से मृत्यु तक पालन करनेवाली, अपने पर उपकार करनेवाली भारतमाता वंश-परंपरा से अपना आधार है। माता के समान होने के कारण वंदनीय है, आदरणीय है। भारतभूमि की विशेषताओं के कारण देवताओं ने भी उसका महत्त्व स्वीकार किया है, बार-बार इसे अपनी लीलाभूमि

बनाया है।

स्वामी विवेकानंद जी जब विश्वविजय करके हिंदू धर्म की पताका फहराने के पश्चात् हिंदुस्थान लौटे, उस समय की घटना है– हिंदुस्थान की भूमि पर पैर रखते ही उनके भव्य स्वागत की व्यवस्था की गई थी। इसलिए हजारों की संख्या में लोग उनके जहाज की प्रतीक्षा में समुद्र-तट पर खड़े थे। आखिरकार प्रतीक्षा समाप्त हुई और स्वामी जी का जहाज आया और वे तट पर उतरे, परंतु किसी को भी हार पहनाने का अवसर दिए बिना उन्होंने सर्वप्रथम भू-माता को साष्टांग प्रणाम किया और मिट्टी उठाकर अपने शरीर पर डाली। उसका स्पष्टीकरण देते हुए उन्होंने बताया कि इंग्लैंड, अमरीका जैसी भोगभूमि में प्रवास करने के कारण लगे हुए दोष इस पवित्र मिट्टी से दूर कर रहा हूँ। जिसकी बुद्धिमत्ता के आगे संसार नम्र हुआ, ऐसे आधुनिक काल में हुए विवेकानंद की यह कथा है– यह ध्यान में रखना चाहिए।

महायोगी अरविंद की भावना भी इसी प्रकार की थी। उनका कहना था– 'यह भारतमाता केवल मिट्टी-पत्थरयुक्त भूमि नहीं है। यह प्रत्यक्ष चैतन्यमयी आदिशक्ति भगवती दुर्गा है। इसी भाव से इसकी पूजा करनी चाहिए। श्री अरविंद तो कोई पुराणपंथी नहीं थे। उन्होंने आधुनिक समझी जानेवाली सब प्रकार शिक्षा पश्चिमी देश में जाकर प्राप्त की थी, जहाँ उनकी बुद्धि का लोहा माना गया था।

मातृभूमि के संबंध में इस प्रकार की भावना प्राचीन काल से ही चली आ रही है। इस भावना की अनुभूति प्रत्येक के मन में हो इसके लिए स्थान-स्थान पर पवित्र क्षेत्र निर्मित किए गए। हिमालय का तो पूरा क्षेत्र ही शुद्ध और पवित्र है। इस कारण उसे 'देवतात्मा' कहा जाता है। इस प्रकार किसी न किसी कारण से भूमि का कण-कण हमारे लिए पवित्र है। व्यक्ति-व्यक्ति के अंदर सुप्तावस्था में पड़ी हुई मातृभूमि के विषय की पवित्र व श्रद्धा की भावना को जगाकर हम समाज को संगठित कर सकते हैं।

ि ि ि

संघ शिक्षा वर्ग, १९६६

(४)

संघकार्य करते समय भिन्न-भिन्न प्रकार के लोगों से संबंध आता है। उनमें से कोई अपने विचारों से मेल रखते हैं और कोई प्रतिकूल भाव व्यक्त करते हैं। भले ही कोई प्रतिकूल भाव व्यक्त करे, फिर भी ऐसे लोगों को अपने कार्य के बाहर का नहीं मानना चाहिए। अपना अनुभव तो यह है कि जो लोग भूतकाल में संघ के कट्टर विरोधक थे, वे बाद में अच्छे कार्यकर्ता बने। हमारे लिए कोई भी हिंदू कार्यक्षेत्र के बाहर नहीं है। किसी से अछूत का व्यवहार करना तो मानवी विकृति है।

यह ठीक है कि बुलाने पर लोग जाति, पंथ, प्रांत, भाषा आदि के नाम पर एकत्र होते हैं, परंतु हिंदू के नाम पर नहीं होते। एक बार एक तहसील में शाखा शुरू करने की योजना बनी। इसके लिए कार्यकर्ताओं ने गाँव आपस में बाँट लिए थे। सब गाँवों में शाखा शुरू हुई, परंतु एक गाँव रह गया। उस गाँव में जानेवाले कार्यकर्ता ने बताया कि वहाँ शाखा चल नहीं सकती। कारण पूछने पर उसने बताया कि वहाँ मुसलमानों की काफी आबादी है, बाकी के बचे हुए कांग्रेसी हैं। यह सुनकर मुझे आश्चर्य हुआ। मैंने पूछा, 'क्या उन कांग्रेसियों ने भी सुन्नत करा ली है।' उसने कहा, 'नहीं ऐसी बात नहीं है।' मैंने उसे समझाया कि राजनीतिक दृष्टि से कांग्रेस हमसे भले ही असहमत हो, किंतु उनका बाकी व्यवहार तो हिंदू के नाते ही होता है। वे अपने हिंदू परिवार के बाहर हैं, ऐसा हमें नहीं मानना चाहिए। बाद में उसने प्रयत्न किया और वहाँ शाखा शुरू हुई। हमें किसी भी राजनीतिक दल, पंथ, जाति, प्रांत, भाषा आदि भेद का विचार न कर, उन सबको हजम करते हुए प्रत्येक हिंदू परिवार में प्रवेश करना है।

अपने पूजनीय डाक्टर जी के जीवन का एक प्रसंग है। उन दिनों 'मातृभूमि' नामक एक साप्ताहिक में संघ-विरोधी लेखमाला छप रही थी। उसे पढ़कर अपने एक कार्यकर्ता बहुत संतप्त हुए और उन लेखों का बंडल बगल में दबाए पूजनीय डाक्टर जी के घर पहुँचे। डाक्टर जी स्वयंसेवकों के साथ गपशप कर रहे थे। उस क्रोधित कार्यकर्ता ने कहा, 'इधर संघ-विरोधी लेखमाला छप रही है और आपको हँसी-मजाक सूझ रहा है। आपने ये लेख पढ़े हैं।' डाक्टर जी ने हँसते हुए कहा, 'हाथी अपनी चाल चलता है, कुत्ते के भौंकने का उसपर कोई परिणाम नहीं होता। उसी प्रकार

हम भी विरोधकों के विरोध की ओर ध्यान न देते हुए, अपना कार्य करते रहें। हम लोगों ने वह लेख पढ़े हैं। उन्हें पढ़कर हम लोगों का खूब मनोरंजन होता है।' यह उत्तर सुनकर उसका क्रोध शांत हो गया।

कभी-कभी कार्यकर्ता अपनी अड़चनें बताते हुए कहते हैं कि महाविद्यालयीन छात्रों में कार्य नहीं हो पाता। छात्रों द्वारा पूछे गए प्रश्नों का वे उत्तर नहीं दे पाते। मेरा कहना यह है कि हम उनके प्रश्नों का उत्तर देने का साहस क्यों नहीं करते? अपने ध्येय का स्पष्ट ज्ञान और आत्मविश्वास होने पर यह बात असंभव नहीं है। अपने पूर्व सरकार्यवाह भैयाजी दाणी जब काशी में पढ़ते थे, तब की बात है। उनके एक प्राध्यापक ने कहा कि 'वे संघ के विचारों से सहमत नहीं हैं।' भैयाजी ने उनसे वाद-विवाद नहीं किया। उन्होंने मुझे कहा, 'इन्हें अलग ढंग से उत्तर देना होगा।' हमने विचार कर एक कार्यक्रम निश्चित किया और उसमें भाषण देने के लिए उन्हें बुलाया। उनके पाँच भाषण हुए। भैयाजी ने उनके विचारों को लिपिबद्ध किया और उसे लेकर प्राध्यापक महोदय के पास गए। उनसे कहा, 'हमने आपके भाषणों को लिपिबद्ध किया है। आप कृपया इसपर हस्ताक्षर कर दीजिए, क्योंकि आपने तो संघ के ही विचार व्यक्त किए हैं। यह तो संघ का मेनिफेस्टो (घोषणा पत्र) बन गया है। आपके हस्ताक्षर होने के पश्चात् हम इसे छापने वाले हैं।' प्राध्यापक महोदय चुप रह गए। यदि हमें संकोच होता तो यह न हो पाता।

ऐसे ही दिल्ली के एक कार्यक्रम में कांग्रेस के वरिष्ठ नेता डा. कैलाशनाथ काटजू को बुलाया। वे कार्यक्रम के भव्य दृश्य को देख कर इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने अपने भाषण में कहा, 'यह हिन्दूराष्ट्र था और आज भी है। जो यह कहता है कि यह हिन्दूराष्ट्र नहीं है, वह मुझसे मिले। मैं उसे समझा दूँगा।' उनका भाषण समाचार पत्रों में छपा। उनके कांग्रेसी कार्यकर्ताओं ने कहा, 'संघ के कार्यक्रम में आपने यह क्या कह दिया?' उस पर डा. काटजू का उत्तर था– 'यदि आप मेरे स्थान पर होते तो आप भी यही कहते। वहाँ मैं इतना प्रभावित हुआ था कि दूसरी बात मुँह से निकलना असंभव था।' यदि अपनी धारणा और विश्वास दृढ़ रहता है, तब उसका प्रभाव दूसरों पर पड़े बिना नहीं रहता।

ि ि ि

संघ शिक्षा वर्ग, १९६६

(५)

किसी भी कार्य को करने के लिए हमें यह पूर्ण रूप से जान लेना अत्यंत आवश्यक है कि उस कार्य का हेतु क्या है और उसकी पूर्ति के लिए हमें अपनी किस प्रकार की सिद्धता करना आवश्यक है। अपने संगठन के नाम से जो भाव व्यक्त होता है उसके द्वारा हमें अपने ध्येय एवं उसे प्राप्त करने के लिए जो गुण अपनाने हैं, उनका संक्षेप में बोध हो जाता है। अपने कार्य को अन्य प्रकार से भी समझा जा सकता है।

प्रार्थना एक प्रकार का मंत्र है और ऐसा कहते हैं कि मंत्र का अशुद्ध उच्चारण नहीं होना चाहिए। एक कथा ऐसी है कि देवताओं ने अपने वृद्ध पुरोहित को उसकी कुछ कृतियों के कारण मार डाला था। इस कार्य में इंद्र अग्रणी थे। उस पुरोहित के पुत्र ने ब्रह्माजी से वरदान प्राप्त करने के लिए एक विशाल यज्ञ किया। यज्ञ की समाप्ति पर ब्रह्माजी ने उससे वर माँगने के लिए कहा। उसने कहा, 'मैं ऐसा लड़का चाहता हूँ, जो 'इंद्र-शत्रु' हो (अर्थात् इंद्र को समाप्त करे।)' ऐसा कहते हैं कि 'इंद्र-शत्रु' शब्द का उच्चारण करते समय उसने उसके अलग-अलग अक्षर समूहों पर जैसा बल देना चाहिए, वैसा न देते हुए 'शत्रु' शब्द पर बल देने के स्थान पर 'इंद्र' पर अधिक बल दिया। ब्रह्माजी के 'तथास्तु' कह देने के कारण कुछ दिनों बाद उसके अत्यंत पराक्रमी पुत्र उत्पन्न हुआ। उसने सब देवताओं को समाप्त करने की धमकी दी, किंतु अंत में इंद्र ने विजयी होकर उसे मार डाला। इंद्र को यह सफलता 'इंद्र' शब्द पर अधिक बल दिए जाने के कारण मिली, क्योंकि उसके कहने का अर्थ हुआ था कि ऐसा व्यक्ति, जिसे इंद्र समाप्त करेगा। यदि 'शत्रु' पर जोर दिया जाता, तो उसका उल्टा अर्थ होता। इस प्रकार इस कथा के द्वारा, कथा सही हो या काल्पनिक, यह दर्शाने का प्रयत्न किया गया है कि उच्चारण पूर्णतः शुद्ध ही किया जाना चाहिए।

लेकिन केवल उच्चारण ही पर्याप्त नहीं है। हमारे प्राचीन धर्मग्रंथों में कहा गया है कि जो आदमी वेदमंत्रों का केवल उच्चारण करता है, किंतु उसके अर्थ को नहीं समझता, वह बोझा ढोनेवाले गधे के समान है अर्थात् उसे अच्छा आदमी नहीं माना जाता। इसलिए हमें अर्थ समझना चाहिए। अपने सौभाग्य से अपनी प्रार्थना में वह सब साररूप में प्रकट किया गया

है, जो हम प्राप्त करना चाहते हैं। उसे हम क्रम से समझने का प्रयत्न करेंगे।

मातृभूमि को नमन और समर्पण

पहले श्लोक में मातृभूमि को नमस्कार तथा उसका अभिवादन किया गया है। प्रत्येक राष्ट्र एक भूखंड (मातृभूमि) के अचल अधिष्ठान पर अवस्थित रहता है, जिसके प्रति वहाँ के लोगों की असीम भक्ति रहती है। यह भक्ति पहले श्लोक में व्यक्त की गई है। हमने कहा है कि यह हमारी मातृभूमि होने के कारण और हम हिंदू होने के कारण यह हिंदू-भूमि है। यह हमारे लिए अति पवित्र है, इसलिए यह हमारी पुण्यभूमि है।

हम केवल यही नहीं कहते कि यह हमारे लिए अति पवित्र है, प्रत्युत गत सहस्रों वर्षों के हमारे जीवनकाल में हमारे पूर्वजों, ऋषियों एवं द्रष्टाओं ने कहा है कि इस भूमि पर किए जानेवाले कर्म ही इहलोक और परलोक में फलदायी होंगे। विशेषकर आध्यात्मिक दृष्टि से किए गए प्रयत्न तो केवल इसी भूमि में सफल होंगे। उन्होंने आगे यह भी कहा कि मनुष्य का अंतिम लक्ष्य उस अंतिम सत्-तत्त्व का साक्षात्कार करना है, जिसे हम किसी भी नाम से पुकार सकते हैं। यह साक्षात्कार, यह ज्ञान दुनिया के अन्य किसी भाग में हो पाना संभव नहीं, केवल इसी भूमि में, इस पवित्र भारत में, जिसे हम हिंदुस्थान भी कहते हैं, संभव है। इसलिए हमारे पूर्वज कहते आ रहे हैं कि इस भूमि पर पत्थर, अनेक प्रकार के पौधे या तुच्छ कीड़े-मकोड़े का जन्म लेकर पैदा होना भी एक महद्भाग्य की बात है, पूर्वजन्म के सुकर्म का फल है। तब मनुष्य-जन्म पाना तो जन्म-जन्मांतर के सुकृत का श्रेष्ठतम सुपरिणाम है।

हमारा समाज अत्यंत प्राचीन काल से अपनी मातृभूमि के संबंध में ऐसे ही श्रेष्ठ विचार रखता आया है। हम कहते हैं कि यह हमारी मातृभूमि है, पितृभूमि है, धर्मभूमि है, कर्मभूमि है, मोक्षभूमि है। यह केवल मिट्टी और पत्थर नही हैं, जैसा कभी-कभी स्थूल दृष्टि से हमें प्रतीत होता है। महायोगी अरविंद ने बताया है कि यह भूमि को केवल मिट्टी या भौतिक पदार्थों का पुंज नहीं, वरन् दिव्यत्व की साकार और आदिशक्ति की दैवी अभिव्यक्ति है। जगत् की सृष्टि, स्थिति और लय का कारण है। उस आदिशक्ति दुर्गा ने ही अपनी इस मातृभूमि का रूप ग्रहण किया है। हमें इसी रूप में उसका साक्षात्कार करना है।

साक्षात्कार एवं भक्ति के लिए समझें कि इस भूमि में ही ईश्वरत्व है। इसका कण-कण पवित्र है। जब स्वामी विवेकानंद जी विदेश-यात्रा के पश्चात् विजय-पताका फहराते हुए, वापस भारत आए, तब जहाज से उतरते ही वे भूमि पर लेट गए और धूल उठाकर अपने शरीर पर डालने लगे। उनके स्वागत के लिए आए लोग आश्चर्य में पड़ गए। उनमें से एक ने हिम्मत कर पूछा, 'आप यह क्या कर रहे हैं?' उसके प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने कहा, 'देखो, मैं अमरीका, इग्लैंड और यूरोपीय देशों में रहा हूँ, जो भोगभूमियाँ हैं। वहाँ के अन्न-जल से मेरा शरीर दूषित हो गया है। इस पवित्र भूमि के स्पर्शमात्र से उसे दूर कर रहा हूँ।' वे तो संन्यासी थे, उनके लिए विधि-निषेध का कोई बंधन नहीं था। कहा गया है- 'निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः।' अर्थात् सत्व, रज, तम- इन तीनों गुणों से रहित पथ पर जो विचरते हैं, उनके लिए कोई विधि-निषेध नहीं है। वह स्थिति उन्होंने प्राप्त कर ली थी। इतना होने पर भी उन्होंने भूमि पर लेटकर जो साष्टांग प्रणाम किया, वह हम सबको यही सिखाने के लिए किया था कि अपनी इस पवित्र भूमि के प्रति हमें कैसा प्रेम, कैसा आदर और कैसी भक्ति रखनी चाहिए।

इसीलिए प्रार्थना के प्रथम भाग में हम कहते हैं कि यह हमारी मातृभूमि पवित्रातिपवित्र है। इसने हमारा पालन-पोषण किया है; इसने हमें समृद्धि, सुरक्षा एवं सौख्य प्रदान किया है। इसलिए हमारा अनन्य एवं पावन कर्तव्य है कि अपने जीवन को इस पवित्र भूमि के सम्मान के लिए, इसकी मिट्टी के एक-एक कण की रक्षा के लिए समर्पित कर दें, हमारा शरीर इसके काम आए। अपनी मातृभूमि की सेवा करते हुए यदि मृत्यु का भी वरण करना पड़े, तो हमें कोई चिंता नहीं।

यह आधार है। यह वह भूमि है, जिसपर राष्ट्रीय अस्तित्व अनंत काल तक अडिग खड़ा रह सकेगा। इसको समझ लेने के पश्चात् हमारा कर्तव्य हो जाता है कि केवल शब्दों से ही यह कहकर न रह जाएँ कि यह हमारी मातृभूमि है, वरन् उसका अनुभव भी करें। कहना अलग बात है, अनुभव करना बिलकुल भिन्न बात है।

हम जानते हैं, कि अनेक लोग बड़े-बड़े सद्गुणों की बातें करते हैं, किंतु वे केवल शब्द ही बोलते हैं। यह आवश्यक नहीं कि उन सत्यों का उन्होंने साक्षात्कार किया हो अथवा वे सद्गुण उनमें विद्यमान हों। यह पाखंड सर्वत्र देखा जा सकता है। प्रायः सभी व्यक्तियों का व्यक्तित्व

विभाजित दिखाई देता है– ऊपर कुछ और हृदय में कुछ। दोनों में कोई मेल नहीं होता। इसलिए केवल कहना पर्याप्त नहीं कि यह हमारी मातृभूमि है।

लेकिन हम जो-जो करें, जो-जो सोचें, जो-जो अनुभव करें, वह अपनी समस्त आंतरिक भावनाओं व बौद्धिक गतिविधियों में समान रूप से ओतप्रोत हो जाए और हमें प्रेरित करे। तभी हम कह सकते हैं कि हमारे अंतःकरण में मातृभूमि के प्रति भक्ति सुप्रतिष्ठित हुई है।

इसके लिए हमें प्रतिदिन कुछ समय अपने इस महान देश का चित्र अपने मनःचक्षुओं के समक्ष लाने के लिए लगाना चाहिए। देखो, वह है पवित्र हिमालय। वे अनेक पवित्र पर्वत इतस्ततः फैले हुए हैं। अनेक पावन नदियाँ है। अनेक पवित्र जल हैं व अनेक पवित्र वृक्ष हैं। अनेक तीर्थस्थान व बड़े-बड़े मंदिर हैं, जो केवल इसीलिए पावन नहीं हैं कि वहाँ देवता के विग्रह का अस्तित्व है, वरन् अपने असामान्य श्रेष्ठ पूर्वजों के त्याग एवं तपस्या से उन्हें पावनता प्राप्त हुई है। ये सब अपने देश के कोने-कोने में फैले हुए हैं। एक इंच धरती भी ऐसी नहीं है, जिसके साथ कोई न कोई पावनता न जुड़ी हो। प्रत्येक कण अपने पूर्वजों के ज्ञान, तपस्या और बलिदान से अनुप्राणित है।

इसी से हमारा निर्माण हुआ है। उस महानता, पवित्रता, सादगी और तपस्या को, जो हमारे पूर्वजों द्वारा पीढ़ी-दर-पीढ़ी हमें प्राप्त हुई है, हम अपने अंदर लाएँ। इस दृष्टि से हम सब एक सजातीय समग्रता में ढल गए हैं। उन महापुरुषों का भी स्मरण करें, जिन्होंने इस भूमि को हमारे लिए पवित्र बनाया। हम अपने इतिहास का स्मरण करें। हमारे इतिहास में उन महान द्रष्टाओं के आविर्भाव की गाथाएँ हैं, जिन्होंने न केवल उल्लासपूर्वक अपना जीवन व्यतीत किया, अपितु अपनी मातृभूमि एवं उसके पुत्रों की सुरक्षा एवं सम्मान के लिए अपने प्राणार्पण करने का साहस प्रदर्शित किया। ऐसे स्थान, जहाँ इन असामान्य ऐतिहासिक महापुरुषों ने अपना जीवन बिताया, पराक्रम किया और अपने जीवन की आहुति दी, देशभर में सर्वत्र बिखरे पड़े हैं। ये स्थान भी हम लोगों के लिए समान रूप से पवित्र हैं।

यह वह भूमि है, जिसकी मिट्टी से सर्वोत्तम मानवों का निर्माण हुआ है और इसी मिट्टी से हम भी बने हैं। इसलिए इन महापुरुषों के पदचिह्नों का अनुसरण करना है। जिस प्रकार हमारे पूर्वजों ने इस महान भूमि के हित एवं उसकी स्वतंत्रता के लिए हँसते-हँसते स्वेच्छा से अपना जीवन

चढ़ाया, उसी प्रकार बिना किसी हिचकिचाहट के अपना जीवन समर्पित करेंगे। स्वार्थ, भय आदि कोई भी बात अपने जीवन के इस सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य को करने से रोक नहीं सकती।

ईश्वरीय कार्य

प्रार्थना के आगे के भाग में हमने कहा है कि जो कार्य हम कर रहे हैं, वह ईश्वरीय कार्य का अंश है और हम लोग, जो उसे कर रहे हैं, प्रत्येक इस महान हिंदू-राष्ट्र के अविभाज्य अंग हैं। हमारा इस महान राष्ट्र के जीवन के साथ जैविक व जीवंत संबंध है। वह भावना हमारे हृदय में सदा से उमड़ती रही है। इसलिए हम इस कार्य को करने के लिए कृतसंकल्प हैं।

मुझे स्मरण है कि अपने संघ के परमपूज्य संस्थापक अनेक प्रसंगों पर कहा करते थे कि यह ईश्वरीय कार्य है। यह बात करने का उनका एक प्रकार मात्र नहीं था, वे सचमुच ही वैसा अनुभव करते थे।

जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और विलय का जो बड़ा दायित्व ईश्वर प्रत्यक्ष में निभाता दिखाई देता है, वह उसके अतिरिक्त मानवता के हित के लिए, अपने भक्तों की भलाई के लिए अवतार ग्रहण करता है। स्वयं भगवान ने भगवद्‌गीता में कहा है कि सज्जनों की रक्षा, दुर्जनों के विनाश, धर्म की संस्थापना और विश्व से अधर्म के उच्चाटन के लिए वह अवतार लेते हैं।

हमें सज्जनों की रक्षा करनी है, अर्थात् उनकी रक्षा करनी है, जो राष्ट्रीय हैं, देशभक्त हैं और इस मातृभूमि की पूजा करनेवाले अत्यधिक श्रद्धालु लोग हैं। हम जानते हैं कि ऐसे लोग 'हिंदू' के नाम से जाने जाते हैं, क्योंकि वे ही अनुभव करते हैं कि वे इस भूमि के पुत्र हैं। वे हमारे द्वारा रक्षा के पात्र हैं, सेवा के अधिकारी हैं।

लेकिन धर्म की रक्षा केवल सैद्धांतिक स्वरूप की नहीं हो सकती। यदि ऐसा संभव होता तो श्रीकृष्ण, जिन्होंने स्वयं कहा था कि वे धर्म की रक्षा के लिए आए हैं, ने धनुर्धर अर्जुन को युद्ध के द्वारा दुष्टों का संपूर्ण विनाश कर सज्जनों का राज्य प्रस्थापित करने की प्रेरणा न दी होती। यह संभव नहीं कि केवल चिंतन, मानसिक एवं मनोवैज्ञानिक धरातल पर धर्म की रक्षा की जा सके। उसके लिए प्रत्यक्ष कृति करनी होती है। हमें अपने समाज-बंधुओं को सर्वश्रेष्ठ और शक्ति-संपन्न बनाकर इस योग्य बनाना

चाहिए कि वे मानवों का मार्गदर्शन एवं उनकी सहायता कर, उनका भला कर सकें और जो इस लक्ष्य की प्राप्ति में बाधक हों, उन्हें परास्त कर सकें। यह हमारा कर्तव्य है।

इस रक्षा-कार्य में दुष्टों का निर्दलन आवश्यक हो सकता है। आज नहीं तो भविष्य में कभी संघर्ष होता है, तब सत् शक्तियों की विजय होनी ही चाहिए। इसके लिए अपनी सिद्धता करनी चाहिए। सब दृष्टि से तैयार होना चाहिए। यदि आसुरी शक्तियों को शक्ति द्वारा जीतना संभव हो तो शक्ति से, सामोपचार से संभव हो तो सामोपचार से और तर्क द्वारा संभव हो तो तर्क से जीतना चाहिए। किंतु सामान्यतः ऐसा देखने में आता है कि आसुरी शक्तियाँ तर्क या सामोपचार की भाषा नहीं समझतीं, उन्हें केवल शक्ति के द्वारा ही नियंत्रित करना संभव होता है। इसलिए हम कहते हैं कि हम अपनी संगठित कार्यशील शक्ति इस कार्य के लिए खड़ी करेंगे।

आवश्यक सद्गुण

यदि धर्म की रक्षा के लिए कार्य करना है तो आवश्यक गुण अर्जित करना हमारे लिए आवश्यक है। क्या केवल शारीरिक दृष्टि से बलवान बनकर आसुरी शक्तियों का विरोध करके धर्म की रक्षा करेंगे? जिस शक्ति के पीछे सद्गुणसंपदा और जीवन के श्रेष्ठतर मूल्यों का समादर न हो, वह सर्वथा तिरस्करणीय है। वह विश्व की शांति और सुव्यवस्था के लिए खतरा है। हम इस प्रकार की पाशवी शक्ति खड़ी करना नहीं चाहते। हम ऐसी शक्ति चाहते हैं, जो संपूर्ण समाज के ऐसे लोगों को मिलाकर बने, जो ज्ञानवान हैं, चरित्रवान हैं और ध्येयसिद्धि के लिए सब प्रकार के संकटों का सामना करने का साहस रखते हैं, अर्थात् जिन्हें अपने सामने आनेवाली किसी बात का यत्किंचित् भी भय नहीं है। जो अपने गंतव्य तक पहुँचने के लिए अत्यंत टेढ़े-मेढ़े पथ पर चलने का साहस और संकल्प रखते हैं। ऐसे व्यक्ति कायर या कमजोर नहीं हो सकते, वे केवल वीर ही हो सकते हैं और इसीलिए हम कहते हैं कि वीर होना चाहिए। वीरों जैसा जीवन व्यतीत करने का व्रत हम अंगीकृत करें। क्योंकि वही एकमेव मार्ग है, जिसके द्वारा हम अपनी कार्यसिद्धि की राह में आनेवाली सारी बाधाओं का साहसपूर्वक और सफलता से सामना कर सकते हैं। ऐसा अडिग और अविचल मस्तिष्क आवश्यक है, जिससे हम अपने मार्ग पर शांतचित्त से सुविचारपूर्वक बढ़कर अंतिम सफलता प्राप्त कर सकें। यदि हम निश्चय करें तो यह संभव है।

वीर वह है, जो अपने धर्म को समझता है और जो चिरंतन सत्तत्व के ज्ञान का और अति समृद्ध एवं विजयी ऐहिक जीवन, अर्थात् अभ्युदय और निःश्रेयस् का संयोग है। इस महान धर्म का साक्षात्कार केवल उन्हीं को हो सकता है, जो सद्गुणसंपन्न और वीरमनस्क हैं। केवल सबल, वीर और साहसी लोग ही सफल हो सकते हैं, जो इस दुनिया में किसी भी बात का सामना बिना विचलित हुए पूरी शक्ति के साथ तथा अपने मन का पूर्ण संतुलन रखते हुए कर सकते हैं।

सामर्थ्य, बल एवं पराक्रम पर विश्वास का एक उदाहरण देता हूँ। कौरव और पांडव अंतिम युद्ध के लिए अपनी-अपनी तैयारियाँ कर रहे थे। लोगों ने कहा कि कौरवों को अपने स्वार्थी एवं दुष्टतापूर्ण मार्गों का परित्याग कर पांडवों से किसी प्रकार का समझौता कर लेने के लिए अंतिम बार प्रयत्न करना चाहिए, जिससे इस महाविनाशक युद्ध को टाला जा सके और सब लोग शांतिपूर्वक रह सकें। पर प्रश्न यह था कि यह जिम्मेदारी कौन ले? क्योंकि अनेकों ने प्रयत्न किया था और वे सब असफल हो चुके थे। सबने कहा कि श्रीकृष्ण को मध्यस्थ का कार्य करना चाहिए। श्रीकृष्ण भी सहमत हो गए और जाने के लिए सिद्ध हुए। उस समय कुछ लोगों ने कहा, 'हे श्रीकृष्ण, आप उस दुर्योधन और अन्य कौरवों की राजसभा में जा रहे हैं, जो अत्यंत अप्रामाणिक, दुष्ट एवं चालाक हैं। वे आपको बंदी बना सकते हैं। यहाँ तक कि आपके प्राण भी ले सकते हैं। अतः आप सावधान रहें।' कुछ ने तो यहाँ तक कहा, 'यदि आपको कुछ हो गया, तो हम आपके बिना अनाथ हो जाएँगे। हमारा कोई रक्षक, कोई मार्गदर्शक नहीं रहेगा। फिर हमारा क्या होगा? इसलिए वहाँ न जाएँ।' श्रीकृष्ण ने हँसते हुए कहा, 'तुम डरते क्यों हो? मुझे वहाँ जाने दो। यदि सचमुच दुर्योधन मुझ पर हाथ उठाता है, तब तो तुम अपने आपको सौभाग्यशाली समझना, क्योंकि मैं अकेला ही भीष्म, द्रोण, कृप और कौरवों के उस सैन्य को, जो वे अपनी राजधानी में जुटा सकेंगे, अनायास ही समाप्त कर विजयी वीर के रूप में हस्तिनापुर लौटूँगा।' यह था उनका आत्मविश्वास। उन्होंने कहा कि मैं अकेला ही सब करूँगा। ऐसी थी उनकी शक्ति। लोगों को उनकी इस शक्ति का ज्ञान था। उन पर हाथ उठाना, न संभव था, न सरल। सब उनके प्रबल पराक्रम से भयभीत थे।

श्रीमद्भगवद्गीता में स्वयं श्रीकृष्ण ने कहा है कि धर्म की रक्षा के लिए वीरव्रती बनो। लेकिन ध्यान रखने की बात यह है कि कहनेवाला था

ऐसा अतुल पराक्रमी, अतुल शक्तिशाली और बताया भी पराक्रमी पुरुष अर्जुन को, जिसके बारे में कहा गया है कि श्रीकृष्ण के बाद अपने समय का वह सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर एवं योद्धा था। उसके साथ किसी की तुलना नहीं हो सकती थी। इस प्रकार यह दो महान योद्धाओं के बीच का संवाद है। धर्म का सर्वोच्च लक्ष्य अर्थात् अंतिम सत्य के साथ तादात्म्य का अनुभव प्राप्त करना और इस जगत् में श्रेष्ठतम सुख एवं समृद्धि हस्तगत करना— दोनों के लिए हमें वीरता का गुण चाहिए। वीरोचित गुणों के बिना हम सफल नहीं हो सकते।

हम यह भी कह सकते हैं कि हम विशुद्ध चारित्र्य से संपन्न हों। हमें इस बात का ज्ञान रहे कि हमें क्या करना है और कैसे करना है। हममें वीर का यह महान गुण भी चाहिए कि विश्व के द्वारा हमारे समक्ष प्रस्तुत किए जा सकनेवाले किसी भी भीषणतम संकट में हम अविचल खड़े रहें। इन गुणों से हमें अपने आपको युक्त करना है।

यह महामंत्र हमें केवल मातृभूमि के प्रति भक्ति ही नहीं सिखाता, केवल यही अनुभव नहीं कराता कि इस महान हिंदू-राष्ट्रपुरुष के हम जीवमान अंग-प्रत्यंग हैं, केवल यही नहीं बताता कि हम अपनी संगठित शक्ति का निर्माण ईश्वरीय कार्य की पूर्ति के लिए करें, अपितु यह भी सिखाता है कि अपना कर्तव्य सही प्रकार से, सही रूप में करने के लिए अपने को अतिश्रेष्ठ, पूर्णतः शुद्ध, निर्दोष, निष्कलंक चारित्र्य से संपन्न तथा प्रत्येक कर्मक्षेत्र में पराक्रम से युक्त व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत करें। इस प्रकार अति संक्षेप में यह प्रार्थना हमें बताती है कि हमें क्या साध्य करना है?

लक्ष्यसिद्धि संभव है

यह सब करना अपने लिए संभव है। मुख्य बात यह है कि हमें प्रयत्न करना चाहिए। प्रतिदिन प्रातःकाल, सायंकाल, रात्रि को जब भी थोड़ा मुक्त समय मिले, एकांत में बैठ कर अपनी प्रतिदिन की चर्या को अपने मनश्चक्षुओं के समक्ष लाएँ और देखें कि हमने दिनभर में क्या किया, किस प्रकार किया। कहीं कोई त्रुटि तो नहीं हुई, कहीं गलत मार्ग पर तो नहीं चले गए, कहीं गलत विचार या गलत मनोभावनाएँ हमारे मन-मस्तिष्क में तो नहीं घुसीं, कहीं किन्हीं पापमय विचारों ने तो हम पर पकड़ नहीं जमाई? इसका विचार करें। फिर संकल्प करें कि 'कल से आगे मैं अपने मन को सब प्रकार के विचारों से मुक्त रखूँगा। मैं अपने मन को सदा अपने

कार्य पर, अपने आदर्श पर सर्वोच्च अंतिम सत्तत्व पर केंद्रित करूँगा और अपने मन को कुमार्ग पर इधर-उधर भटकने नही दूँगा।' हो सकता है कि संकल्प करने के बाद दूसरे ही दिन फिर हम अपनी आदतों के शिकार बन जाएँ, दुर्बल हो जाएँ। पर निराश न हों। दिन-प्रतिदिन, अहोरात्र अपने संकल्प के महत्त्व को ध्यान में लाते हुए, उसको दुहराते रहना चाहिए। हम देखेंगे कि धीरे-धीरे कुछ समय में अपने जीवन को अधिक अच्छा बनाने के अपने संकल्प को दुहराते रहने का सुफल प्राप्त हो गया है और हम लोगों में पूर्ण परिवर्तन होकर इस दुनिया में अपना कार्य करने तथा अपना कर्तव्य पूर्ण करने के लिए, हम योग्य सत्प्रवृत्त शक्तिशाली व्यक्तियों के रूप में उभर आए हैं।

हमें अपनी प्रार्थना को केवल यंत्रवत कहते हुए उसके शब्दों का उच्चारण ही नहीं करना है, साथ ही प्रत्येक शब्द के उच्चारण के साथ अपने अंदर यह महान आदर्श, अंगीकृत इस महान कार्य की सफलता के लिए कार्य के अनुरूप अपने जीवन को ढालने का यह श्रेष्ठ विचार जागृत करना है, जिससे वे हमारे अंदर गहराई तक चलें जाएँ और वहाँ ऐसा अमिट संस्कार करें कि किसी भी चीज से उसे मिटाना संभव न हो। यह एक मार्ग है, जिससे हम अपने काम में अपना मन लगा सकते हैं। हम अपने कार्य का उचित मूल्यांकन करें, उसे ठीक तरह से समझें और अपने हृदय को उसमें उँडेल दें।

दुनिया उद्योगपरायणों के लिए है

यह विश्व उन लोगों के लिए है, जो उद्योगी हैं। जो कहते हैं कि हम निठल्ले बैठे रहेंगे, कुछ नहीं करेंगे, उनके लिए न इहलोक है, न परलोक। यह तो परिश्रम करनेवालों के लिए है, कार्य करनेवालों के लिए है। उन लोगों के लिए है, जिन्होंने अपने स्वार्थ का पूर्ण रूप से परित्याग कर दिया है और अपने-आप को ईश्वर के कार्य में लगा दिया है। उनके लिए ही इहलोक और परलोक – दोनों सुरक्षित हैं। इसलिए हमें बिना किसी स्वार्थ-भावना के, बिना किसी वैयक्तिक महत्त्वाकांक्षा के, बिना अपनी पाशवी वासनाओं की पूर्ति की इच्छा के, केवल एक ही मार्गदर्शक सिद्धांत को लेकर कार्य करना चाहिए, कि यह वह पवित्र भूमि है, जिसकी मुझे सेवा करनी है। जो इस धरती के, हिंदू-राष्ट्र के पावन पुत्र हैं, उनकी सेवा कर उन्हें विश्व में सर्वश्रेष्ठ बनाना मेरा परम कर्तव्य है और तदनुसार मैं अपनी

मनोरचना में, बौद्धिक विवेक में तथा शारीरिक क्षमता में ऐसे आवश्यक परिवर्तन लाऊँगा, जिससे इस कर्तव्य को उत्तम प्रकार से पूरा कर सकूँ और अपने संगठन को वैसा ही रूप दे सकूँ, जैसा हम चाहते हैं।

ट ट ट

संघ शिक्षा वर्ग, १९६७

(१)

शिक्षा वर्ग के सारे कार्यक्रम सोच-समझकर स्वीकार किए गए हैं। ये सब ऐसे कार्यक्रम हैं, जो अपने लिए बहुत उपयोगी हैं। केवल मन को प्रसन्न करनेवाले कार्यक्रमों का उपयोग नहीं होता। परायों के प्रभाव में आए तथाकथित पुरोगामी लोग कहते हैं कि 'आज के युग में 'दंड-खड्ग' का उपयोग क्या है? शाखा पर वॉली-बॉल, हॉकी, क्रिकेट आदि आधुनिक खेल होने चाहिए।' एक तो उन खेलों के लिए काफी धन खर्च करना पड़ता है। अपने समाज का सामान्य व्यक्ति गरीबी के कारण इतना धन खर्च नहीं कर सकता। दूसरे इन खेलों को खेलने के लिए बड़े मैदान की आवश्यकता होती है। सब स्थानों पर मैदान की उपलब्धता नहीं होती। तीसरी बात यह है कि उन खेलों को दिनभर खेलने के बाद भी कितने लोग खेल सकते हैं? बाईस खिलाड़ी और दो निर्णायक– केवल चौबीस लोग। हमें तो संपूर्ण हिंदू-समाज को संगठित करना है। कुछ लोग खेलें और बाकी तमाशा देखें, इससे अपना हेतु साध्य नहीं होगा।

महत्त्वपूर्ण और अनुभव की बात यह भी है कि उन परकीय खेलों से व्यक्ति में विशुद्ध राष्ट्रभाव, पौरुष, पराक्रम निर्माण नहीं होता व अनुशासित व्यवहार करने की क्षमता भी नहीं बढ़ती। अपने कार्यक्रम अनुभव के पश्चात् अपनाए गए हैं। अपने यहाँ के श्रेष्ठ राष्ट्रपुरुष इन्हीं खेलों और व्यायाम से पराक्रमी बने हैं। शरीर में लचीलापन और चपलता; मन में निर्भयता, पौरुष और पराक्रम आदि गुण बढ़ें, ऐसे ही कार्यक्रमों की योजना की गई है। एक शब्द के उच्चारण, एक आदेश के अनुसार कार्यक्रम करने की क्षमता इनसे ही निर्माण होती है। यदि दो व्यक्ति सामंजस्य से अपनी शक्ति एक कर कार्य करते हैं तो उन दोनों की संगठित शक्ति अधिक होती है।

हमें अपने समाज को संगठित करना है तो अधिकाधिक लोगों को शाखा में लाना पड़ेगा। सबके साथ संबंध रखकर उनसे बातचीत कर

सद्भावना निर्माण करनी पड़ेगी। उनको विचार समझाकर अपना साथी बनाना पड़ेगा। अपरिचितों के साथ रहना, खान-पान रखना पड़ेगा। यहाँ के कार्यक्रमों से विचार का दृढ़ीकरण होता है। तैरना सीखते समय जैसे आदमी पहले कम पानी में हाथ-पैर चलाना सीखता है और बाद में साहस प्राप्त होने के पश्चात् बावड़ी, नदी या सागर में बड़ी निर्भयता से कूद पड़ता है, वैसे ही समाज के विशाल सागर में जाने के पूर्व उस सागर का छोटा-सा स्वरूप अपना यह जो वर्ग है, उसमें समाज-सागर में निर्भयता से कूद सकने योग्य गुणों का पोषण होता है। इस पोषण के लिए उपयुक्त कार्यक्रम ही यहाँ होते हैं। यहाँ आया हुआ स्वयंसेवक प्रत्येक को पहचाने, सबसे दृढ़ परिचित हो। सब दृष्टि से हम लोग योग्य बनकर यहाँ से जाएँ, तभी इस वर्ग का उद्देश्य सफल होगा।

राष्ट्रवाद के विकल्पों की असफलता

राष्ट्रभाव श्रेष्ठ और अनिवार्य है। इसको छोड़ा नहीं जा सकता। इसे जो छोड़ेगा, उसका सर्वनाश हो जाएगा। पृथ्वी पर अलग-अलग समय पर भिन्न-भिन्न विचार-प्रवाह उत्पन्न हुए हैं। उनमें से एक यह भी है कि राष्ट्र वगैरह मानव-मानव के बीच भेद उत्पन्न करनेवाली कल्पनाएँ हैं, इसलिए इसे छोड़ देना चाहिए व समग्र पृथ्वी के मानव एक ही परिवार के हैं, यह मानना चाहिए।

प्राचीन काल में ईसाई मत चला। उनकी मान्यता थी कि देशों की सीमाओं को तोड़कर ईसाई मत का साम्राज्य संपूर्ण जगत् पर हो जाएगा, तब सारे लोग ईसाई होने के कारण मिलकर रहेंगे। मानो उनका एक राष्ट्र बन जाएगा। इस प्रकार की धार्मिक कल्पना को लेकर उन लोगों ने प्रयत्न किया। लेकिन परिणाम क्या हुआ? जो लोग ईसाई बन गए थे, उन्होंने क्या अपने राष्ट्रजीवन को छोड़ दिया? ऐसा नहीं हुआ। इतना ही नहीं तो भिन्न-भिन्न देशों के लोग ईसाई बनने के बाद भी अपने राष्ट्रीय अभिमान को लेकर आपस में लड़े। इंग्लैंड, अमरीका, फ्रांस, जर्मनी, इटली, स्पेन— सभी ईसाई हैं। इन ईसाई होने वाले देशों ने आपस में इतना खून-खराबा, इतना नरसंहार किया जितना पृथ्वी पर अभी तक अन्य किसी ने नहीं किया होगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक परिवार बनाने निकला ईसाई मत अपने अनुयाइयों को राष्ट्रभाव छोड़ देने की प्रेरणा नहीं दे सका। इतना ही नहीं तो इन लोगों ने राष्ट्रभाव के लिए ईसाई मत को ही तोड़-मरोड़ कर अपने राष्ट्रजीवन में लाकर बिठा लिया।

इसके बाद इस्लाम का विचार आया। इस्लाम के बारे में कहा जाता है कि 'इस्लाम कोई सीमाएँ नहीं मानता, इस्लाम राष्ट्रवाद को मान्यता नहीं देता।' इसके बाद भी हम देखते हैं कि अरब कहलानेवाले ही आपसी ईर्ष्या, स्पर्धा व द्वेष रखते हैं। आपस में लड़ते हैं। हिंदुस्थान में समय-समय पर भिन्न-भिन्न जाति के मुसलमान आए, परंतु उन्होंने एक-दूसरे के विनाश का ही काम किया। इस्लाम भी राष्ट्रभावना नष्ट कर जागतिकता लाने में असफल रहा है।

आजकल का नवीन विचार है कि धर्म व ईश्वर को छोड़कर केवल आर्थिक जीवन को महत्त्व देना चाहिए। इसको समाजवाद और साम्यवाद के नाम से जाना जाता है। इस विचार के लोगों ने भी घोषणा की थी कि कम से कम संसार-भर के श्रमिकों को एकत्र कर, बंधुभाव निर्माण कर ही लेंगे। लेकिन देखने में यह आया है कि रूस, चीन, पोलैंड, हंगरी, चेकोस्लोवाकिया अलग-अलग राष्ट्र बने हुए हैं और आपस में संघर्षरत रहकर ईर्ष्या-द्वेष रखते हैं। राष्ट्रभावना इस जागतिक विचार को गाड़कर उसपर ही खड़ी है।

हमारे देश में एक बार कई राष्ट्रों का सम्मेलन हुआ। उसके उद्घाटन भाषण में हमारे प्रधानमंत्री ने कहा, 'राष्ट्रीय मनोवृत्ति से सदैव युद्ध होते रहते हैं, अतः देश में राष्ट्रवाद को प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए।' जब हमारे प्रधानमंत्री के राष्ट्र-संबंधी ऐसे असंबद्ध विचार हों, तब राष्ट्र का कल्याण कैसे हो सकता है? जब राष्ट्र ही नहीं तो राष्ट्र-कल्याण भी नहीं। इस प्रकार 'राष्ट्र' की धारणा के संबंध में बहुत बड़ा भ्रम फैला हुआ है। यह भी कहा जाता है कि इस विज्ञान के युग में काफी वेगवान साधन निर्माण हो गए हैं। इस दुनिया के एक भाग में रहनेवाला आदमी कुछ घंटों में दूसरे भाग में जा सकता है। पृथ्वी ही क्या, चंद्रमा पर भी जाया जा सकता है। ऐसी अवस्था में राष्ट्र रूपी छोटी-छोटी दीवारों का कोई अर्थ नहीं है। उन्हें समाप्त कर संपूर्ण विश्व को एक करना चाहिए। राष्ट्र संकुचित वृत्ति का परिचायक है, बेकार की बात है।

हमारा सर्वसमावेशक राष्ट्रवाद

हमारे यहाँ तो पहले से ही इसका विचार हुआ है। हम लोगों में पूर्वकाल से यह धारणा रही है कि राष्ट्र नष्ट करने की आवश्यकता नहीं। सारे राष्ट्र अपनी विशेषताएँ कायम रखते हुए परस्पर एक-दूसरे के पूरक बनते हुए विविधता में समरस होकर मानवता का पोषण और संवर्धन कर

सकते हैं। हमारे यहाँ केवल मानवता ही नहीं, पशु-पक्षियों का भी विचार किया गया है।

इस जगत् के अंतिम सत्य 'मानवता का कल्याण' को आत्मसात करने के लिए सब राष्ट्रों में समन्वय रहना चाहिए। राष्ट्रभावना को समाप्त करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि यह अमर है। इसलिए राष्ट्रभावना निरंतर प्रेरणा देने वाली है। यह विश्वास होना चाहिए कि 'यह मेरा राष्ट्र है'— ऐसा कहकर मैं सद्भाव ही जागृत कर रहा हूँ। इस भूमि पर बसा हुआ हिंदू समाज ही यहाँ का राष्ट्रस्वरूप है, इसलिए इसके विकास, संवर्धन और विजयशाली बनाने की कामना अपने अंदर होना स्वाभाविक ही है। यदि इसे स्वाभिमानी राष्ट्र के रूप में खड़ा करना है तो अपने संपूर्ण समाज को संगठित कर अनुशासन के सूत्र में गूँथकर महान सामर्थ्य के रूप में खड़ा करने की नितांत आवश्यकता है।

संघ शिक्षा वर्ग, १९६७
(२)

सामान्य समाज किसी सिद्धांत की ओर तर्कनिष्ठ होकर नहीं देखता। सिद्धांत कहनेवाला अथवा मंडन करनेवाला कितना आग्रही, ध्येयनिष्ठ और शक्तिवान है, यह देख और समझकर समाज का एक बड़ा हिस्सा उसका अनुगमन करता है। इसलिए सत्य के मंडन के लिए ध्येयनिष्ठ सामर्थ्य खड़ा करने की आवश्यकता है। सत्य स्वयंसिद्ध होते हुए भी इस मिथ्या जगत् में उसको सिद्ध करना पड़ता हैं। इसलिए समाज सत्य को ग्रहण कर सके, हमें ऐसा सामर्थ्य खड़ा करना होगा।

इस भूमि पर अपना राष्ट्रजीवन पुनःप्रस्थापित करना है। वह सुरक्षित, निष्कंटक और निरापद होना चाहिए। भय से घर में काँपते बैठना तो ठीक नहीं। यह तो बेकार का जीवन है। अपना राष्ट्रजीवन तब निर्भय होगा, जब अपने को आक्रामकों का भय नहीं रहेगा और यदि कोई संकट आ भी गया तो उसका परिहार करने की शक्ति अपने पास होगी। संसार-भर के लोग तत्त्व का सम्मान नहीं करते, शक्ति को ही सम्मान मिलता है, उसके सामने सबकी गर्दन झुकती है। असम्मानित और उपेक्षित स्थिति रहने देना हृदय को चुभने वाली बात है।

आज अपने देश की स्थिति विचित्र है। बड़े-बड़े राजकीय नेता कह रहे हैं कि देश की स्थिति भीतिग्रस्त है। इसको हमें समझना चाहिए। वास्तव में चीन व पाकिस्तान बाह्य शत्रु हैं, अंदर के शत्रु ईसाई व मुसलमान भी शांत नहीं बैठे हैं। अन्यान्य प्रलोभनों का बलि बना कर हिंदुओं को ईसाई बनाते हुए उनको ही अपने सामने शत्रु के रूप में खड़ा किया जा रहा है। इस्लाम का आक्रमण अभी भी जारी है। वे बड़े साहस और आत्मविश्वास के साथ अपने पर आघात कर रहे हैं। यही गति साम्यवादियों की भी है। ये तत्त्व राज्य-तंत्र में प्रवेश कर उसको नष्ट-भ्रष्ट करने में प्रयत्नशील हैं। इधर अपना समाज आंतरिक विभेद बढ़ने के कारण टूट-फूटकर दुर्बल बन बैठा है। ऐसी अवस्था में समाज में आत्मग्लानि, आत्मविस्मृति, आत्मावज्ञता आना स्वाभाविक ही है। समय तीव्र गति से आगे बढ़ रहा है, उसके साथ-साथ हिंदू-समाज का संकट दिनोदिन गंभीर होता जा रहा है। उसे नष्ट करने की सब प्रकार से कोशिश हो रही है।

ऐसा प्रयत्न करने वाले निरंतर प्रयत्नशील हैं और अपना समाज सबसे बेखबर है, उदासीन है। अपने यहाँ अनेक ईसाई मिशनरी सर्वसंगपरित्याग करके धर्म-प्रचार करने के लिए आते हैं। उनकी संख्या दिनोदिन बढ़ रही है। अंग्रेज-राज समाप्त होने के बावजूद उनका कार्य रुका नहीं है। अपनी सरकार की अनुकूलता देखकर, उन्होंने अमरीकी विश्वविद्यालय में जाकर युवकों को आह्वान किया कि 'हिंदुस्थान अपने लिए अत्यंत अनुकूल क्षेत्र है, वहाँ धर्म-प्रसार की गति बढ़ाने की आवश्यकता है। ऐसा करने से वहाँ ईसाई साम्राज्य-निर्माण किया जा सकता है।' इस आह्वान पर सैंकड़ों उत्कृष्ट बुद्धिमान विद्यार्थियों ने अपने को धर्म-प्रसार का कार्य करने के लिए समर्पित किया। उनको प्रशिक्षण देकर हिंदुस्थान में नियुक्त किया गया है। अंग्रेजों के जमाने की तुलना में बीस प्रतिशत अधिक ईसाई मिशनरी हमारे यहाँ सक्रिय हैं। इस प्रकार वे अपना धार्मिक व राजकीय प्रभुत्व स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील हैं।

अपने बच्चे धर्म-प्रचार के लिए ऐहिक जीवन का त्याग कर, दूर देश जा रहे हैं– इस कारण उनके माँ-बाप रोते बैठे क्या? वे अपने लड़कों से झगड़े क्या? इसके विपरीत उन्होंने बड़ी प्रसन्नता से उनके विदाई समारोह किए। उनका गौरव करके चर्च पहुँचाया। परंतु अपने यहाँ की स्थिति कैसी है? सब स्वार्थ में लिप्त हैं। कोई कुछ करने को तैयार नहीं। यदि कोई तरुण देश कार्य के लिए अपने को प्रस्तुत भी करता है, तो उसके

माता-पिता कितना झंझट खड़ा करते हैं। अपना एक कार्यकर्ता प्रचारक के रूप में कार्य करने के लिए निकला। उसके पिता ने तो न्यायालय में मेरे विरुद्ध मुकदमा ठोक दिया। त्यागमय जीवन के प्रति अपने समाज की इतनी अनास्था है।

वैभव-विरोधी नहीं

'ब्रह्म सत्यं, जगत् मिथ्या' का अर्थ यह नहीं है कि घर-बार छोड़कर जंगल में जाया जाए। जगत् मिथ्या होने के कारण उसकी किसी चीज की अपने को आवश्यकता नहीं है। इस वाक्य का अर्थ यह नहीं है कि हमें वैभव नहीं चाहिए। वैभव से परावृत्त करनेवाला अपना शास्त्र नहीं है। थोड़े लोग ऐसे होंगे, जो सुखोपभोग से निवृत्त होकर संन्यासी होते हैं। इस लोक के संपूर्ण सुख का सच्चाई से, सन्मार्ग से, परिपूर्ण रीति से सबने उपभोग करना चाहिए। उपभोगों से मन संतृप्त हो जाने के पश्चात् जब सब जग नीरस, शुष्क, तृणवत दिखाई देता है, तब निवृत्ति के विचार शोभा देते हैं। इस प्रकार निवृत्त आदमी ही ज्ञान का अधिकारी बनता है। सुख-संपत्ति छोड़ दो– ऐसा अपने यहाँ नहीं कहा गया। अच्छे राज्य का लक्षण बताते समय शास्त्रों में कहा है कि जहाँ का कोष भरा हुआ है, समृद्धि के कारण सबका भरण-पोषण होता है, जहाँ राज्य-कर्मचारी संतुष्ट हैं और जहाँ पाप करने की प्रवृत्ति निर्माण नहीं होती, वह राज्य अच्छा है।

सबके लिए समृद्ध जीवन उत्पन्न करना हो तो उसके लिए परिश्रम करने की आवश्यकता रहती है। जिसमें बल नहीं, वह जीवन में परिश्रम क्या करेगा? परिश्रम करने के लिए बल चाहिए, मन का निश्चय चाहिए। अपना राष्ट्र बल के आधार पर ही समृद्धि-संपन्न बन सकता है। राष्ट्र को शक्तिसंपन्न बनाने की आवश्यकता है, यह बात अपने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ में बहुत पहले से बताई गई है।

अपने को अनुशासनयुक्त जीवन चलाने का अभ्यास रखना चाहिए। अनुशासन यह केवल कदम से कदम मिलाकर चलने से नहीं आता। अनुशासन एक आंतरिक भाव है। शरीर-मन-बुद्धि इनका जहाँ सामंजस्य है, वहाँ अनुशासन रहता है। अपना मन बहुत चंचल रहता है। उसको नियंत्रित करना, याने वायु को बाँधने जैसा है। अनुशासनयुक्त जीवन के लिए उसपर अभ्यासपूर्वक काबू पाना होगा।

अपने शासन द्वारा युवकों में देशभक्ति जगाने की एक योजना

बनाई गई थी। सेनाधिकारी रह चुके एक व्यक्ति उसके प्रमुख थे। सरकारी योजना होने के कारण धन की कोई कमी नहीं थी। सभी विद्यालयों में उसे लागू करने की बाध्यता भी थी। उस योजना के एक प्रमुख अधिकारी मुझसे मिले थे। उनका कहना था कि 'हम अनुशासन सिखाने का प्रयत्न करते हैं। सब प्रकार सुविधा विद्यार्थियों को देते हैं। वे सब सीखतें तो हैं, परंतु बाहर जाते ही उनका व्यवहार उद्दंडतापूर्ण हो जाता है। आपके संघ में तो ऐसा नहीं होता। आपकी इस सफलता का रहस्य क्या है।' मैंने कहा, 'मनुष्य प्रलोभन, भय अथवा श्रेष्ठ सम्मान्य व्यक्ति के वचन में श्रद्धा के कारण ही अनुशासन रूपी बंधन स्वीकारता है। हम भय दिखाते नहीं। इसके विपरीत हम तो बताते हैं कि यह कंटकाकीर्ण मार्ग है। प्रलोभन हम देते नहीं। संकीर्ण भावना छोड़कर राष्ट्र की श्रेष्ठ निर्मिति करने का आह्वान करते हैं। श्रेष्ठ महापुरुष हमारे में हैं नहीं। केवल संघनिर्माता थे, वे अब हमारे बीच हैं नहीं। किंतु हमारे पास एक श्रेष्ठ उच्च ध्येय है कि भारत हमारी मातृभूमि है, यहाँ एक राष्ट्रजीवन रहा है, उससे हमारा प्राचीनकाल का रिश्ता है– ऐसे इस हिंदूराष्ट्र को हमें श्रेष्ठ व समर्थ बनाना है। यही ध्येय आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है। इसके बिना अनुशासन उत्पन्न करना संभव नहीं। क्या आप इसे स्वीकार कर सकेंगे?' उन्होंने कहा, 'आपकी बात ठीक है। मैं अपने उच्चाधिकारियों से बात करूँगा।' आगे क्या हुआ, भगवान जाने।

प्राप्त अवनत स्थिति दूर करके एक बार फिर अपना हिंदूराष्ट्र आत्मतेज और वैभव से परिपूर्ण कर अन्यान्य राष्ट्रों के समूह में प्रकाशमान और उन्नत-मस्तक करना अपना जीवन कार्य है। इसीलिए अपना संघ अहोरात्र प्रयत्न कर रहा है। इसे समाजव्यापी करने के लिए आलस्य को दूर रखकर निश्चय के साथ प्रयत्न करने होंगे।

संघ शिक्षा वर्ग, १९६८

(१)

सामान्यतः मनुष्य को अकेला रहकर काम करने की इच्छा रहती है। अपने मन, बुद्धि व शरीर का अभिमान उसे रहता है। इस इच्छा को काबू में रखकर अपने सब साथियों को साथ लेकर काम कर सके, ऐसी भावना उसमें जागृत करना अपने कार्यक्रमों का उद्देश्य है। व्यक्तिगत रूप

से काम करने पर कोई बड़ा काम करना संभव नहीं होता। अनेकों शक्तियाँ एवं बुद्धियाँ जो अलग-अलग बिखरी हुई हैं, उन अस्तव्यस्त शक्तियों को एकत्र करना होगा। सब एक समय पर एक सूत्र से, योग्य रीति व व्यवस्था से कार्य करें तो बड़ा काम भी आसान हो जाता है। इस एक साथ काम करने को ही 'अनुशासन' बोलते हैं। इसका एक पहलू आज्ञापालन है। अपनी बुद्धि से हेर-फेर न करते हुए अंतःकरणपूर्वक जैसी आज्ञा मिले, उसके अनुरूप आचरण करना, आज्ञापालन में आता है। हृदय, बुद्धि, शरीर, मन की जो शक्ति रहती है वह एक जगह सामूहिक कार्य के लिए सूत्रबद्धता से लगाने की आदत इस आज्ञापालन से निर्मित होती है। यह जीवन का एक अत्यंत श्रेष्ठ गुण है। शारीरिक कार्यक्रमों के कारण मन की दौड़ती हुई गति नियंत्रित होती है।

वर्ग में जैसे छोटी आयु के स्वयंसेवक आते हैं, वैसे ही बड़ी आयु के स्वयंसेवक भी आते हैं। उनको लगता है कि अपनी आयु बड़ी होने के कारण शरीर का लचीलापन नष्ट हो गया है। इस कारण शारीरिक भले ही अच्छी प्रकार से न कर पाएँ, तब भी वर्ग के संस्कार तो प्राप्त कर सकेंगे। यह विचार मन में रखकर वर्ग में आते हैं, किंतु ऐसा सोचना ठीक नहीं। दो-चार दिन ठीक ढंग से करने पर शरीर को अभ्यास हो जाता है। अग्रगण्य होने के लिए प्रयास करने की आवश्यकता होती है। असंभव कुछ भी नहीं है।

हम संघकार्य के लिए प्रस्तुत हैं तो हम उत्तम रीति से कुशलता से काम करें और दूसरों से भी करवाएँ। काम बढ़ गया है, इसलिए छोटी-छोटी बातों की ओर दुर्लक्ष्य होता है। छोटी-छोटी बातों की उपेक्षा हुई तो बड़े काम भी अपने हाथ से नहीं हो सकेंगे। कहावत है कि 'घोड़े की एक छोटी-सी नाल के कारण पूरा राज्य खोना पड़ा।' प्रत्येक बात का अपना महत्त्व है।

वर्ग से लौटने के बाद अपने को कोई न कोई दायित्व दिया जाएगा। यदि पहले से दायित्व है, तब बड़ा दायित्व दिया जाएगा। किसी पद की अभिलाषा मन में नहीं रहनी चाहिए, किंतु उसकी योग्यता अपने अंदर हो यह आवश्यक है। शिखर पर दृष्टि नहीं रखनी चाहिए। शिखर पर कौआ भी बैठता है। कौआ बनने की अभिलाषा क्यों होनी चाहिए? उस मंदिर की संपूर्ण शोभा अपने कंधों पर लेकर, किसी को न दिखते हुए नींव के पत्थर के रूप में रहना श्रेष्ठ है।

समाज के प्रति अपने कर्तव्य को निभाना प्रत्येक व्यक्ति का जन्मसिद्ध धर्म है। अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार कार्य करते रहना चाहिए। जब श्री रामचंद्र जी लंका-विजय के लिए सेतु बाँधने का कार्य करवा रहे थे, तब एक छोटी गिलहरी अपने शरीर को समुद्र के पानी में भिगोकर रेत में वह पानी डालती थी तथा शरीर को चिपकी रेत को समुद्र में। वास्तव में उसके इस कार्य से सागर का पानी कम होने की कोई संभावना नहीं थी, परंतु उसकी भावना एक अच्छे काम में अपना सहयोग देने की थी, महत्त्व उसी का है। श्री रामचंद्र जी ने उसके इस परिश्रम का गौरव किया। सच्चे हृदय से किया हुआ कोई भी अच्छा काम अभिनंदनीय है। अपने यहाँ ऐसे उदाहरण भी हैं कि कई स्वयंसेवक जीवन-भर कार्यवाह ही रहते हैं। अपने कार्य का वैशिष्ट्य यह है कि स्वयंसेवक को पद की आशा नहीं रहती। कार्यवाह, संघचालक, जिला संघचालक, प्रांत संघचालक और फिर सरसंघचालक– ऐसी बढ़ती मिलती नहीं।

संघ शिक्षा वर्ग, १९६८

(२)

तीर्थाटन का महत्त्व

अपने यहाँ एकात्मता कायम रखने के लिए तीर्थाटन को निमित्त बनाया गया था। सामान्य से सामान्य आदमी अपना जीवन तभी सफल मानता था, जब वह देश के चार कोनों में स्थापित चारों धामों की यात्रा कर लेता था। इस प्रकार सहज रूप से समाज का एक-दूसरे से मिलना, जानना, पहचानना हो जाता था। इसमें न तो भाषा की समस्या आती थी, न प्रांतीयता की। लोग भी तीर्थयात्री की सब प्रकार की व्यवस्था करने में धन्यता का अनुभव करते थे। परंतु पिछली अनेक शताब्दियों से परकीयों के सतत आक्रमणों के कारण देश में अस्थिरता का वातावरण रहा। वहीं निरंतर की दासता के कारण समाज की आर्थिक विपन्नता दाल-रोटी के अलावा अन्य बातों की ओर ध्यान देने का अवसर ही नहीं देती थी। इन कारणों से घर छोड़कर तीर्थाटन के लिए निकलना कठिन हो गया। देश के एक कोने से दूसरे कोने तक जाने का क्रम टूटा और उसका संबंध एक छोटे से क्षेत्र से ही रह गया। उसकी दुनिया वहीं तक सिमटकर रह गई। परिणाम यह हुआ कि हमारी जो विविधताएँ हैं, उन्हें भिन्नताएँ और भेद माना जाने लगा। आज उन्हीं के आधार पर झगड़े खड़े किए जा रहे हैं।

यात्रा और तीर्थाटन बंद होने का परिणाम यह हुआ कि वह जिस क्षेत्र में रहता है, उस क्षेत्र और उसमें रहनेवालों को ही अपना मानने लगा। बाकी उसके लिए पराए हो गए। जब मैं बनारस में था तब हम लोगों ने अपनी एक मेस चलाई थी। पास के गोरखपुर का रहनेवाला एक पंडित हमारा भोजन बनाता था। छुट्टी लेकर उसे जब घर जाना होता था, तब वह कहता कि मुझे देश जाना है। उत्तरप्रदेश में ही बनारस और गोरखपुर है, परंतु उसके लिए बनारस परदेश था।

इसी प्रकार हमारी वेषभूषा में इतनी भिन्नता है कि यह हमारा ही है– यह पहचानना तक लोग भूल गए हैं। एक बार एक बड़े मंदिर में दर्शन के लिए गया था। वहाँ देखा कि द्वार पर कुछ महिलाएँ खड़ी थीं। वे दर्शन के लिए अंदर जाना चाहती थीं, परंतु पुजारी उन्हें अंदर जाने से रोक रहा था। मैंने उससे पूछा, 'क्या बात है? इन्हें दर्शन के लिए मंदिर में जाने से क्यों रोक रहे हो?' पुजारी ने कहा, 'देख नहीं रहे हैं। ये औरतें पाजामा पहने हुई हैं। मुसलमान औरतों को अंदर कैसे जाने दूँ?' मेरे यह बताने पर कि भले ही इनका पहरावा पाजामा है, पर ये हिंदू ही हैं, उसने उन्हें अंदर जाने दिया। फिर भी उसके मन में संदेह बना ही रहा। संपूर्ण देश के बारे में जानकारी न होने व लोगों का आना-जाना बंद होने से इस प्रकार की स्थिति निर्मित हुई है।

प्राकृतिक कारणों से विभिन्नता

यहाँ के भिन्न-भिन्न रहन-सहन, वेष इत्यादि वायुमान, तापमान के करण बनाए गए हैं। अपने यहाँ दक्षिण के मंदिरों में पूजा करने के लिए स्नान कर शुचिर्भूत हो, स्वच्छ वस्त्र पहन, कुर्ता न पहनते हुए उघाड़े बदन जाना अनिवार्य होता है। मगर जब उत्तर में हिमालय की गोद में स्थापित मंदिरों में जाएँगे तो वहाँ का पुजारी पैर में मोजे, गरम पायजामा, २-३ कपड़ों पर लंबा कोट, कमरबंद, गुलुबंद, सिर पर पगड़ी के पोशाक में रहता है। ८-८ दिन तक वह स्नान भी नहीं करता। यदि उसे दक्षिण के समान एक कपड़ा पहनकर पूजा करने के लिए कहा गया, तो वह भगवान के चरणों में लीन हो जाएगा और रोज एक नए पुजारी की व्यवस्था करनी पड़ेगी। हिमालय का वातावरण इतना ठंडा रहता है कि शरीर-रक्षण के लिए कपड़े आवश्यक होते हैं। इसका विचार करेंगे तो वेष के भेद हैं, यह कहने का कारण नहीं रहेगा। प्राकृतिक कारणों से विविधता है। आजकल तो निसर्ग के अनुसार वेष बनाने की ओर ध्यान नहीं दिया जाता। विदेशी

वेषभूषा स्वीकार करना इसका मुख्य कारण है। सौ-डेढ़ सौ वर्षों के बाद इसके दुष्परिणाम दिखाई देंगे।

जाति समाज-व्यवस्था के लिए

अपने यहाँ अनेक जातियाँ हैं, परंतु ये अनेक वंशों से आए हुए लोग नहीं हैं। इसके लिए अपना इतिहास प्रमाण है। सर्वप्रथम वर्ण जाति नहीं थी। जब राज्य संस्था उत्पन्न हुई, तब विविध कार्यों के लिए समाज के चार मोटे भाग बनाए गए। जैसे ज्ञान और बुद्धिमत्ता से समाज का मार्गदर्शन करनेवाले, समाज का जीवन सुरक्षित रखनेवाले, उद्योग-धंधे, कृषि आदि से समाज को संपन्न बनानेवाले और भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्यों में परिश्रम करनेवाले। इस प्रकार एक ही समाज की वर्ण-व्यवस्था थी। यह व्यवस्था वंश-परंपरा में चलने से फायदा होता है। डाक्टर का लड़का डाक्टर होने से दवाखाने का ठीक उपयोग होता है। कोई भी काम वंश-परंपरागत रूप से करने पर अपने कार्य के प्रति प्रेम और कुशलता बढ़ती है। इस वर्ण-व्यवस्था में से छोटे-छोटे समूह निर्माण हुए, भिन्न-भिन्न जातियों का आविष्कार हुआ। यह सब समाज धारणा की व्यवस्थाएँ हैं और एक-दूसरे के लिए पूरक हैं। कोई भी जाति छोटी या बड़ी नहीं होती। भगवान का दर्शन करानेवाले संत अपने समाज की सभी जातियों में हुए हैं।

जितने मत, उतने पथ

कार्य की योग्यता की तरह ही प्रत्येक व्यक्ति की प्रकृति भिन्न होती है। इसलिए उनकी उपासना-पद्धति भी भिन्न-भिन्न होंगी। एक पद्धति सबके लिए उपयुक्त नहीं हो सकती। स्वभाव विशेष और गुण विशेष को समझकर मार्गदर्शन करने से उन्नति हो सकती है। किसी भी मार्ग से व्यक्ति भगवान के निकट जा सकता है। बलात् मत लादने का कोई लाभ नहीं होता। जिन-जिन मतों या संप्रदायों में एक ही मार्ग है, उनमें आध्यात्मिक अनुभूति से श्रेष्ठ हुए व्यक्ति मानो मिलते ही नहीं। इस्लाम और ईसाई संप्रदाय इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। क्षुद्र सिद्धि प्राप्त चमत्कार करनेवाले फकीर तो मिलते हैं, परंतु उनसे भगवान मिलता नहीं।

श्री रामकृष्ण परमहंस के एक शिष्य ने उनसे कहा, 'मैंने एक चमत्कार देखा। एक योगी गंगा के पानी के ऊपर से चलते हुए उस पार गया।' श्री रामकृष्ण ने कहा, 'इसकी कीमत एक पैसा है। एक पैसा नौकावाले को देकर बैठे-बैठे उस पार जाया जा सकता है। वह तो

चलते-चलते गया।' केवल ऐहिक जीवन का विचार होने से आध्यात्मिक उन्नति होती नहीं। व्यक्ति की प्रकृति के अनुसार विचार होने पर ही उसका विकास होता है।

भाषा को लेकर प्रादेशिकता का बोलबाला है, जबकि सभी भाषाओं का मूल स्रोत एक है। उसको प्रस्तुत करने के ढंग अलग-अलग हो सकते हैं। स्थानीय वातावरण परिस्थिति के अनुरूप बदल भले ही हो, परंतु उनके साहित्य में वर्णित विषयवस्तु एक ही है। रामायण अपनी हर भाषा और बोली में मिलेगी। वेद, उपनिषद् में वर्णित विषय और अपने जीवनमूल्यों अर्थात् चतुर्पुरुषार्थ आदि का वर्णन ही सब साहित्य में मिलेगा।

शाखा से भेद-निराकरण

इन बातों का विचार करने पर अपने को स्पष्ट दिखाई देगा कि आपस में मतभेद उत्पन्न हो भ्रम में पड़ने का कोई कारण नहीं है। किंतु इन सब बातों का अनुभव तभी आएगा, जब हमारा एक दूसरे के साथ परिचय होगा, एक-दूसरे के निकट आएँगे।

इसी हेतु की पूर्ति के निमित्त संघ ने अपनी पद्धति बनाई है। समग्र देश के लोग तो एकत्र आ नहीं सकते। इसलिए ग्राम-ग्राम में, नगर-नगर में, एक-एक मुहल्ले में एकत्र मिलने के स्थान हों। वहाँ पर सब लोग निश्चित समय पर एकत्र हों और एक साथ कार्यक्रम करें। ऐसे कार्यक्रम, जो निरपवाद हैं, जिसमें किसी प्रकार का खर्च नहीं होता और न ही कोई उपकरण लगते हैं। प्रतिदिन एकत्र होकर चर्चा करने व साथ-साथ कार्यक्रम करने से अपने में जो अभिन्नता का भाव है, उसकी अनुभूति होगी और यह संस्कार हृदय में पक्का होगा कि हम सब एक हैं।

अनेक मुहल्लों की शाखा मिलकर नगर की पूर्ण शाखा, नगर और आसपास के ग्रामों को मिलाकर जिले की शाखा और जिले मिलाते-मिलाते समग्र देश में, कश्मीर से कन्याकुमारी तक, एक ही कार्यक्रम निश्चित समय पर करनेवाले हम समग्र हिंदू-समाज की एकात्मता की अनुभूति हृदय में करके एक प्रबल संगठन-सूत्र में बँधते जाएँगे। इस प्रकार के एकत्रीकरण से अंदर की सारी क्षुद्रताएँ दूर होकर एकात्मता का भाव बनता है। असामान्य और अद्वितीय, करने में अति सरल, परंतु अत्यंत परिणामकारी अपनी यह शाखा-प्रणाली है।

शाखा में अपनी नित्य की उपस्थिति अनिवार्य है। कोई भी बहाना

न करते हुए इस कर्तव्य से दूर नहीं रहूँगा– इसका निश्चिय करें। दूसरी बात यह कि शाखा अकेले क्यों जाऊँ? अपनी मित्रमंडली को लेकर क्यों न जाऊँ? तीसरी बात यह कि शाखा जाना ही पर्याप्त नहीं है, संघस्थान पर जाकर शाखा के सभी कार्यक्रम अंतःकरणपूर्वक आनंद से करना चाहिए। शाखा पूर्ण होने के बाद वहाँ से तुरंत न भागते हुए, बैठकर अपने कार्य के संबंध में आपस में विचार-विनिमय करना चाहिए। कहाँ कमी रह रही है, उसका विचार करके दूर करने का प्रयत्न करें। शाखा की उत्तरोत्तर वृद्धि के लिए कौन आया, कौन नहीं आया इसका पूर्ण ध्यान रखना चाहिए। हो सकता है कि कोई स्वयंसेवक अस्वस्थता अथवा अन्य किसी प्रकार की कठिनाई में हो। इसका पता कर उसकी हर प्रकार से सहायता करें। हम सब एक लक्ष्य को लेकर चलनेवाले लोग हैं। प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में यह भाव जागृत करने के लिए समय लगाना पड़ता है। लक्ष्यपूर्ति के लिए अधिक से अधिक समय लगाएँ। यह सोचने की कतई आवश्यकता नहीं है कि मुझे तो किसी ने गटनायक नहीं कहा, मेरे पर कोई दायित्व नहीं है आदि। मैं दायित्ववान कार्यकर्ता नहीं होऊँ पर स्वयंसेवक तो हूँ।

यह सब करते हुए भी संपूर्ण समाज संघस्थान पर खड़ा कर सकेंगे क्या? सब समाज आएगा, ऐसी अपेक्षा भी नहीं है, क्योंकि आधा समाज स्त्री-वर्ग का है। शेष आधे बचे हुए पुरुष-वर्ग में भी वृद्ध और छोटे-छोटे शिशुओं को छोड़कर जो पुरुष-वर्ग बचता है, उसमें से भी भिन्न-भिन्न कारणों से कई लोग नहीं आने वाले हैं। अब जो समाज बचता है, उसे कितनी मात्रा में संघस्थान पर ला सकेंगे, इसका विचार करें।

अपनी शाखा के माध्यम से हिंदू-समाज के छिन्न-विच्छिन्न रहने से जो दुर्गति होती है, उससे सर्वथा मुक्त होकर शक्तिमान समाज के रूप में खड़े होने के लिए कटिबद्ध हों।

ᗅᗅᗅ

संघ शिक्षा वर्ग, १९६८

(३)

इतिहास के जानकार ऐसा बताते हैं कि जब प्रबल शत्रु सामने आता है, तब लोगों में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं। एक प्रवृत्ति के लोग वे होते हैं, जो अपनी दुर्बलता देखकर व शत्रु के सामर्थ्य से भयभीत हो साहस छोड़ बैठते हैं। ऐसे लोग यह सोचते हैं कि शत्रु के साथ

झगड़ा न करते हुए किसी प्रकार से समझौता कर लेना अच्छा है। समझौता करने के लिए कुछ अपमान सहन करना पड़े, कुछ नुकसान उठाना पड़े, तो भुगतना चाहिए। किसी भी प्रकार से क्यों न हो, पर अपने जीवन की रक्षा करनी चाहिए। कुछ इतिहासकारों का यहाँ तक मानना है कि मानसिंह ने हिंदुओं की रक्षा के लिए ही अकबर से अपनी बहन का विवाह करके नाता जोड़ा था। फिर भी इसका अर्थ यही होता है कि मानसिंह अकबर को शत्रु मानता था, समाज के लिए संकट उत्पन्न करनेवाला मानता था। शत्रु से लड़ने का साहस न होने के कारण उसने दूसरा रास्ता अपनाया था।

आज भी ऐसा दिखाई देता है कि अपने समाज पर आघात करनेवाले जो लोग हैं, उनको खुश करने के लिए यही नीति अपनाई जा रही है। वे गाय मारें, मंदिर तोड़ें, हमारी लड़कियाँ उठा ले जाएँ, अपने समाज को कोई आपत्ति नहीं होती। मगर इससे यह समझना कि शत्रु से बंधुता उत्पन्न हो जाएगी, नितांत भूल होगी। दो ही स्थिति होती हैं— सामने वाला या तो मित्र होगा अथवा शत्रु। अन्य तीसरी स्थिति हो नहीं सकती।

शत्रु के साथ व्यवहार करनेवाले दूसरी प्रवृत्ति के लोग वे होते हैं, जो स्वाधीनता के लिए, समाज की रक्षा के लिए किसी प्रकार का अपमान सहन नहीं करते। किसी प्रकार का समझौता नहीं करते। भले ही उन्हें कितने कष्ट उठाने पड़ें। यहाँ तक कि प्राणों को समर्पित करने में भी संकोच नहीं करते। महाराणा प्रताप, गुरु गोविंदसिंह, शिवाजी प्रभृति के लोग इस श्रेणी में आते हैं। वे जीवन-भर शत्रु से मुकाबला करते रहे। इस कारण उनको, उनके परिवार और मित्रों को अगणित कष्ट झेलने पड़े। ऐसे लोग शत्रु को शत्रु मानने और उससे संघर्ष करने में संकोच नहीं करते।

शत्रु, शत्रु ही रहता है

शत्रु को हम शत्रु मानें अथवा मित्र मानने का प्रयास करें, रहता वह शत्रु ही है। मुसलमानों की आज तक कितनी खुशामद की गई। उन्हें राष्ट्र की मुख्य धारा के साथ जोड़ने के लिए सब कुछ सहन किया गया। उनकी हर माँग मानी गई। गाँधी जी ने अपने समाज-बंधुओं का विरोध होने के बाद भी मुसलमानों का सब प्रकार से समर्थन किया, किंतु उन्हीं गाँधी जी के बारे में उनके निकट रहनेवाले सज्जन, जो कांग्रेस के अध्यक्ष भी रह चुके हैं, ने कहा, 'पापी से पापी मुसलमान, जो शरीयत में विश्वास करता है, महात्मा गाँधी से सैंकड़ों गुना श्रेष्ठ है।' गाँधी जी ने इसका भी

बुरा नहीं माना। इतना सब सहन करनेवाले महात्मा गाँधी की बात न मानते हुए अपनी मातृभूमि का विभाजन कर अलग देश बनाने में उन्हीं मुसलमानों को कोई झिझक नहीं हुई। गाँधी जी ने मुसलमानों के खिलाफत आंदोलन का समर्थन करते समय यही कहा था कि मैं मुसलमानों को प्रसन्न करना चाहता हूँ, ताकि हिंदू सुरक्षित रहें। प्रकारांतर से मुसलमानों को आक्रमणकारी ही कहा, केवल कहने का ढंग अलग था।

अंग्रेजों के जाने के बाद भी ईसाई धर्मांतरण के द्वारा अपना उद्देश्य पूरा करने में लगे हैं और इन राष्ट्रविराधी शक्तियों को हमारे नेताओं का पृष्ठपोषण मिलता है। अपने समाज का हितचिंतन न होने के कारण उन्हें शत्रु के इस व्यवहार से कोई कष्ट नहीं होता।

जिन्हें अपने देश की सीमाओं का पूरा ज्ञान नहीं है, ऐसे लोग आज देश का नेतृत्व कर रहे हैं। कच्छ की भूमि पर उठे विवाद के समय राष्ट्रीय एकता परिषद् की बैठक में अपने देश की प्रधानमंत्री ने कहा 'वह कच्छ का भू-भाग हमारा है या नहीं, हमें मालूम नहीं। इस पर अंतर्राष्ट्रीय अधिकरण जो फैसला देगा वह मान्य होगा।' अपनी मातृभूमि को न पहचाननेवाले राष्ट्रीय एकता की बात कर रहे हैं। इस कारण शत्रुता का भाव रखने वाले निर्द्वंद होकर अपनी गतिविधियाँ चलाते हैं।

संघ शिक्षा वर्ग, १९६९

(१)

हम हिंदू क्यों हैं? ईसाई नहीं हैं, मुसलमान नहीं हैं, इसलिए हिंदू हैं क्या? ऐसा नकारात्मक विचार रहा, तब संगठन की कोई आवश्यकता ही नहीं है। उसके लिए प्रयत्न करने की इच्छा होने का भी कोई कारण नहीं है। इस 'हिंदू' शब्द का कोई ठोस अर्थ है क्या? इसका विचार करेंगे, तभी संगठन करने की प्रेरणा मिलेगी। विचार करने पर ऐसा दिखाई देगा कि पृथ्वी के भिन्न-भिन्न देशों में रहनेवाले कोई न कोई लक्ष्य लेकर उसकी पूर्ति के लिए भाग-दौड़ कर रहे हैं। सुख, धन-संपत्ति को जुटाना, उसकी रक्षा हेतु बलवान बनना, ऐसा अनुभव होने पर कि अपने देश की सीमाएँ छोटी हैं, अन्य देशों पर आक्रमण कर साम्राज्य का विस्तार करना, चंद्रमा, मंगल पर जाकर वहाँ और यहाँ अपना प्रभुत्व स्थापित करना— साधारणतः यही लक्ष्य दिखाई देता है।

इस कारण आज सब तरफ मार-काट मची हुई है। सब चिंतित तो दिखाई देते हैं, किंतु इस विषय पर केवल चर्चा चलती है, कोई कुछ करता नहीं। एक बार अमरीका के एक वयोवृद्ध दंपत्ति मुझसे मिलने आए थे। वे वहाँ एक अत्यंत प्रसिद्ध विश्वविद्यालय में प्राध्यापक थे। मैंने उनसे पूछा, 'आपका हिंदुस्थान आना किस कारण से हुआ है?' उन्होंने बताया कि 'सारा संसार एक-दूसरे का शत्रु बना हुआ है। किसी का किसी के साथ सामंजस्य नहीं है। ऐसा लगता है कि एक प्रकार से पुराना जंगली जीवन फिर से आ गया है। ऐसे में मनुष्य को मनुष्यता के नाते भातृभावयुक्त जीवन चलाने के लिए प्रेरित करने के वास्ते कौन सा सिद्धांत हो सकता है– उसकी खोज में हम घूम रहे हैं। इस सिलसिले में हम कई देशों का प्रवास कर चुके हैं। मेरा विश्वास है कि हिंदुस्थान में अति प्राचीनकाल से महान तत्त्वदर्शी पुरुषों की परंपरा रही है। यहाँ के तत्त्वज्ञान के आधार पर लोगों को एकसूत्र में गूँथना संभव हुआ है। उन्हीं सिद्धांतों के आधार पर एक बार फिर से संसार को एकता और भातृभाव में बाँधा जा सकता है।' मैंने कहा, 'आपका विचार अच्छा है। आप तो ईसाई हैं। उस मत में ऐसा कुछ नहीं मिला क्या? और अन्य मतों के अध्ययन से क्या पता चला?' उन्होंने उत्तर दिया, 'कहीं से भी समाधान नहीं मिला। इसलिए इधर आया हूँ।' मैंने संस्कृत श्लोकों के माध्यम से कुछ बातें बताईं। वे काफी विद्वान थे, उन्होंने वे श्लोक पढ़े हुए थे। व्याख्या करने पर उन्होंने बताया, 'इन्हें पढ़ा तो था, परंतु इस दृष्टि से सोचा नहीं था।'

अपने देश में विद्वान लोगों की कोई कमी नहीं है। फिर उनका मेरे पास आने का कारण क्या था? केवल इसलिए, क्योंकि मैं हिंदू हूँ और एक बड़े हिंदू संगठन का प्रमुख हूँ। इस प्रकार का मान-सम्मान अपने पूर्वजों द्वारा स्थापित प्राचीन परंपरा के कारण कुछ न करते हुए भी अपने को मिलता है। इस कारण अपना कर्तव्य बनता है कि इस परंपरा का सरंक्षण करते हुए और अधिक अच्छे ढंग से आगे बढ़ाएँ। नाममात्र का हिंदू बनना हमें शोभा नहीं देता अथवा यह कहते रहने में भी कोई अर्थ नहीं कि मैं हिंदू हूँ, यह हिंदू राष्ट्र है। उसका वास्तविक बोध होना चाहिए, तोते की तरह रटने से क्या होगा?

एक बार की बात है। मैं रेलगाड़ी से प्रवास कर रहा था। मार्ग के स्वयंसेवकों को पता लगा कि संघ के सरसंघचालक जा रहे हैं। रेल रात को लगभग दो बजे उनके स्टेशन से निकलती थी। मुझे पता नहीं था कि

स्वयंसेवक स्टेशन पर मिलने आनेवाले हैं। इसलिए आराम से सो रहा था। सात-आठ तरुण स्टेशन आए थे, किंतु वे मुझे पहचानते नहीं थे। उन्होंने एक तरकीब सोची। वे एक सिरे से दूसरे सिरे तक 'हिंदूराष्ट्र, हिंदूराष्ट्र' के नारे लगाते जा रहे थे। मुझे वे आवाजें सुनाई दीं। क्या मामला है— यह देखने के लिए उठकर बाहर आ गया। पास आने पर उनसे पूछा, 'ये हिंदूराष्ट्र वाला कौन है?' उनमें से एक ने कहा, 'तुम्हें क्या करना है? हम अपने सरसंघचालक से मिलने आए हैं।' मैंने कहा, 'फिर नारे क्यों लगा रहे हो?' उसने बताया, 'हम उन्हें पहचानते नहीं हैं, इसलिए।' मैंने उनसे कहा, 'भाई, तुम्हारे सामने खड़ा तो हूँ।' उसने बताया, 'हमें आपका नाम मालूम नहीं था, तब किस नाम से बुलाते? संघ में हिंदूराष्ट्र बोलते हैं, इस कारण हमने सोचा कि हिंदूराष्ट्र बोलना चाहिए।' अब वे हिंदूराष्ट्र का मतलब समझते थे क्या? ऐसे कुछ शब्द बोलते आने का तो कोई मतलब नहीं। 'आत्मनो मोक्षार्थम् जगत्‌हिताय च'— इस जीवनलक्ष्य को चरितार्थ करनेवाला, निष्काम भाव से ऐसे जीवन की परंपरा चलानेवाला सर्वश्रेष्ठ समाज, याने हिंदू-समाज— ऐसा अर्थ अपने ध्यान में आना चाहिए और अपने उदाहरण के द्वारा इसे दूसरे के ध्यान में भी लाना है। इस निमित्त ही हम हिंदूसमाज का संगठन कर रहे हैं।

संघ शिक्षा वर्ग, १९६९

(२)

राष्ट्र के संपूर्ण पुनरुत्थान की कल्पना स्पष्ट हो जाने पर अपने ध्यान में आ गया होगा कि प्रमुख घटक मनुष्य है। धन, वस्तु, कारखाने आदि मनुष्य ही निर्माण करता है। अतः मनुष्य को संस्कारित करना पहला काम है। अपने संघ में जब संगठन की बात करते हैं, तब हमारा अभिप्राय केवल व्यक्ति के बाह्य स्वरूप से ही नहीं होता; प्रत्येक के अंतःकरण की राष्ट्रभक्तिपूर्ण, चारित्र्यसंपन्न, आत्मीयतायुक्त, सुव्यवस्था व अनुशासन के गुणों से पूर्ण स्थिति बनाने से होता है।

इसके बिना प्राप्त स्वातंत्र्य फलीभूत नहीं होगा। उसका लाभ प्रत्येक व्यक्ति तक नहीं पहुँच सकेगा। आज स्वत्व से पूर्ण व्यक्तियों का अभाव ही दिखाई देता है। राज्यव्यवस्था कैसी हो— इससे लेकर एक छोटे से मकान की कमान कैसी हो, इसके लिए हम विदेश की ओर देखते हैं,

जबकि हमारी जलवायु, वातावरण, कृषि, शिक्षा, भाषा, साहित्य, काव्य– सब उनसे भिन्न है। फिर भी हम उनकी नकल करते हैं। उनका अनुकरण कर योजना बनाने व तदनुसार ढाँचा खड़ा करने के दुष्परिणाम भी हम देख ही रहे हैं।

राष्ट्र की श्रेष्ठता, समृद्धि, सुरक्षितता का दायित्व मुझ पर है और उसे परिश्रमपूर्वक करना है। इसके बदले में मुझे कुछ मिलना चाहिए– यह अपेक्षा नहीं होनी चाहिए। ऐसी लेन-देन की अपेक्षा तो नौकरों की होती है। आज अपनी स्थिति क्या है? सामान्य क्लर्क व मजदूर से लेकर बड़े-बड़े अधिकारी ईमानदारी से अपना पूरा काम करते हैं क्या? विभाग में बैठने के लिए स्थान नहीं– इतने कर्मचारी हैं, फिर भी काम नहीं होता। कारखानों का उत्पादन दिन-प्रतिदिन घटता जा रहा है, परंतु मजदूरी बढ़ती जा रही है। उसे और अधिक करने की माँग निरंतर होती रहती है। ये तो गुलाम व्यक्ति के लक्षण हैं। वह काम कम से कम और आराम अधिक से अधिक चाहता है।

इसलिए प्रत्येक व्यक्ति के अंतःकरण को व्यवस्थित करने की आवश्यकता दिखाई देती है। उसी आवश्यकता की ओर अपना ध्यान केंद्रित करके अपने समाज की न्यूनता को दूर कर समाज को वास्तविक रीति से प्रगतिशील व सर्वांगपूर्ण करना है।

संघ शिक्षा वर्ग, १९६९

(३)

राजतंत्र के स्वार्थ और अव्यवस्था से ऊबकर जनता प्रजातंत्र की पद्धति लाई। प्रजातंत्र का आधार– समानता (Equality), बंधुत्व (Fraternity) और स्वतंत्रता (Liberty) का है। मगर जहाँ-जहाँ प्रजातंत्र है, वहाँ बंधुत्व निर्माण हुआ है– इसका अनुभव आता नहीं। लेकिन समानता का आग्रह उत्पन्न होकर अनाधिकार चेष्टा की प्रवृत्ति बढ़ती दिखाई देती है और समानता का अर्थ एक प्रकार से स्वैराचार से लिया जाता है। जिनके पास कुछ बुद्धि, कुछ धन अथवा कुछ साधन होते हैं, वे अपना स्वार्थ-सिद्ध कर धनवान व सत्तावान हो जाते हैं। यह कह सकते हैं कि कुछ लोगों के स्वार्थ को बढ़ावा देकर समाज को विच्छिन्न करनेवाली प्रजातंत्र के समान दूसरी प्रणाली नहीं है। परंतु आज इसका ही बोलबाला है। एक स्थिति ऐसी

आती है, जब प्रजातंत्र का विद्रोह करने पर जनता मजबूर हो जाती है। इस प्रकार सभी प्रणालियों में विद्रोह चलते रहते हैं।

इसका अर्थ यह है कि सत्ता में रहनेवाला व्यक्ति यदि अत्यंत उदात्त, ध्येयनिष्ठ, स्वार्थशून्य, चरित्रवान, राष्ट्रसेवी रहा, तभी चल सकता है। परंतु प्रश्न यह उठता है कि ऐसे आदमी लाएँ कहाँ से? सत्ता पर बैठनेवाला आदमी आएगा तो सामान्य समाज से ही। और समाज जैसा होगा, नेता भी वैसा ही मिलेगा। सत्ता प्राप्त करने पर तो अच्छे आदमी भी खराब हो जाते हैं। वहाँ रहकर जो यह प्रयत्न करे कि कोई दुर्बलता उसके अंदर न आए, सदा सतर्क रहे, वही ठीक रह सकता है।

सभी प्रकार से समाज को पर्याप्त लाभ देनेवाली राज्य-प्रणाली हो और उसमें किसी प्रकार की बुराई न आने पाए, इसके लिए उसपर आवश्यक अंकुश होना चाहिए। व्यक्ति सत्ता के मोह में न फँसे तथा ठीक-ठाक बना रहे और सत्ता निरंकुश न हो, इसकी उचित व्यवस्था होनी चाहिए। विदेशों में न्यायालय को अधिक अधिकार देकर सत्ता पर नियंत्रण रखने का प्रयास किया गया, किंतु न्यायालय चलानेवाले भी तो सामान्य जनता में से लिए हुए मनुष्य ही होते हैं और उनका राजनैतिक स्वार्थ में लगे लोगों से कहीं न कहीं संबंध आता ही है।

अपने यहाँ इस बारे में विचार किया गया था और ऐसे त्यागी-तपस्वी ऋषियों का सत्ता पर नियंत्रण रखा गया था, जिनका स्वयं का कोई स्वार्थ नहीं होता था, कोई कामना नहीं रहती थी। सत्ता की अभिलाषा उन्हें नहीं होती थी। वे स्वयं जंगल में रहकर ध्यान-धारणा में लीन रहते, पर जगत् के कल्याण की चिंता किया करते थे। जिनका इतना सामर्थ्य होता था कि अनियंत्रित राजा को गद्दी से उतार कर नया राजा बैठा सकते थे और आवश्यकता होने पर बैठाया भी।

आज अपने यहाँ प्रजातंत्र है। उस पर ५-१० व्यक्तियों के करने से तो नियंत्रण होगा नहीं। संपूर्ण समाज को ही जागृत करना पड़ेगा। इसके लिए स्वयं के मान-सम्मान, धन, कीर्ति आदि किसी प्रकार की अपेक्षा न करते हुए समाज को जोड़ने का काम कर सकनेवाले विशाल व सुव्यवस्थित मनुष्य-समूह की आवश्यकता रहेगी। इस दृष्टि से समाजव्यापी कार्य खड़ा करने के लिए हम प्रयत्नशील हैं और उसे पूर्ण करने का दायित्व हम सब पर है।

उस समय संयुक्त मध्यप्रदेश था। तत्कालीन मुख्यमंत्री से मेरा अच्छा परिचय था। एक बार उनसे मिलने का अवसर आया, तब उन्होंने एक पुस्तिका दिखाते हुए कहा, 'आपने इस पुस्तिका को देखा है। इसमें लिखा है कि आप संघ वाले जनसंघ को नियंत्रित करते हैं।' मैंने वह पुस्तिका पढ़ी हुई थी। एक सज्जन, जो जनसंघ को छोड़ गए थे, उन्होंने उस पुस्तिका को लिखा था। उन्होंने आरोप लगाया था कि 'संघ का अत्यधिक नियंत्रण होने के कारण जनसंघ का काम लोकतांत्रिक पद्धति से नहीं, तानाशाही तरीके से चलता है। हर बात में संघ के लोग दबाव डालते हैं, इसलिए मैंने जनसंघ से त्यागपत्र दिया है।' इसी का संदर्भ देते हुए मुख्यमंत्री महोदय ने कहा कि आप संघ के लोग जनसंघ को नियंत्रित करते हो। मैंने उनसे कहा, 'हम इतना बड़ा संगठन देश भर में चलाते हैं, क्या केवल ताली बजाने के लिए चलाते हैं? हम चाहते हैं कि समाज से संबंधित जितने भी काम चलते हैं, जिसमें राजनीति भी शामिल है, हमारे नियंत्रण में रहें। आज केवल जनसंघ की बारी है, कल आपकी भी आएगी।'

संघ शिक्षा वर्ग, १९७०

(१)

हम लोग केवल प्राणी ही नहीं हैं। जो केवल प्राणी होता है, उसे अन्य बातें नहीं समझतीं, क्योंकि उसकी बुद्धि काम नहीं करती। मनुष्य तो बुद्धिमान, विचारी, विवेकी कहलाता है। इसी कारण वह अपने पर उपकार करनेवाले समाज का विचार करता है। जो ऐसा नहीं करता, उसे 'कृतघ्न' कहा जाता है। कृतघ्न होना मनुष्य का बहुत बड़ा दोष है। विचारवान लोगों ने समाज का अध्ययन कर समाज के उपकार से उऋण होने के लिए अपने-अपने तरीके से समाज-सेवा का मार्ग अपनाया। किसी ने शिक्षा प्रसार किया तो किसी ने चिकित्सालय खुलवाए। किसी ने भूखों को भोजन कराने के लिए अन्न-सत्र चलाए तो किसी ने शीत-निवारण के लिए कंबल बाँटे।

परंतु पश्चिमी प्रभाव के चलते स्वार्थ बढ़ता जा रहा है। जीवन-मूल्यों के प्रति जो थोड़ी-बहुत श्रद्धा थी, वह समाप्तप्राय हो रही है। व्यक्ति अपने देश, समाज, गाँव, मुहल्ला तो दूर, अपने रिश्तेदार के प्रति सद्भावना को भी भूल रहा है। किसी की सहायता करनी चाहिए ऐसी इच्छा सामान्य

व्यक्ति के मन में उठती ही नहीं। समाज का ऐसा दुःखपूर्ण चित्र हमें देखने को मिलता है। कई बार तो दूसरे पर आई आपत्ति से वह अपना मनोरंजन करता हुआ दिखाई देता है।

एक प्रसंग तो मेरा स्वयं का देखा हुआ है। एक युवक मोटरसाइकिल पर अपनी पत्नी को ले जा रहा था। असावधानी के कारण पत्नी के वस्त्र मोटरसाइकिल के पहिए में फँस गए। मोटरसाइकिल गति में होने के कारण पत्नी विवस्त्रावस्था में दूर जा गिरी और युवक एक तरफ। यह देखकर वह युवक तो हक्का-बक्का रह गया। उसे कुछ सूझा नहीं। आसपास खड़े लोग उनकी सहायता करने के स्थान पर उनकी दुर्दशा देख ठहाके लगाने लगे। आजू-बाजू रहनेवाली स्त्रियाँ भी अपनी खिड़की से तमाशा देख रही थीं। उस लड़की की सहायता करने उनमें से कोई बाहर नहीं आया। हो-हल्ला सुनकर मैं बाहर आया। सारा दृश्य देखकर मुझे आश्चर्य हुआ। मैंने अपनी धोती उतारकर उस लड़की को लपेटी और उसे पास के घर में ले गया। वहाँ की महिलाओं को कहा कि इसे अपने कपड़े पहनाओ। तब जाकर उन महिलाओं को होश आया और उन्होंने उसके हाथ-मुँह धुलवा कर पहनने को कपड़े दिए। फिर तमाशा देख रहे लोगों से कहा, 'तुम अच्छे हो, इनकी सहायता करने के स्थान पर हँसते हुए खड़े हो।'

इतनी हीनता, क्षुद्रता, कर्तव्यशून्यता, स्वार्थपरता समाज में प्रविष्ट हो चुकी है। इस तरह से धर्म की ग्लानि होती है, तब स्वत्व समाप्त हो जाता है और किसी के प्रति श्रद्धा इत्यादि बातें प्रकट करने की प्रेरणा नहीं होती। जबकि इतिहास बताता है कि अपना समाज सुसंस्कारित था, पराक्रमसंपन्न था। अपने बारे में विदेशी यात्रियों ने भी यही लिखा है कि यहाँ का समाज सब प्रकार से चारित्र्यसंपन्न है। यहाँ की व्यवस्था का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है कि कोई दरिद्र अथवा भिखारी नहीं था। केवल विद्योपार्जन करनेवाले ब्रह्मचारी धर्म के आदेशानुसार उस दिन के उदर निर्वाह के लिए इने-गिने घरों में भिक्षा माँगते थे अथवा वे, जिन्होंने सर्वसंगपरित्याग कर भगवान की आराधना करने में अपना जीवन पूरी तरह से लगा दिया है। उन्हें भीख माँगने की जरूरत थी, इसलिए वे भीख नहीं माँगते थे, बल्कि अपने अंतःकरण से अहंकार निकालने के सद्विचार से प्रेरित होकर वे ऐसा करते थे। बुद्ध, महावीर के पास तो सब कुछ था, उसका परित्याग कर उन्होंने भिक्षावृत्ति स्वीकार की थी। उनका यह कार्य उदरभरण के लिए नहीं था। एक उदात्त विचार के लिए उन्होंने ऐसा किया था।

परंतु संघ ने समाज-सेवा के इन प्रकारों में से किसी को ग्रहण न करते हुए एक अलग ही प्रकार निकाला। लोगों के साथ चलने में किसी प्रकार का संकोच था अथवा अलग प्रकार का काम कर विशेष दिखने, मान-सम्मान पाने के लिए हमने ऐसा किया, ऐसी बात नहीं है। संघनिर्माता ने विचार किया कि समाज में जो न्यूनताएँ हैं वे मौलिक नहीं हैं। जिस कारण ये न्यूनताएँ उत्पन्न होती हैं, उस मूल कारण को दूर करना उपयुक्त होगा। केवल ऊपर-ऊपर का विचार कर निदान करने से समस्या कुछ समय के लिए समाप्त हुई दिखाई देती है, मगर फिर से किसी न किसी रूप में उभर आती है। इसलिए मूल दोष क्या है– इसका पता लगाकर उसका उपाय करना चाहिए। इस कारण हमने मूल समस्या का उपचार करने का काम अपने हाथ में लिया है।

डाक्टर जी के जीवन का प्रसंग है। एक बार एक अनाथालय के संचालक पूजनीय डाक्टर जी को अपना अनाथालय दिखाने ले गए। उन्होंने उस अनाथालय का सारा प्रबंध देखा। प्रबंध बहुत अच्छा था। अनाथ बच्चों के अतिरिक्त परित्यक्ता स्त्रियों को रखने की भी व्यवस्था थी। सब कुछ दिखाने के पश्चात् प्रबंधकर्ताओं ने अनाथालय के बारे में डाक्टर जी का अभिमत जानना चाहा। डाक्टर जी ने अपना अभिमत बताते हुए कहा कि 'अनाथालय की व्यवस्था तो बहुत ही उत्तम है, परंतु अपने समाज की ऐसी स्थिति बनाना अधिक उपयुक्त होगा कि न कोई बच्चा अनाथ रहे और न किसी स्त्री को परित्यक्ता का जीवन व्यतीत करना पड़े।'

संघ शिक्षा वर्ग, १९७०

(२)

अपने जितने शब्द है, उनका अंग्रेजी अनुवाद करके समझने का प्रयास करने के कारण कई समस्याएँ खड़ी हुई हैं। ऐसा ही अपना एक शब्द है– संस्कृति, जिसका अंग्रेजी अनुवाद कल्चर (Culture) किया गया है। कोई-कोई इसका अर्थ सभ्यता (Civilisation) से भी लगाते हैं। 'सिविलायजेशन' का सामान्य अर्थ जीवन की सुविधाएँ, जैसे– बिजली, यंत्र, डाक-व्यवस्था, रेलगाड़ी, मकान, रहन-सहन आदि से लिया जाता है, जबकि 'कल्चर' शब्द उस देश की जलवायु के कारण बने हुए रीति-रिवाजों को प्रकट करता है। 'कल्चर' कहने के बाद जीवन में धर्म के लिए कोई स्थान नहीं रहता,

क्योंकि प्रदेश की जलवायु पर निर्भर होने के कारण धर्म का उसपर किसी प्रकार का प्रभाव होने का कोई कारण नहीं है। उनके यहाँ प्रत्येक देश की जीवन-प्रणाली एक है, इसलिए वे कहते हैं कि हमारा कल्चर एक है। परंतु 'कल्चर' का 'संस्कृति' से कोई संबंध नहीं है। पश्चिम के 'कल्चर' शब्द में हमारी 'संस्कृति' सीमित नहीं रह सकती।

संस्कृति का संबंध मन की आंतरिक प्रेरणा से है। अंतःकरण की यह सामूहिक सुदृढ़ प्रेरणा संस्कृति होती है। संस्कृति की व्युत्पत्ति संस्कार से बताई जाती है। संस्कार प्राप्त होने पर जीवन की एक धारा बनती है। वह जीवनधारा ही उस समाज की संस्कृति होती है।

संस्कार ऐहिक जीवन के आघात और प्रत्याघात से मिलते हैं। उसी प्रकार धर्म के आचरण से मिलते हैं। धर्म के आचरण से मिलनेवाले संस्कार पवित्र और श्रेष्ठ होने के कारण समाज की सांस्कृतिक जीवनधारा बनती है।

वेशभूषा, केश-रचना, जीवन की सुविधाएँ संस्कृति नहीं हो सकतीं। अपने यहाँ के गरीब से गरीब, अशिक्षित व्यक्ति का आचरण भी स्वत्व से युक्त दिखाई देगा। वनवासी भले ही कपड़े नहीं पहनता होगा, मांस खाता होगा, आज जिसे शिक्षा कहा जाता है, वह उसने प्राप्त नहीं की होगी, परंतु उसका आचरण अधिक सुसंस्कृत होता है। वे किसी दूसरे की चीज को हाथ तक नहीं लगाते, जबकि आज के सुशिक्षितों का आचरण उद्दंडतापूर्ण, दूसरे के वस्तु की लालसा रखने और उसे अन्यायपूर्ण रीति से प्राप्त करनेवाला होता है। तब अधिक सुसंस्कृत किसे माना जाए?

लोगों ने संस्कृति को प्रादेशिक अर्थ में लेकर यही कहना प्रारंभ किया कि हमारे संपूर्ण देश की संस्कृति अलग-अलग है। इसलिए कह सकते हैं कि संस्कृति को ठीक ढंग से न समझते हुए, उसे अपनी आँखों से ओझल करके हमने अपनी शक्ति को दुर्बल ही किया है। इस कारण धर्म और संस्कृति जैसे पवित्र आह्वान प्रभावी नहीं रहे।

ऐसे ही 'धर्म' शब्द का अनुवाद 'रिलीजन' किया जाता है और धर्म को रिलीजन समझकर अनुकूल प्रतिकूल मत प्रकट किए जाते हैं। वास्तव में रिलीजन बहुत ही छोटा भाव है। धर्म बहुत व्यापक व सर्वसंग्राहक है। व्यक्ति के जीवन की सुव्यवस्था धर्म के द्वारा होती है। अर्थात् जन्म से लेकर मृत्यु तक भिन्न-भिन्न प्रकार से अपने कर्तव्य किस ढंग से करना चाहिए, उसकी व्यवस्था धर्म बताता है। विद्यार्जन, गृहस्थी, जीवन-यापन आदि के

कर्तव्य क्या हैं? कब किस परिस्थिति में क्या करना चाहिए, इसका मार्गदर्शन धर्म करता है। सबका भरण-पोषण करते हुए संघर्षरहित समाज-रचना की व्यवस्था भी धर्म के अंतर्गत आती है। जीवन के अंतिम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकृति के लोगों को किस मार्ग का अनुसरण करते हुए चलना चाहिए, उन विविध मार्गों का आविष्कार और उनके बीच सामंजस्य प्रस्थापित करनेवाली प्रबल व्यवस्था 'धर्म' है, भले ही उसके अंदर कितने भी पंथ या विचार उत्पन्न हुए हों।

पर रिलीजन कहकर अपने जितने संप्रदाय थे, उनको धर्म के रूप में प्रस्तुत किया गया, जबकि संप्रदाय तो साधन मात्र हैं, धर्म नहीं। लेकिन संप्रदाय को 'धर्म' कहने के बाद धर्म के प्रति दृष्टिकोण ही बदल गया और अपने संप्रदाय के प्रति जो जितना कट्टर होता है, वह उतना अधिक धार्मिक माना जाने लगा। साधन कभी भी एक नहीं हो सकता। वह व्यक्ति-व्यक्ति और समय के अनुसार बदलते रहते हैं। जब साध्य के स्थान पर साधन महत्त्वपूर्ण हो जाता है, तब साध्य एक तरफ रह जाता है और साधन को लेकर कई तरह के विवाद उत्पन्न होने लगते हैं। एक प्रकार का जड़त्व और अहंकार आने लगता है। यह अहंकार उन साधन, अर्थात् संप्रदायों में उप-संप्रदाय निर्मित होने का कारण बनता है। एक का संबंध दूसरे से नहीं रहता। सब अपने-अपने मत का आग्रह रखते हैं। इस कारण संप्रदाय भी स्वार्थ साधने के मार्ग हो जाते हैं।

धर्म के प्रति रुझान स्वाभाविक है। यह अति पवित्र है और सर्वसंग्राहक जीवन-प्रणाली है, जिसमें व्यक्ति और समाज दोनों का हित सम्मिलित है। धर्म में प्रत्येक व्यक्ति को इहलोक में अभ्युदय तथा जीवन का अंतिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति करा देने की क्षमता है। धर्म का आचरण करने वाले को नीतिमत्ता का ज्ञान रहता है। किंतु धर्म के प्रति अज्ञान हो जाने पर उसके प्रति पवित्रता का जो भाव था, वह समाप्त होने लगा। सही क्या है— यह समझने की इच्छा और क्षमता दोनों ही नहीं रहीं। संप्रदाय में स्वार्थ और व्यावसायिकता आ जाने के कारण जो संप्रदाय को ही धर्म मानते हैं, उन्हें इसी आधार पर अपने धर्म की आलोचना का अवसर मिलने लगा।

सामान्य जन का व्यवहार भी वैसा ही हो गया है। उसका विश्वास किस बात पर है, यह समझ से परे है। पूजा-पाठ का आयोजन भी स्वार्थ के लिए ही करते हैं। बाह्य आडंबरों का आचरण जो जितना अधिक करता

है, वह उतना ही धार्मिक समझा जाता है। वास्तविक धर्म को समझनेवालों की संख्या बहुत ही अल्प है।

कहने का तात्पर्य यह है कि धर्म प्रमुख है और उसके दिए हुए आचार से, उसने दिए हुए विचार से बने हुए संस्कार और उन संस्कारों के कारण बनी हुई जीवनधारा, याने अपनी संस्कृति है। संस्कृति धर्माचरण का ही परिणाम होती है।

मेरी विद्यार्थी-अवस्था का एक मित्र इसी आधार पर धर्म को पुरातन और व्यर्थ की बात मानता था। देवी-देवता के अस्तित्व को असत्य, पाखंड से परिपूर्ण कहता था। उसे कई बार समझाने का प्रयास भी किया, पर वह अपनी बात पर अड़ा रहा। परीक्षा के दिन आए। मैं अपने स्वयंसेवक बंधुओं की पढ़ाई की चिंता करके रात १२ बजे तक वापस लौटा करता था। एक दिन मैंने देखा कि अर्धरात्रि में भी कोई हनुमान जी की प्रतिमा की परिक्रमा लगा रहा है। यह देखने के लिए कि ऐसा प्रबल भक्त कौन है, जो रात में हनुमान जी की परिक्रमा कर रहा है, मैं मंदिर के बाहर खड़ा रहा। संकल्प की परिक्रमा पूरी कर वह बाहर निकला। मैंने देखा कि भगवान को 'गपोड़बाजी' कहनेवाला वही मेरा मित्र माथे पर सिंदूर पोते हुए है। मुझे देखकर वह संकोच में पड़ गया। परीक्षा का संकट देख उसे भगवान की याद आई, अर्थात् स्वार्थ उत्पन्न होने पर भगवान की याद आई।

धर्म का विरोध करने के पीछे सच्चाई नहीं रहती। इसका विरोध करना एक फैशन हो गया है। इसलिए धर्म का जो परिणाम हृदय पर होना चाहिए, वह नहीं होता। समाज के बहुत बड़े वर्ग में अभी भी धर्म की भावना है, किंतु हृदय में उसका वास्तविक बोध नहीं है।

दूसरे की दृष्टि से अपने को देखने की वृत्ति अपने मन में प्रवेश कर गई तो वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आ जाती है और फिर धीरे-धीरे उसका स्वभाव ही बन जाती है। तब उसमें अपनी सारी चीजों के प्रति हीनता की भावना आने लगती है। यह बात कहाँ तक पहुँचती है, एक प्रसंग के माध्यम से हम समझ सकते हैं।

पुलिस का एक सिपाही था। अधिक पढ़ा-लिखा न होने के कारण वह जीवन-भर सिपाही रहा। सामान्य सिपाही को अपने अफसरों की डाँट दिन-भर खानी पड़ती है। समाज भी सिपाही को अच्छी निगाहों से नहीं देखता। इस प्रकार का अपमानित जीवन जीने के कारण उसने अपने लड़के

को अच्छी तरह पढ़ाया। लड़का वकालत पास कर बड़ा सरकारी अधिकारी बन गया। बंगला, गाड़ी, चपरासी सब मिले। अच्छे ठाट थे। उसका विवाह होने पर वह शहर में रहने लगा। परंतु उसका सिपाही पिता गाँव में ही रहता था।

बाद में उस लड़के के लड़का हुआ। उस सिपाही को अपने पोते को देखने की इच्छा हुई, इसलिए अपनी पोटली उठाई और लड़के को बिना सूचना दिए शहर आ गया। पूछते-पाछते लड़के के बँगले पर पहुँचा। उस समय वह अपने अधिकारी मित्रों के साथ बैठा चाय-पान कर रहा था। लड़के ने देखा कि अपना पिता ठेठ ग्रामीण वेश में पोटली उठाए द्वार पर खड़ा है। उसे बहुत संकोच हुआ। इसलिए वह तत्परता से उठा और बाहर जाकर पिता से बोला कि आप पिछले द्वार से अंदर आ जाइये। पिता ने भी सोचा कि क्यों इनके बीच बाधा बनूँ। वह पिछले द्वार से अंदर जाकर कमरे में बैठ गया।

इधर उन मित्रों ने इसे जल्दी से उठा देखा, वापस आने पर पूछा, 'यह कौन था? जिसे देखकर तुम तुरंत उठ गए।' उसने कहा, 'कोई नहीं, यह गाँव का हमारा पुराना नौकर है। उसे पिछले द्वार से अंदर जाने के लिए कहने गया था।' पिता को अपने लड़के की यह बात सुनाई दे गई। वह चुपचाप उठा और बिना किसी से कुछ बोले वापस अपने गाँव लौट आया और फिर कभी शहर की ओर मुँह नहीं किया।

पुत्र अपने पिता को पिता कहने को तैयार क्यों नहीं हुआ? क्योंकि पिता गरीब, अशिक्षित, ग्रामीण था, इसलिए। अपना हिंदू समाज भी दीन है, दुर्बल है, इसलिए आज कोई उसे अपना कहने को तैयार नहीं है। उस अधिकारी की तरह, जो अपने पिता को पिता कहने में लज्जा का, हीनता का अनुभव कर रहा था। उसी तरह आज हिंदू अपने को हिंदू कहने में लज्जा का अनुभव करता है।

विचार करने पर अपने को दिखाई देगा कि जीवन के सिद्धांत, संस्कार, तत्त्वज्ञान– सभी धर्म में से निकले हुए हैं। उन संस्कारों के कारण बनी हुई अपनी सबकी सामूहिक जीवन-प्रणाली ही संस्कृति है। इस तरह से समझने का प्रयत्न करेंगे तो धर्म अधिक व्यापक और मौलिक दिखाई देगा। कहने का अर्थ यह है कि बाहर के लोग धर्म और संस्कृति को जिस प्रकार से मानते हैं, वैसा अपने यहाँ नहीं है।

ऐसे गलत अर्थ निकालने के कारण ही संभ्रम निर्माण हुआ है। इसलिए उन मूल शब्दों का जो स्वाभाविक परिणाम हृदय पर होना चाहिए, वह नहीं होता। आज अपनी संस्कृति का परिणाम होता दिखाई नहीं देता, उसका यह भी एक कारण है। इसलिए वह शब्द अपने लिए निरुपयोगी हो गए हैं।

इस सबके बावजूद इस भूमि पर सहस्रों वर्षों से रहते आए हिंदू का अपना एक विशिष्ट जीवन है। उसका सर्वव्यापी श्रेष्ठ धर्म है। पुनीत संस्कारों से बनी संस्कृति है। अनेक प्रकार के सुख-दुःख, यश-अपयश के प्रसंगों से भरा उसका इतिहास है। आधुनिकता के आवरण के कारण सब प्रकट भले ही न होता हो, उसका हिंदुत्व बिल्कुल नष्ट हो गया हो, ऐसा भले ही प्रतीत होता हो, परंतु सब उसके हृदय में सूक्ष्मता से पैठे हुए हैं। केवल उनके जागरण की आवश्यकता है। और वह काम अपने को करना है।

संघ शिक्षा वर्ग, १९७०

(३)

अपने समाज के मनुष्य का स्वभाव सामान्यतः आलसी वृत्ति का हो गया है। वह काम को टालने की कोशिश करता है। कर्तव्य को समझने पर भी उससे छुट्टी कैसे मिलेगी, इसका मार्ग ढूँढता रहता है। कर्तव्य करने से मना करने पर लोग दोष देंगे, इसलिए अपनी बुद्धि का उपयोग काम को करने के लिए न करते हुए, उसके लिए कोई न कोई कारण खोजने की चेष्टा करता है, जिससे काम भी न करना पड़े और अपने पर काम न करने का दोषारोपण भी न हो। इस कारण वह कर्तव्य-पथ से दूर होता जा रहा है।

प्रत्येक व्यक्ति का अपना-अपना व्यक्तिगत स्वार्थहित होता है, परिवार का हित होता है, समाज का हित होता है। परंतु इनमें से किसी का भी स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता। समग्र समाज के हित आपस में एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। समाज के समग्र हित का वह एक अविभाज्य अंग होता है।

संघ शिक्षा वर्ग, १९७१

(१)

केवल हिंदू कहलाने से तो काम होगा नहीं। हिंदू के रूप में उसका जीवन चलता है क्या? वह हिंदू वातावरण में रहता है क्या? आजकल लोग अच्छे-अच्छे घर बनाते हैं। उसमें सारी सुविधाएँ करते हैं, परंतु न तो पूजाघर होता है और न ही तुलसी के पौधे के लिए स्थान। एक बार एक सज्जन ने नया घर बनाया। बड़ा आग्रह कर मुझे अपना घर दिखाने ले गए। उन्होंने काफी धन खर्च कर मकान बनाया था। बैठककक्ष, शयनकक्ष, रसोई, यहाँ तक कि स्नानागार भी भव्य बनवाया था। सोफा, भोजन करने की मेज आदि बड़ी सुरुचि से बनवाई थी। पूरा मकान देखने के बाद मैंने उनसे कहा, 'तुम्हारे मकान में बाकी सब तो दिखाई दिया, परंतु ऐसा स्थान दिखाई नहीं दिया, जहाँ बैठकर भगवान का चिंतन कर सको।'

वह उस समय कुछ नहीं बोले, मगर साल भर बाद यह कहते हुए कि मैंने आपके द्वारा बताई कमी को पूरा कर दिया है, अपने घर ले गए। जाने पर देखा कि 'ऊपर जाने की सीढ़ी थी, उसके नीचे जो जगह होती है, उसमें लकड़ी की एक मंदिरनुमा अलमारी बनवाई थी और उसमें भगवान की मूर्तियाँ रखी थीं। किंतु नीचे जो स्थान बचता था उसका सदुपयोग करने के लिए उसमें जूते रखने की व्यवस्था की थी। यह देखकर मैंने उससे कहा, 'यहाँ नीचे जूते रखे हैं और सीढ़ी पर से, अर्थात् भगवान के सिर पर से जूते पहन कर जाओगे। इससे तो पहले ही अच्छा था। कम से कम भगवान का अपमान तो नहीं होता था।'

इस प्रकार का व्यवहार भावनाओं का लोप हो जाने के कारण होता है। ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है कि अपना जीवन, हिंदू जीवन है– यह कहना तक कठिन हो जाता है। इसलिए सतर्क होकर अपना आचार, विचार, रहन-सहन और वातावरण अंतर्बाह्यरूप से हिंदुत्व से परिपूर्ण होना चाहिए। उसके साथ ही अपने समाज के सुख-वृद्धि और दुःख-निवृत्ति के लिए सब प्रकार का प्रयत्न भी करना चाहिए। जो व्यक्ति अपने को हिंदू कहेगा, परंतु अपने हिंदू समाज की भलाई के लिए कुछ प्रयत्न नहीं करेगा, वह 'हिंदू' कहलाने योग्य कैसे हो सकता है? उसे हिंदू क्यों कहना चाहिए?

नगरवासियों की तरह ही ग्राम-ग्राम में, गिरिकंदराओं में, वन

में रहनेवाले असंख्य बंधु हैं। ये सब भी अपने समाज के अंग हैं। परंतु जिनके जीवन की सामान्य आवश्यकताओं अन्न, वस्त्र, रहने के लिए मकान की व्यवस्था तक नहीं है, शिक्षा और ज्ञान के अभाव में जिन्हें हिंदू जीवन का विशेष बोध नहीं है, सभी दृष्टि से वे निकृष्ट जीवन जी रहे हैं। उनके उस निकृष्ट जीवन में सुधार लाने का हमें प्रयत्न करना है। उनके जीवन की न्यूनताओं को दूर करते हुए उन्हें एक स्वाभिमानी हिंदू के रूप में खड़ा करना है। सारे भेदाभेदों को भुलाकर, मन के संशयों को एक तरफ रखते हुए बड़ी ही आत्मीयता से यह काम करना होगा। यह बहुत बड़ा काम है, परंतु जब यह कार्य करेंगे, तभी हम अपने को हिंदू-समाज का अवयव कह सकेंगे।

यह सब कैसे हो – यह सीखने के लिए ही हम यहाँ आए हैं। इसलिए सारे कार्यक्रमों को ध्यानपूर्वक करना चाहिए। यह न हो कि कुछ कार्यक्रम रुचि के हों, उन्हें ठीक से किया और बाकी की ओर अपना दुर्लक्ष्य रहे। सारे कार्यक्रम अपने लिए आवश्यक व अनिवार्य हैं। इसी कारण इनकी योजना की गई है।

यदि किसी मनुष्य को किसी दूसरे समाज या समुदाय में रख दिया जाए तो क्या वह उसमें रह सकेगा? जिसके साथ विचारों का साम्य नहीं, भाव का साम्य नहीं, आचार-उपासना का साम्य नहीं, मनुष्य उसके साथ रह सकेगा क्या? अनुभव यह है कि जहाँ सामंजस्य नहीं, वहाँ मनुष्य सुख से रह नहीं पाता। वह अपने समाज के साथ ही रह पाता है। अब जिस समाज के साथ उसे रहना है, वह समाज ठीक रहे, इसकी चिंता भी उसे करनी चाहिए। समाज के निरंतर उत्कर्ष की चिंता न करने पर समाज पतनोन्मुख हो सकता है।

एकता और आत्मीयता के अभाव के कारण ही लोगों में इतना दुर्भाव उत्पन्न हुआ है कि वह अंदर की एकता देखने के स्थान पर पृथकता को देखते हैं और पृथकता का व्यवहार करते हैं। कुछ वर्ष पहले की बात है। मेरे शिक्षक रहे नागपुर के एक सज्जन सर्वोदय के कार्यकर्ता भी थे। वे हरिजन बस्ती में जाकर सेवाकार्य किया करते थे। जिस ग्राम में वे विशेष रूप से काम कर रहे थे, वहाँ के कार्य का वृत्त एक छोटी-सी पुस्तिका के रूप में छापा। उसकी एक प्रति मेरे देखने में भी आई। सारा वर्णन करने के बाद उन्होंने लिखा था कि 'इस काम के परिणामस्वरूप हरिजन और हिंदुओं में स्नेह निर्माण हुआ।' मैंने उन शिक्षक महोदय से कहा, 'आपने

यह क्या लिखा है? यह बात तो समाज को जोड़नेवाली न होकर तोड़नेवाली है।' इस प्रकार की पृथकता की दुर्बुद्धि बहुत फैल गई है।

इस विच्छिन्नता के कारण ही अपने को यह दुरवस्था प्राप्त है। कुछ समय पूर्व अपने कुछ बंधुओं ने बौद्ध मत की दीक्षा ली। अब देखा जाए तो बौद्ध मत अपना ही है। पूजा के संकल्प का उच्चारण करते समय स्थान, काल आदि उल्लेख करते हुए 'बौद्धावतारे' कहते हैं। उनको 'भगवान का अवतार' भी मानते हैं। उनके द्वारा दिया गया श्रेष्ठ संदेश अनुकरणीय ही है। फिर, यदि कोई बौद्ध मत ग्रहण करता है, तो वह प्रसन्नता की बात होनी चाहिए। लेकिन दीक्षा-ग्रहण कार्यक्रम में जो भाषण हुए, वे मन को कष्ट पहुँचानेवाले हैं। वहाँ कहा गया कि 'बौद्ध मत स्वीकार करने के कारण चीन, जापान आदि देशों में जो बुद्ध के अनुयायी हैं, उनसे अपना नजदीकी संबंध हो गया है। अब हिंदुस्थान से अपना संबंध नहीं रहा। हमें उन नए संबंधियों के सहारे हिंदुस्थान में अपना प्रभुत्व स्थापित करना है।'

अब कहाँ भगवान बुद्ध की करुणा और कहाँ परकीयों के सहारे अपने देश को गुलाम करने की उत्सुकता। विच्छिन्नता का संकट इतना गहरा है। इसी प्रकार की बातें पहले भी हुई हैं, जिनका परिणाम गुलामी के रूप में अपने को भुगतना पड़ा। यदि ऐसे ही चलता रहा तो जो थोड़ी-बहुत स्वतंत्रता अपने को प्राप्त हुई है, वह भी नष्ट होने की संभावना है। इस कारण किसी भी स्थिति में समाज को विच्छिन्नता की अवस्था में रखना ठीक नहीं।

आकाश में इंद्रधनुष होता है। उसमें सात रंग होते हैं। सातों रंग साफ दिखाई देते हैं, किंतु कौन सा रंग कहा समाप्त होकर दूसरा कहाँ से प्रारंभ होता है, इसकी स्पष्ट सीमा रेखा कोई नहीं बता सकता। एक रंग धीरे-धीरे फीका पड़ता जाता है, वहीं दूसरा रंग उसमें भरता जाता है और वह गइराई से दिखने लगता है। सातों रंग एक दूसरे में मिले रहते हैं। ऐसा ही हमारी भाषाओं और बोलियों का है। जब देश में घूमेंगे तो पता ही नहीं पड़ेगा कि कब एक बोली का क्षेत्र समाप्त हुआ और दूसरी बोली का क्षेत्र शुरू हो गया। सब भाषा और बोलियों का आपस में सम्मिश्रण है।

आपने लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक का नाम सुना होगा। वे स्वयं का नाम लिखते थे— बाल गंगाधर तिलक। उनके साथ काम

करनेवाले लोग सोचते थे कि इतने बड़े आदमी को 'बाल' कैसे कहें, इसलिए उन्हें बलवंतराव कहते थे। जबकि माता-पिता ने उनका नाम रखा था 'केशव'। देशभक्ति, ध्येयनिष्ठा, विद्वत्ता के कारण वे लोकमान्य हुए। इसलिए सामान्य जन में 'लोकमान्य' नाम से प्रसिद्ध हुए। अब उन्हें केशव, बाल, बलवंतराव, लोकमान्य किसी भी नाम से बुलाया जाए, परंतु आदमी तो एक ही है। भेद देखना तो अपनी अदूरदृष्टि या दूषित दृष्टि का परिणाम है। जाति, भाषा, प्रांत सब व्यवस्थाएँ हैं, उनके लिए झगड़ा खड़ा करने का कोई कारण नहीं, वह तो एक-दूसरे का पूरक बनकर चलने का कारण होना चाहिए। यह एकात्मता पहचाननी होगी। एकात्म भाव रहने पर ही संगठित जीवन संभव है। जहाँ एकात्मता का भाव नहीं, वहाँ पर संगठित जीवन कभी हो ही नहीं सकता।

संघ शिक्षा वर्ग, १९७१
(२)

समाज का जीवन-प्रवाह चिरंजीव है, पर व्यक्तियों में कोई चिरंजीव नहीं। व्यक्ति की मृत्यु अवश्यंभावी है। इसलिए समाज सर्वश्रेष्ठ है, उसका हित सर्वोपरि है। उसका हित पूर्ण करना अपना धर्म है। व्यक्ति के नाते विचार करने से यह संभव नहीं होगा, क्योंकि व्यक्ति आज है, कल नहीं रहेगा। व्यक्ति जब अपने लक्ष्य की उपासना में पूर्ण रूप से रम जाता है, तब व्यक्तिगत सुखोपभोग और लालसा उसके अंतःकरण को प्रभावित नहीं करती और वह पाप-कर्म की ओर प्रवृत्त नहीं होता। इस दृष्टि से उसके सामने भव्य दिव्य लक्ष्य होना चाहिए। साथ ही ऐसे लक्ष्य को दिन-प्रतिदिन स्मरण कराकर उसे सुसंस्कारित करने की आवश्यकता रहती है।

मनुष्य को सच्चा सुख भी इसी में मिलता है। प्राचीन काल में हमारे ऋषि-मुनियों ने गंभीर चिंतन कर चिरंतन सुख का अनुभव कर उसे प्राप्त करने के मार्ग बताए। बाहर के भी जो विचारवान लोग हैं, वे उन मार्गों से सुख प्राप्त करने के लिए उसका अवलंबन करते हैं। कोई निष्काम कर्म के मार्ग पर चल रहा है, कोई योग का अभ्यास कर रहा है व कोई ज्ञान की उपासना करते हुए अंतिम सुख को जानने का प्रयत्न कर रहा है। किसी-किसी ने भक्तिमार्ग का अवलंबन किया है। वह धोती पहन, गले में तुलसी माला डाल, माथे पर चंदन पोत, ढोल बजाते हुए 'हरे रामा, हरे

कृष्णा' की धुन पर देश और विदेश की सड़कों पर मस्ती से डोल रहे हैं। अपने यहाँ बताए गए चारों मार्गों का वे अभ्यास करके अपने जीवन को सफल व सुखी बनाने में लगे हुए हैं।

अपने यहाँ के एक साधु विदेश-प्रवास पर जाते रहते हैं। कुछ महीने पहले वे मुझे मिले थे। उनका कहना था कि 'बड़ा कठिन समय आ रहा है। आधुनिक जगत् के विज्ञान के लिए हमने पश्चिमी देशों के लोगों का शिष्यत्व ग्रहण किया है और उनसे विज्ञान सीखकर भिन्न-भिन्न प्रकार के औद्योगिक संस्थान खड़े कर रहे हैं। हमारे यहाँ के लोग तो उनके निकृष्ट जीवन का अनुकरण कर हीन जीवन स्वीकार कर रहे हैं और वे अध्यात्म-शास्त्र का अध्ययन कर श्रेष्ठ बनने का प्रयास कर रहे हैं। ऐसी निकृष्ट अवस्था है। आध्यात्मिक क्षेत्र में हम ही सबके गुरु थे, परंतु अब ऐसा लगता है कि इस क्षेत्र में भी उनका शिष्यत्व ग्रहण करेंगे।'

हम ध्यान रखें कि ऐसा कोई काम हमारे हाथ से न हो, जिसके कारण अपने देश पर लांछन आए। अपने देश के अनेक विद्यार्थी विदेश में पढ़ने जाते हैं। उनमें से कई आस्ट्रेलिया गए थे। उनका उद्दंड और अनैतिक आचरण देखकर पुलिस ने पकड़ा। वहाँ के शासन ने भारत सरकार को सूचना भेजी कि इसके बाद पढ़ाई के लिए विद्यार्थियों को न भेंजे। उन विद्यार्थियों के अपवित्र आचरण के कारण अपने युवकों की पवित्र परंपरा पर लांछन आया।

अपने यहाँ के लोगों का जीवन देखकर उनका कहना सही लगता है। उसको शोभा दे– ऐसा अपना जीवन बनाना चाहिए। अपने को देखकर कोई यह नहीं कहेगा कि प्राचीन हिंदू-राष्ट्र का अभिमानी कार्यकर्ता अपने सामने खड़ा है। वह तो यह कहेंगे कि हमारी नकल करनेवाला हमारा दास सामने खड़ा है। अपने जीवन की इस निकृष्टता का विचार कर उसे दूर करते हुए योग्य बनना चाहिए। हम अपना आदर्श सामने रखेंगे, तभी दुनिया को अपने श्रेष्ठ विचारों और रहन-सहन के अनुरूप बना सकेंगे।

यदि जीवन किसी तरह ढालना है तो कुछ प्रयास करने पड़ते हैं, कुछ बंधन स्वीकार करने होते हैं। लेकिन आजकल बूढ़ा हो या जवान यह सोचता है कि संघ में बाकी सब तो अच्छा है, परंतु दिन-प्रतिदिन का बंधन ठीक नहीं है। इसे कौन पाले। वह बंधन में नहीं रहना चाहता। बात भी बंधनों से मुक्ति की होती है। संघ में भी एक गीत गाया जाता है– 'बंधनों

से प्रीति कैसी.....।' उसे सुन कर मैंने कहा— 'यह क्या कहते हो भाई? अरे! साधना के पथ पर प्रीति चाहिए कि नहीं? कोई कहे कि मैं बिना बंधनों के सफल हो जाऊँगा, ऐसा कभी संभव ही नहीं। सब बंधनों के पार वही व्यक्ति जा सकता है, जिसने साधना पूर्ण कर ली हो, सिद्ध हो गया हो। लेकिन ऐसे लोग कितने होते हैं? करोड़ों में एकाध होता है। इसलिए 'बंधनों से भीति कैसी....', बंधनों को स्वीकार करके चलूँगा— ऐसा कहना उपयुक्त होगा।

वर्षा का पानी पहाड़ों पर पड़ता है और सारा का सारा बह जाता है। उसे ऐसे ही जाने दिया तो उसका कोई उपयोग नहीं हो सकेगा। यदि उस बहते पानी को बाँध बनाकर रोककर बड़े जलाशय में एकत्र कर लेते हैं, तब उसका उपयोग बिजली बनाने व खेती आदि के लिए किया जा सकेगा और हमारा जीवन सुखपूर्ण हो सकेगा। यह सब बंधन के कारण संभव हो पाता है। बंधन से मुक्ति के कारण नहीं। बँधे हुए पानी को भी व्यवस्था से छोड़ना पड़ता है। चाहे जैसा छोड़ देने पर वह विनाश का कारण बनता है। जब हम राष्ट्र की साधना करने निकले हैं, तब बंधन तो आएँगे ही। बंधनों से बच नहीं सकते। इसलिए बात बंधनों से मुक्ति की नहीं, बंधनों से भय न मानने की ही योग्य है।

संघ शिक्षा वर्ग, १९७२

(१)

अपने यहाँ कहा गया है— 'मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवनमुच्यते बुधैः'। इसी से मिलता हुआ एक वाक्य अंग्रेजी में है— 'Life is an accident and death is the rule.' यह जो अपने चारों ओर वायुमंडल फैला हुआ है, उसमें अगणित जीवाणु तैरते रहते हैं, जो आँखों से दिखते नहीं। उन्हें सूक्ष्मदर्शक यंत्रों से देखना भी संभव नहीं होता। बहुत ही समर्थ यंत्र रहा, तब दिखने की संभावना रहती है। उनमें से प्रत्येक में मनुष्य के जीवन का संहार करने की क्षमता रहती है। ऐसा होते हुए भी हम मरते नहीं। इसलिए जीवन को एक अपघात कहा है। क्योंकि जितने अपने प्राण हरण करनेवाले जंतु चारों ओर हवा में सैर करते हैं, वे श्वासोच्छवास से अपने अंदर जाते हैं, पानी के साथ जाते हैं, भोजन के साथ जाते हैं, इसलिए किसी भी क्षण अपनी मृत्यु होनी चाहिए। परंतु ऐसा न होकर हम लोग जीवित रहते हैं।

इसका कारण यह है कि जब तक शरीर की जीवन-शक्ति अच्छी रहती है, तब तक ये जीवाणु अपने पास आने पर भी हम हजम कर जाते हैं। अपने अंदर की जीवन-शक्ति उन्हें मार देती है। परंतु जब अपनी जीवन-शक्ति क्षीण हो जाती है, तब वे ही जीवाणु अपने पर मातकर प्राण हरण कर लेते हैं।

कहने का अर्थ यह है कि जो शक्तिमान होता है, वह सभी प्रकार के संकटों का निवारण कर सकता है और अपने जीवन को उत्तम रीति से चला सकता है। जगत् में सर्वदूर संकट ही संकट रहते हैं, जो अपना अस्तित्व मिटा सकते हैं। उनमें से अपने को जीवित रखना, सुखी रखना, सम्मानित रखना शक्ति के बिना संभव नहीं। इसलिए हम लोगों ने कहा कि अपने समाज को संगठित कर समाज को शक्तिसंपन्न बना कर खड़ा करेंगे, तभी वह जीवित रहेगा, सम्मानित होगा, आत्मनिर्भर बनेगा, स्वाभिमान से जगत् में चल सकेगा।

उऋण होना अपना दायित्व

अपने समाज की ऐसी स्थिति बनाना हम लोगों में से प्रत्येक का प्रिय काम होना चाहिए, क्योंकि समाज के बिना व्यक्ति का अस्तित्व नहीं है। अपने में से कोई भी मनुष्य बिलकुल अकेला रह सकता है क्या? जहाँ पर दूसरे किसी मनुष्य का दर्शन तो दूर आवाज भी सुनने को न मिले। यदि किसी को गहन अरण्य में निर्जन स्थान पर छोड़ दिया तो उसे अपना जीवन चलाना संभव नहीं होगा। कोई बड़ा महात्मा भले रह सकता हो, परंतु सर्वसामान्य व्यक्ति नहीं रह सकेगा। वह बैचेन हो जाएगा, सामान्य जीवन नहीं चला सकेगा। किससे बात करे, किससे बोले, किसको देखकर आनंद प्रकट करे। ऐसा निर्जन जीवन प्राप्त मनुष्य पागल हो जाएगा। फिर, उस अरण्य में कोई हिंस्र जंतु उसपर आक्रमण करने आया तो अकेले अपनी रक्षा भी नहीं कर सकेगा। इसलिए मनुष्य चाहता है कि दूसरे मनुष्य आसपास रहें, वह उनके बीच में रहे। उनके साथ उसका व्यवहार होता रहे। उनकी सहायता से परिवार बनाए, परिवार चलाए और जीवन में कुछ सुरक्षा अनुभव करे। मनुष्य की ऐसी आकांक्षा रहती है।

यह ठीक है कि मनुष्य अकेला नहीं रह सकता, परंतु वह हर किसी के साथ भी नहीं रह सकता। जगत् के इतने बड़े विस्तार में अनेक देश हैं, जिनकी परंपराएँ भिन्न हैं, विश्वास भिन्न हैं, मान्यताएँ भिन्न हैं,

संस्कार भिन्न हैं, ऐसे अनेक प्रकार के लोग रहते हैं। कुछ लोग 'हाँ' कह सकते हैं। परंतु अपना अनुभव क्या है? दिखाई देगा कि अपने इस समाज के कई लोग पिछले दो-ढाई सौ वर्षों में अनेक देशों में जाकर बस गए थे। लेकिन वहाँ के लोगों में ऐसा भाव जागृत हुआ कि अपने यहाँ के मूल निवासियों के अतिरिक्त बाहर के किसी को यहाँ रहने नहीं देना चाहिए और उन्होंने भारत से गए हुए लोगों की संपत्ति आदि सब छीन ली व वहाँ से निकाल दिया। परिणामस्वरूप अपने अनेक बंधु इधर-उधर भटक रहे हैं। उनमें से कुछ हिंदुस्थान वापस आए हैं और कुछ लोग जगत् के भिन्न-भिन्न देशों में आश्रय पाने के लिए भटक रहे हैं।

ब्रह्मदेश बौद्ध मतावलंबी होने के कारण वैचारिक दृष्टि से अपने निकट है। वैसे भी शताब्दियों से उससे अपना संबंध रहा है। अब राजनैतिक उथल-पुथल के कारण वह अलग देश बन गया है। अलग देश बन जाने के पश्चात् बर्मी लोग वहाँ अन्य किसी को रहने देना नहीं चाहते। इसलिए वहाँ भारत से गए लोगों को, फिर वह शिक्षक हो अथवा व्यापारी, सबको खदेड़ दिया। उनकी सारी संपत्ति जब्त कर ली और ये बेचारे अक्षरशः भिखारी बनकर हिंदुस्थान वापस आए। ऐसी सब घटनाएँ हम देखते और सुनते हैं। इसलिए अपने को कहना पड़ता है कि किसी भी प्रकार के मनुष्य समुदाय में रहकर हमें सच्चे अर्थों में सुख और सुरक्षितता प्राप्त नहीं हो सकती। जिनके साथ अपने विचारों, संस्कारों, पूर्व-परंपरा का मेल नहीं, उनके साथ अपने जीवन की एकता होती नहीं। पूर्व-परंपरा का, संस्कारों का सब प्रकार से मेल बैठना जरूरी होता है, जिसमें यह मेल बैठता हो, ऐसे मनुष्य-समुदाय को 'समाज' बोलते है। केवल मनुष्यों की भीड़ को 'समाज' नहीं कहते। ऐसा हमारा समाज कौन-सा है? यह कोटि-कोटि जनसंख्या वाला 'हिंदू' नाम से परिचित समाज अपना है। ऐसे अपने समाज में रहकर हम लोग अपने व्यक्तिगत जीवन और पारिवारिक जीवन को उत्तम रीति से चला सकते हैं।

समाज के कारण ही व्यक्ति को प्रतिष्ठा, सुविधा व संरक्षण प्राप्त होता है। समाज के अपने पर अगणित उपकार है। परंतु उपकार ग्रहण करना ऋण लेने के समान है। ऋण लेते रहना, परंतु उसे चुकाना नहीं— यह भद्र पुरुष का लक्षण नहीं होता। अपने धर्मशास्त्र में कहा गया है कि मनुष्य को ऋणमुक्त होकर रहना चाहिए। उसके लिए सतत प्रयत्न करते रहना चाहिए। अपने पूर्वजों ने ऋण के तीन प्रकार बताए हैं। एक है

देवऋण– देवताओं का ऋण। इसके कारण अपने को संकटग्रस्त जगत् में जीवन चलाना संभव होता है। श्वासोच्छवास कर सकते हैं, जल मिलता है, शरीर को जीवित रखने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के साधन उपलब्ध होते हैं। यह हम पर देवताओं की कृपा है। फिर, अपना जन्म मनुष्य योनि में हुआ। अपने पूर्वजों के पुण्य कर्मों से और वंश-परंपरा में उत्पन्न होने के कारण पूर्वजों का श्रेष्ठ ऐसा ऋण अपने ऊपर है। अपने समाज के श्रेष्ठ पुरुषों ने ज्ञान का भंडार तैयार करके रखा। बड़े सूक्ष्मदर्शी अतींद्रिय द्रष्टा लोगों ने सृष्टि का चिंतन कर ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में अनेक प्रकार की उपलब्धियाँ अपने सामने रखीं। वंश-परंपरा से ज्ञान का वह भंडार अपने को प्राप्त हुआ है। उसको ग्रहण करना, उसका उपयोग करना, उसका संवर्धन करना अपना कर्तव्य है। इसलिए उनका अपने पर ऋण है। इस प्रकार देव-ऋण, ऋषि-ऋण और पितृ-ऋण अपने यहाँ बताए गए हैं। और कहा कि इन ऋणों से मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए। क्या-क्या करना है– यह भी अपने पूर्वजों ने बताया हैं।

ऋण उतारने का प्रयत्न करना अपना धर्म है। इसे करने में कोई बहादुरी नहीं, परंतु न करना भयंकर पापकर्म है। साँस लेना शरीर का अनिवार्य धर्म है। सब प्राणी इस कर्म को करते हैं। इसे करने में कोई विशेषता नहीं है, परंतु कोई यह सोचे कि नहीं मैं साँस नहीं लूँगा, तो उसका प्राणांत हो जाएगा। अपने हाथ से अपना प्राणांत कर लेना पाप है। इसलिए कहा गया है कि स्वाभाविक धर्म निभाना ही चाहिए। इसी प्रकार अपने पर समाज के जो ऋण हैं, उनसे उऋण होना भी मनुष्य का सहज धर्म है। समाज की सेवा कर हम इस ऋण से उऋण हो सकते हैं।

संपन्नता का विकार

सेवा के कई प्रचलित प्रकार हैं। लोग अपनी-अपनी बुद्धि व शक्ति के अनुसार सेवाकार्य करते रहते हैं, परंतु हमने समाज-सेवा का एक अलग प्रकार चुना है। इस माध्यम से समाज की सारी न्यूनताओं को दूर करना संभव है। स्वेच्छा से अपने बंधुओं की सेवा करने की भावना रहना श्रेष्ठ अवस्था है। परिस्थिति को देखते हुए अपने समाज की ऐसी श्रेष्ठ अवस्था बनाना आवश्यक दिखाई देता है, क्योंकि कई शताब्दियों का सुख-समृद्धि व ऐश-आराम से भरा जीवन होने के कारण तथा कोई बड़े उल्लेखनीय संकट न आने के कारण अपना समाज आलसी व प्रमादयुक्त हो गया। बड़े

धनी-मानी परिवार में पहली पीढ़ी तो बड़ा परिश्रम करती है, अपनी समृद्धि को बढ़ाती है। संपन्नता प्राप्त होने के बाद जो लड़के पैदा होते हैं, वे सब प्रकार से ऐश्वर्यसंपन्न रहते हैं। इसलिए बचपन से उनको सुखोपभोग की आदत पड़ जाती है। हर एक काम नौकर-चाकर करता है, याने वे आलस्यपूर्ण जीवन जीते हैं। जब आलस्य आता है, तब उसके साथ-साथ स्वार्थ भी आ जाता है। इसके चलते आपस में झगड़ा, मारपीट तक होती है। एक प्रकार से निष्कंलक सुखोपभोग प्राप्त होने का यह एक अभिशाप ही है। एक बार आपस में कलह हो गई, जीवन विभक्त हो गया कि वहाँ की शक्ति का क्षय होने लगता है। अंततोगत्वा सारी सुख-समृद्धि नष्ट हो जाती है।

इसीलिए अपने पूर्वजों ने चेतावनी दे रखी है कि आपस में लड़ना नही चाहिए। जैसे अरण्य में वायु के प्रकोप से एक ही वृक्ष की शाखाएँ एक-दूसरे के साथ रगड़े जाने से उसमें से अग्नि प्रदीप्त होती है और केवल उस वृक्ष को ही नहीं तो पूरे अरण्य को जला देती है, उसी प्रकार से किसी परिवार में, समाज के किसी अंश में परस्पर उत्पन्न होनेवाली कलहाग्नि केवल परिवार को ही नहीं तो पूरे समाज को भस्म कर देती है।

मगर वह सीख एक तरफ रह गई और लोग स्वार्थवश होकर आपस में संघर्ष करने लगे। संघर्ष होने पर आसपास के लोभी लोगों को सक्रिय होने का अवसर मिलता है। मौका देखकर वे संपत्ति का हरण कर ले जाते हैं। उन्हें दोष देना ठीक नहीं। वे तो प्रयत्न करेंगे ही। अपने राष्ट्र के साथ भी ऐसा ही हुआ। अपनी संपत्ति की ओर गिद्धदृष्टि लगाकर बैठे हुए लोगों ने अपने को दुर्बल देखकर न केवल हमारी संपत्ति का अपहार किया, बल्कि यहाँ की सत्ता भी हथिया ली और हमें दासता का निकृष्टतापूर्ण जीवन प्राप्त हुआ। दासता के जीवन में अनेक दुर्गुण उत्पन्न होते हैं। वह अपने स्वामी को प्रसन्न रखने के लिए अपने ही समाज से द्वेष करनेवाला बन जाता है। अपने समाज में भी ये दुर्गुण फैले, और अभी तक विद्यमान हैं। इसलिए आज समाज के प्रति उपेक्षा, अनास्था का वायुमंडल दिखाई देता है। कोई मरता है तो मरने दो, किसी को उसकी सहायता करने की आवश्यकता महसूस नहीं होती।

अकर्मण्यता पर आवरण

लोगों को अपनी अकर्मण्यता को छिपाने के लिए तर्क देने में संकोच भी नहीं होता। कोई भूख से तड़फड़ाता है तो वेदांत के अध्ययन

के आधार पर लोग ऐसा कहते हैं कि वह अपने पूर्वजन्म के कर्मों के कारण छटपटाता है। परंतु ऐसा कहते समय लोग यह भूल जाते हैं कि उनका भी तो पूर्वजन्म का कुछ कर्तव्य है और इस जन्म में कुछ अच्छा कर्तव्य करके आगे का जन्म अच्छा बनाना है। धर्म का यह भी आदेश है कि जरूरतमंद की सेवा करनी चाहिए। वे वह क्यों नहीं करते? अनास्था का ऐसा जीवन उत्पन्न हो गया है।

हालाँकि अपना देश स्वतंत्र हो चुका है, यह स्वतंत्रता अधूरी होने के कारण अभी भी हमारी मातृभूमि खंड-विखंड दिखाई देती है। इसकी हमारे अंतःकरण में तीव्र वेदना होनी चाहिए। हमें इस वेदना को भी दूर करना है। उसका भव्य दिव्य स्वरूप फिर से एक बार खड़ा करेंगे— इस पीढ़ी में कर पाए तो इस पीढ़ी में, नहीं तो अगली पीढ़ी में। परंतु किए बिना रुकेंगे नहीं। गंगा को पृथ्वी पर लाने के लिए सगर ने और फिर उसके पुत्रों ने पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्रयत्न किया और उसे पृथ्वी पर लाकर ही माने। ऐसा पवित्र निश्चय प्रत्येक के अंतःकरण में जागृत करना है। लोग जानते-समझते हैं, पर किन्हीं स्वार्थों के कारण उसे स्वीकार नहीं करते। अंतरप्रवाह सबमें विद्यमान है। आवश्यकता केवल दायित्वबोध जगाने की है, ताकि लोग निःस्वार्थी होकर साहस से इसे स्वीकार कर सकें।

देश स्वतंत्र होने के बाद संविधान सभा में कहा गया कि '१२०० वर्षों की गुलामी के बाद भारत आज फिर स्वतंत्र हुआ है।' तब प्रश्न यह है कि इसके पहले कौन-सा भारत था? अभी सोमनाथ मंदिर पुनर्निर्माण के बाद उसके उद्घाटन के समय जो भाषण हुए उसमें अपने नेताओं ने कहा कि '१२०० वर्षों से अपने पर जो आघात हुए और उसके कारण जीवन उद्ध्वस्त होने के जो चिह्न हैं, उन अपमानकारक चिह्नों को मिटाकर हमने सोमनाथ मंदिर का पुनर्निर्माण कर स्वातंत्र्य की अनुभूति की है।' तब आक्रमण कर सोमनाथ मंदिर को ध्वस्त करनेवाले कौन थे? उसकी रक्षा के लिए प्रयत्न करनेवाला राष्ट्र कौन था? १२०० वर्षों की दासता से मुक्त होनेवाला कौन है? परंतु यह सब बोलने की उनकी हिम्मत नहीं होती। मानते वे भी हैं, पर बोलते नहीं।

एक बड़े नेता से मिला था जो, 'हिंदू' कहने से क्षुब्ध हो जाते थे, उन्हें क्रोध आ जाता था। उनसे अनेक विषयों पर बात हुई। उनको ऐसा आभास हुआ कि शायद मैं उनपर आरोप कर रहा हूँ कि वे मुसलमानों के

पक्षपाती हैं। उन्होंने बड़े आवेश में आकर कहा, 'क्या आप समझते हैं कि मैं हिंदू नहीं हूँ? मैं भी हिंदू हूँ और हिंदूराष्ट्र में विश्वास रखता हूँ।' यह सुनकर मैंने कहा, 'यह तो अच्छी बात है, परंतु यहाँ कहने के स्थान पर बाहर चलकर सारे देश के सामने ललकार कर कहें कि 'हाँ! हम हिन्दू हैं।' पर उनकी हिम्मत नहीं हुई। देश स्वतंत्र होते समय वे इतनी हिम्मत कर लेते तो परिस्थिति बदल जाती। बार-बार की समस्या एक बार में ही हल हो जाती।

संघ शिक्षा वर्ग, १९७२

(२)

हम समाज-कार्य करने के लिए निकले हैं। इस कार्य को करने के लिए उपकरण व साधन अपना शरीर है। कार्य के निमित्त अखंड व अपार परिश्रम करना पड़ेगा। शरीर सबल व स्वस्थ होगा– तभी काम कर सकेंगे। यदि चार कदम चलने के बाद आधा घंटा बैठना पड़े तो काम कैसे होगा? आजकल अपने को कुछ सुविधा उपलब्ध हो गई है। खाने-पीने को मिल जाता है। आने-जाने के लिए साधन मिल जाते हैं, प्रवास के लिए बस हैं। प्रारंभ के काल में तो साइकिल मिलना भी कठिन था, इसलिए पैदल प्रवास करना पड़ता था।

मेरा अपना स्वयं का अनुभव है– नागपुर जिले में अपने संघ का कार्य करने के लिए पूरा जिला पैदल घूमा। पता नहीं, कितने मील चला। जब कोलकाता में काम करने भेजा था, तब डाक्टर जी ने मुझे जाने आने और वहाँ एक माह रहने के लिए बीस रुपए दिए थे। किराया निकालकर छह रुपए बचे थे। उसमें पूरा महीना निकालना था। इस कारण कोलकाता में भी यही स्थिति रही। वहाँ बस थी, ट्राम थी, पर उसमें बैठने के लिए पैसा कहाँ था? सुबह सात बजे निकलता था। अनेक लोगों के घर जाना, उनसे मिलना, बातचीत करना। पैदल घूमते-घूमते भोजन के स्थान पर समय पर पहुँचा तो ठीक, अन्यथा अनायास उपवास हो जाता। फिर तीन बजे निकलता और रात में लगभग ग्यारह बजे तक लौट पाता। सारा पैदल ही घूमना पड़ता था। कभी बीस मील तो कभी पच्चीस मील, क्योंकि पास में पूँजी कितनी है, मालूम था। नागपुर लौटकर उन बीस रुपयों में से तीन पैसे डाक्टर जी को वापस किए थे।

कार्य के उपयुक्त शरीर बनाने के लिए मैंने जो प्रयत्न किए, उसका ही परिणाम है कि मैं कार्य कर सका। शरीर को तैयार करने के लिए विशेष कुछ नहीं किया। सब जानते हैं, वही २५० सूर्यनमस्कार नियमित रूप से करता था। इस कारण दुबला-पतला शरीर होते हुए भी कभी कोई कष्ट नहीं हुआ। भूख, धूप, वर्षा, नींद का शरीर पर परिणाम होकर कोई तकलीफ नहीं हुई। इस शरीर के अंदर बल भरना है, क्योंकि काम करना है तो साधन उत्तम रीति से चलना चाहिए। अखंड उत्साह चाहिए, थकान की क्लांति नहीं। इसलिए स्वयंसेवक को नियमित रूप से सूर्यनमस्कार व कुछ आसन करने की आवश्यकता है।

यदि एक बार सच्ची सेवा–भावना हमारे जीवन में प्रवेश कर जाती है, तब हम यह अनुभव करने लगते हैं कि हमारी व्यक्तिगत और पारिवारिक संपत्ति, वह कितनी ही अधिक क्यों न हो, वास्तव में हमारी नहीं है। ये तो समाज–देवता की पूजा के लिए उपकरण मात्र है। तब हमारा संपूर्ण जीवन समाज की सेवा के लिए एक उपहार हो जाएगा।

– श्री गुरुजी

परिशिष्ट

क्या होता है संघ शिक्षा वर्ग?

एक ओर देश में बेरोजगारी और बढ़ती जनसंख्या भीषण समस्या मानी जा रही है तो दूसरी ओर साधारण से कार्यों, यथा– घरेलू नौकर के लिए भी लोग परस्पर यह कहते सुने जाते हैं कि कोई अच्छा-सा आदमी बताओ। यह 'अच्छा-सा आदमी', अर्थात् 'कार्यकर्ता' ही सभी की माँग है। सच भी है, कोई भी कार्य करना हो, किसी भी योजना को सिरे चढ़ाना हो तो उसके लिए सबसे प्रमुख आवश्यक तत्त्व है यह 'कार्यकर्ता'। परंतु यह कार्यकर्ता कहीं हाट-बाजार में नहीं मिलता। आज समाज की स्थिति समुद्र के किनारे खड़े उस प्यासे पथिक के समान दिखाई देती है, जो खड़ा तो जल के अथाह भंडार के पास है, किंतु मात्र एक घूँट पीने के पानी के लिए तरस रहा है।

ऐसे समय में हम देखते हैं कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ऐसा संगठन है, जिसने कभी 'कार्यकर्ता चाहिए' का शोर नहीं मचाया, अपितु जब, जहाँ, जैसे कार्यकर्ताओं की आवश्यकता पड़ी, उपलब्ध ही कराए हैं। आखिर, वो कौन-सी बात है कि अन्य सब जगह कार्यकर्ताओं का अकाल है और संघ के पास उनकी पूर्ति तक का सामर्थ्य। इस सबके पीछे संघ की वह शांत, एकांतिक कार्यपद्धति ही कारणीभूत है, जिसे नासमझी के कारण लोग कई बार 'गुप्तता' से निर्देशित करते हैं। वास्तव में कार्यकर्ता का निमार्ण बड़े धैर्य का काम है। यह शोर-शराबे और प्रदर्शनों से तैयार नहीं होता।

संघ ने अपने प्रारंभ से ही समाज कार्य के लिए समर्पित कार्यकर्ताओं की शृंखला खड़ी करने की कार्यपद्धति विकसित की है। संघ के प्रारंभकाल से ही समाज में चलनेवाले अनेक उपक्रमों का प्रयोग करके देखा गया और उस प्रयोगधर्मिता में से ही अपनी आवश्यकता को पूर्ण करने में सक्षम उपक्रम 'संघ शिक्षा वर्ग' क्रमिक रूप से विकसित हुआ।

उन दिनों कालेजों में 'University Officers Training Camps' लगा करते थे। उसी के अनुकरण से 'O.T.C.' के नाम से शिक्षण वर्ग प्रारंभ हुए और कई वर्षों तक यही– 'ओ.टी.सी.' नाम प्रचलित रहा, किंतु बाद में कार्यकर्ताओं को लगा कि संघ में तो 'ऑफिसर और रैंक्स' जैसा भाव

है नहीं, इस कारण यह अनुकरण उचित नहीं। अतः विचार-विमर्श के उपरांत 'संघ शिक्षा वर्ग' नाम स्वीकार किया गया, जो आज भी प्रचलित है।

संघ शिक्षा वर्ग का प्रशिक्षण तीन वर्ष के पाठ्यक्रम के रूप में पूर्ण होता है। प्रथम व द्वितीय वर्ष का प्रशिक्षण अपने-अपने प्रांत में होता है। तृतीय वर्ष का प्रशिक्षण एक ही स्थान नागपुर में होता है, उसी मैदान पर जहाँ सभी स्वयंसेवकों के लिए प्रेरक संघ-संस्थापक प.पू.डाक्टर जी की स्मृति में बना हुआ 'स्मृति मंदिर' स्थापित है।

वेदों-उपनिषदों के संदेश– 'राष्ट्रहित में हम सभी मिल-जुलकर एक साथ रहें, एक साथ पुरुषार्थ करें, परस्पर द्वेष न रखें, संगठन रूपी तपश्चर्या से उज्ज्वलित एवं प्रदीप्त हों, पठित एवं अध्ययनशील हों तथा सर्वत्र शांति रहे– पर आचरण करने का अत्यंत सुलभ एवं सुखद प्रशिक्षण मिलता है इन वर्गों में। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ राष्ट्र को ही देवता तथा सेवा को ही उपासना मानता है। यह वैदिक काल से चली आ रही विशाल परंपरा का ही अंग है। इसे ध्यान में रखते हुए ही संघ शिक्षा वर्गों की प्रशिक्षण-विधि निर्धारित होती है।

संघ की कार्यपद्धति की जानकारी व समाज-कार्य के लिए आवश्यक गुणों के विकास हेतु शारीरिक कार्यक्रम करने व कराने की क्षमता बढ़ती है। चर्चा, बैठक, गीत, कथा-कहानी, बौद्धिक आदि के माध्यम से होनेवाले बौद्धिक प्रशिक्षण से अपने लक्ष्य की स्पष्टता और उसकी पूर्ति हेतु कार्यप्रवण होने की तत्परता जगती है। लेकिन शारीरिक तथा बौद्धिक-सक्षमता मात्र से कोई कार्यकर्ता नहीं बन जाता, उसके लिए आवश्यक है कि उसमें अपने गुणों को स्वीकृत लक्ष्य के लिए अर्पित करने की चाह जगे। ऐसे ध्येय के अनुरूप जीवन का दर्शन व अनुभव शिक्षार्थी अपने वरिष्ठ अधिकारियों के प्रत्यक्ष सान्निध्य और सहवास से प्राप्तकर स्वयं के लिए वैसे अनुकरण की प्रेरणा प्राप्त करते हैं। सुगठित दिनचर्या व हर बात की सुव्यवस्था के कारण वर्ग के शिक्षार्थी के मन पर व्यवस्थाप्रियता व अनुशासन का संस्कार सहज रीति से होता है।

संघ के इन वर्गों का एक और वैशिष्ट्य है– शिक्षार्थी तथा शिक्षकों का एकत्रित निवास। शिक्षक और शिक्षार्थी एक साथ एक ही कक्ष में रहते हैं, जिसके कारण परस्पर आत्मीयता के धरातल पर औपचारिक के साथ अनौपचारिक शिक्षण का वायुमंडल विकसित होता है। केवल शिक्षक ही नहीं, वरिष्ठ अधिकारी भी अपने प्रवास के समय वर्ग में ही ठहरते हैं तथा स्वयंसेवक उनसे अनौपचारिक रूप से भी मिलते हैं।

आज के इस भौतिकता-प्रधान युग की स्वार्थांधता में यह अद्‌भुत ही है कि शिक्षार्थी संघ शिक्षा वर्गों में आने-जाने तथा भोजनादि के सभी खर्चे स्वयं वहन करते हैं। इतना ही नहीं, शिविरों में अनिवार्य गणवेष की व्यवस्था भी शिक्षार्थी अपने ही खर्चे पर करते हैं। विभिन्न प्रकार की प्रशिक्षण-विधाओं के शिक्षक एवं वर्गों की विविध व्यवस्थाओं का प्रबंध व संचालन करनेवाले स्वयंसेवक भी अपने सारे खर्चे स्वयं ही वहन करते हैं। सभी को वर्ग में पूरा समय वहीं रहना होता है, इसलिए दैनिक उपयोग में काम आनेवाली वस्तुओं का विक्रयकेंद्र (वस्तुभंडार), नाई, मोची आदि की सभी व्यवस्थाएँ वर्ग में ही उचित मूल्य पर की जाती हैं। समाज जीवन के सभी वर्गों के बंधु– विद्यार्थी, कृषक, मजदूर, दुकानदार, अध्यापक, प्राध्यापक, वकील, इंजीनियर, डाक्टर, उद्योगकर्मी आदि सभी अंचलों– नगर, ग्राम, वनांचल, पर्वतांचल, झुग्गी-झोंपड़ी आदि से शिक्षण हेतु आते हैं।

तृतीय वर्ष के लिए जब स्वयंसेवक नागपुर जाते थे, तो प्रारंभ में वहाँ भिन्न-भिन्न विद्यालयों या छात्रावासों में रहना पड़ता था। बाद में विचार बना कि स्मृतिमंदिर के पास ही एक भवन का निर्माण किया जाए। इस निमित्त देश-भर में संघ शिक्षा वर्ग के शिक्षार्थियों द्वारा 'श्रद्धानिधि' के रूप में किए गए धनार्पण से भवन-निर्माण किया गया है, जिसमें आजकल तृतीय वर्ष का वर्ग लगता है।

वर्गों की रचना, व्यवस्था, परंपरादि के कारण स्वयंसेवक के मानस पर समाजभाव, अर्थात् समरसता का संस्कार होता है। सभी के लिए आवास, स्नानादि की समान व्यवस्था; सभी के लिए समान भोजन, किसी प्रकार के अलग 'ऑफीसर्स मेस' जैसी व्यवस्था नहीं; सभी तथाकथित भेदों को एक किनारे कर, सबका एक ही धरातल पर बैठकर भोजन करना आदि रचनाओं का और अन्य संस्कार भला क्या हो सकता है? समरसता की यह अनुभूति संघ-संस्कारों की विशेष थाती है।

नागपुर के तृतीय वर्ष के वर्ग में तो एक और विशिष्ट संस्कार होता है– 'अखिल भारतीय मानस की अनुभूति'। वहाँ सभी की आवास-व्यवस्था शारीरिक कार्यक्रमों के प्रशिक्षण के निमित्त बनाए गए गणों के अनुसार की जाती है, जिसके कारण एक ही कक्ष में १५-१६ प्रांतों के स्वयंसेवक साथ-साथ रहते हैं। अनुभव आता है कि एक-दूसरे की भाषा न जानते हुए भी वे कुछ ही दिनों में परस्पर मिली-जुली भाषा में बातें करते हैं, एक-दूसरे को समझते हैं। बिना किसी विशेष प्रयास या आह्वान के अन्यान्य भाषाओं

के अनेक शब्दों, वाक्यों को सीखने की होड़ मच जाती है। सभी कार्यकर्ता यह अनुभूति सहज ग्रहण करते हैं कि सारा भारत मेरा है। एक कक्ष में मानो महीने-भर तक सारा भारत रहता है।

प्रारंभिक दिनों में इन वर्गों के लिए मुख्यशिक्षक नागपुर से ही जाते थे। अलग जलवायु, परिवेश व वायुमंडल में भी स्वयं को वहाँ के अनुसार ढाललेने के नागपुर के इन कार्यकर्ताओं के उदाहरणों के कारण एक ओर तो संगठन की सूत्रबद्धता के लिए आवश्यक एकरूपता विकसित हुई, साथ ही कार्यकर्ता का कार्य के लिए कैसे भी क्षेत्र, कैसी भी जलवायु में जाने का मानस बना। धीरे-धीरे सभी प्रांतों में वर्गों की सभी व्यवस्थाएँ स्वयं सँभालने में सक्षम कार्यकर्ता खड़े हुए है। आज सर्वत्र स्वावलंबी, किंतु उसी एक संघभाव के प्रकटीकरण व शिक्षण का कार्य खड़ा हो सका है। संघ की संपूर्ण कार्यपद्धति का 'क्रमिक विकसन (progressive unfoldment)' हुआ है। प्रचलित अंग्रेजी आज्ञाओं को संस्कृत में तथा घोष (बैंड) की रचनाओं को भारतीय रागों पर आधारित रचनाओं में बदलना भी स्वाभिमान व स्वावलंबिता का ही प्रयोग है। संघ कार्यकर्ताओं में संघशः तथा व्यक्तिशः — दोनों ही रूप में स्वयंपूर्णता व स्वावलंबिता का संस्कार भी इसी प्रक्रिया से विकसित हुआ है।

इन वर्गों के कारण संघ को ऐसे कार्यकर्ता प्राप्त हुए हैं, जिन्हें संघ के तृतीय सरसंघचालक श्री बालासाहब देवरस ने 'देव-दुर्लभ' कहा था। इन कार्यकर्ताओं ने अपने विलक्षण संस्कारों के कीर्तिमान अपने कर्तृत्व से स्थापित किए हैं, जो आश्चर्य ही नही, बहुतों के लिए तो ईर्ष्या के कारण भी बने हैं।

श्री गुरुजी देश-भर के सभी वर्गों में जाते थे और सामान्यतः प्रत्येक वर्ग में चार-पाँच दिन ठहरते थे। वहाँ उनका केवल भाषण ही नहीं होता था। वे वर्ग में आए हुए स्वयंसेवकों के साथ परिचयात्मक बैठकों के अतिरिक्त प्रत्येक शिक्षार्थी के साथ थोड़ी-बहुत अनौपचारिक व्यक्तिगत वार्ता भी करते थे। दोनों समय के संघस्थान पर उपस्थित रहकर स्वयंसेवकों का सूक्ष्म अवलोकन भी उनका कार्य रहता था। श्री गृरुजी की अनौपचारिक वार्ताएँ भी बहुत उद्‌बोधक तथा उनकी अद्‌भुत स्मरणशक्ति का भान करानेवाली होती थीं।

—संपादक

ि ि ि

शब्द संकेत : खंड ४

खंड ७ : पत्राचार

संतवृंद, विदेशस्थ बंधु, नेतागण, अन्य मतानुयायी, माता, भगिनि, प्रबुद्ध जन तथा सामाजिक संस्थाओं के कार्यकर्ताओं को लिखे पत्र।

खंड ८ : पत्र-संवाद

स्वयंसेवकों व कार्यकर्ताओं को लिखे पत्र।

खंड ९ : भेंटवार्ता

प्रश्नोत्तर, वार्तालाप, प्रमुख लोगों से वार्तालाप। पत्रकारों के सम्मुख भाषण। महत्त्वपूर्ण भेंट तथा अनौपचारिक चर्चाएँ।

खंड १० : संघर्ष के प्रवाह में

प्रतिबंध के समय सरकार से हुआ पत्राचार। उस समय दिये गए वक्तव्य। आभार प्रदर्शन। बाद के अभिनंदन समारोह। भारत–चीन व भारत–पाकिस्तान युद्ध के समय की जनसभाएँ, बैठकें, शिविर, पत्रकार वार्ता तथा वक्तव्य।

खंड ११ : चिंतन-सुधा

संपादित विचार नवनीत

खंड १२ : स्मरणांजलि

श्री गुरुजी के बारे में महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों, संसद व विधानसभा तथा समाचार–पत्रों द्वारा श्रद्धांजलि।

डा. हेडगेवार स्मारक समिति, नागपुर